मार्च 2014 ₹ 20

आजकल

1945 से प्रकाशित

विशेषांक

साहित्य और संस्कृति का मासिक





स्त्री लेखन और समाज

सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

अकेले तो यह देश बना नहीं है,
हमने एक-दूसरे का साथ दिया,
तभी तो बना यह भारत।



कुछ यूं ही हमने मिलकर बढ़ाया,
देश को तरक्की की राह पर,
तो क्यूं न कहें, हम सबने मिलकर
बनाया यह भारत।

65वां गणतंत्र दिवस

davp 22202/13/0100/1314

AH-255/2013

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 69; अंक : 11; पूर्णांक : 833
मार्च 2014; फाल्गुन-चैत्र 1935-36

वरिष्ठ संपादक
राजेन्द्र भट्ट

संपादक
फरहत परवीन

आवरण सज्जा : **निशांत पटेल**

आवरण : **गोगी सरोज पाल की पेंटिंग**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ई-मेल : ajkalhindi@gmail.com

website :
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 100 रुपये; दो वर्ष: 180 रुपये; तीन वर्ष : 250 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रुपये
शेष विश्व : 730 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
सूर्यकांत शर्मा
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066
फ़ोन : 26100207
ई-मेल : pdjucir@gmail.com

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

पृष्ठ 1-92

लेख

5.	वह भारतीय कविता का अंबेडकर था	**विष्णु खरे**
8.	महाविद्रोही पैंथर नामदेव ढसाल	**विमल थोरात**
9.	बची रहेंगी मोहिनी छवि की मर्मभरी स्मृतियां	**प्रयाग शुक्ल**
11.	मुक्ति की अवधारणा का नाम है 'नवनारीवाद'	**कृष्णदत्त पालीवाल**
15.	स्त्री की रचनात्मकता : कल, आज और कल	**मृदुला गर्ग**
18.	स्त्री-विमर्श और वस्तु स्थिति	**कानन झींगन**
20.	नारी चेतना के विविध पक्ष और कथा साहित्य	**चंद्रकांता**
24.	सदी संधि पर स्त्री और हिंदी उपन्यास	**जितेन्द्र वीर कालरा**
27.	सुनाओ अब ऐसी कहानी शरज़ाद!	**नासिरा शर्मा**
31.	स्त्री-विमर्श के पुरोधा चलम्	**जे. एल. रेड्डी**
36.	प्रगतिशील आंदोलन की नींव का पत्थर	**सुरेश सलिल**
40.	हिंदी दलित साहित्य में गूंजते नारी मुक्ति के प्रश्न	**रजत रानी मीनू**
46.	जनजातियों का वसंतोत्सव है सरहुल	**कुमार कृष्णन**
48.	गांव की बेटी, सबकी बेटी	**मृदुला सिन्हा**
50.	मैं क्यों और कैसे लिखती हूं?	**क़ुर्रतुलऐन हैदर**
53.	स्त्री-विमर्श को फ़ार्मूला-विमर्श न बनाएं (चित्रा मुद्गल से साक्षात्कार)	**इम्तियाज़ अहमद आज़ाद**
55.	धर्मशास्त्र एवं वर्तमान समाज में नारी की स्थिति	**नाहीद आबिदी**
57.	जाना हिंदी कविता की एक बड़ी संभावना का	**त्रिनेत्र जोशी**
58.	नारी के अंतरंग और बहिरंग की विश्लेषक	**चम्पा श्रीवास्तव**
61.	'एक अज्ञात हिंदू औरत' का स्त्री चिंतन	**सुरेश कुमार**
64.	स्त्रियों की भाषा और मन्नू भंडारी का कथा साहित्य	**कल्पना शर्मा**
66.	स्त्री को देवी न बनाएं (क्षमा शर्मा से साक्षात्कार)	**दिनेश चमोला 'शैलेश'**
69.	समय के साज़ पर अस्मिता के स्वर	**अजयशंकर मिश्र**
73.	आकृतियां स्वतःस्फूर्त तरीके से जन्म लेती हैं (गोगी सरोज पाल से साक्षात्कार)	**भुनेश्वर भास्कर**
78.	घर से होगी शुरुआत (मालिनी अवस्थी से साक्षात्कार)	**रेणु खंतवाल**
81.	सामाजिक मूल्यों से स्त्री का अंतर्द्वंद्व	**विभावरी**
84.	घर बचाने की जद्दोजहद	**शशांक दुबे**
	कहानी	
28.	डेथ विल नॉट पार्ट अस	**उषा वर्मा**
	कविता/गीत	
4.	कविता	**मधु पंत**
10.	दो कविताएं	**शशिकला त्रिपाठी**
30.	दो कविताएं	**श्रीनाथ सहाय**
44.	कविताएं	**रश्मि बड़थ्वाल**
60.	तीन कविताएं	**सुधा अरोड़ा**
68.	तीन गीत	**रजनी मोरवाल**
77.	गुजराती कविताएं	**यज्ञेश दवे**
80.	कविताएं	**हिमानी दीवान**
90.	कविताएं	**अशांत भोला**
91.	**समीक्षा**	

आवरण III : दो कविताएं : **नीलिमा सिन्हा**

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 33-22488030; **पटना :** बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवी मुंबई; दूरभाष : 9522-2757046/6; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष :040- 24605383, **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 044-24917673; **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश...

हम महिला दिवस मनाने की दूसरी सदी में पहुंच गए हैं। इस माह महिलाओं के सम्मान और गौरव को समर्पित अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस है। आदिकाल से ही नारी हमारी संस्कृति को प्रभावित कर रही है। आज इक्कीसवीं सदी की स्त्री ने स्वयं को पहचान लिया है, उसने अपने-आपको बहुत बदला है। अपनी कर्मठता, सहनशीलता एवं धैर्य का परिचय दे रही है। आज की महिलाएं पुरुषों के साथ मिलकर अपनी अस्मिता को एक नई गरिमा प्रदान कर रही हैं। महाभारत में भी कहा गया है-

'न गृहं गृहं गृहिणी गृहमुच्यते' अर्थात! ईंट और मिट्टी की दीवारों से बना घर नहीं होता। वास्तविक घर तो उस घर की अधिष्ठात्री गृहिणी ही होती है। मनुष्य योनि में स्त्री भी है और पुरुष भी। यदि इन दोनों में से एक भी न रहे तो मानवता का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है। नारी को प्रकृति का स्वरूप माना गया है। जहां एक ओर वह प्रकृति का प्रतीक है वहीं वह शाश्वत करुणा का भी प्रतीक है। साहित्य समय के अनुसार फलता-फूलता है और अपने चारों ओर फैली परिस्थितियों का भी शाब्दिक चित्रण करता है। नारी ने आधुनिक हिंदी साहित्य की विविध विधाओं–कथा, उपन्यास, कविताएं, नाटक-में अपना भरपूर योगदान दिया है। अपनी अनुभूतियों के साथ-साथ समाज की समस्या एवं समाज के विभिन्न वर्गों को ध्यान में रखकर हिंदी साहित्य को संवारा है। नारी चाहे ग्रामीण परिवेश की हो, या शहरी, काम-काजी, उसने विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत, अपनी निष्ठा और अथक परिश्रम का परिचय दिया है। आज की नारी दो पाटों के बीच रहकर भी संतुलित और समर्पित है। महिलाओं ने प्रत्येक काल में बहुत से उतार-चढ़ाव देखे हैं, यद्यपी महिलाएं चांद पर भी पहुंच चुकी हैं लेकिन समाज में महिलाओं को लेकर अब भी विषमता है। आज भूमंडलीकरण ने जहां हर व्यक्ति को एक नई पहचान दी है, वहीं उपभोक्तावाद तथा बाज़ारवाद को बढ़ावा मिला है। स्त्री भी इससे प्रभावित हुई है। उपभोक्ता संस्कृति ने स्त्रियों को एक चुनौती दी है। महिलाओं के सशक्तीकरण की सार्थकता तभी होगी जब उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार होगा। सिर्फ़ कानून बना देने से नारी मुक्ति आंदोलन सफल नहीं हो सकता। आवश्यकता है समाज की मानसिकता में सकारात्मक बदलाव की। सुमित्रा नंदन पंत के अनुसार–

मुक्त करो नारी को मानव, चिर बंदिनी नारी को
युग-युग की निर्मल धारा से, जननी सखी प्यारी को

प्रस्तुत अंक 'स्त्री लेखन और समाज' पर केंद्रित है। इस अंक में हिंदी साहित्य में स्त्रियों की दशा और दिशा के विभिन्न पक्षों को विस्तार से उठाया गया है।

मैं नापता हूं भूखी आंतों की लंबाई
उसका एक-एक टुकड़ा तोड़ कर बनाता हूं बांसुरी
दोस्तो, भूख का गाना होता है सुरीला
फिर सृष्टि की गतिविधियों का नहीं होता भय
पृथ्वी मेरे लिए होती है मेरी-गो-राउंड
और मैं होता हूं भागते हुए / घोड़े पर सवार
मेरे लिए दुनिया घूमती है चक्राकार
और टिमटिमाता उजाला / हो जाता है संपूर्ण धौला...

जैसी मार्मिक और तार्किक पंक्तियों के रचयिता दलित साहित्यकार नामदेव ढसाल हमारे बीच नहीं रहे। नामदेव ढसाल का न केवल मराठी साहित्य बल्कि देश-विदेश में दलित साहित्य में अविस्मरणीय योगदान है।

'देवदास' और 'आंधी' जैसी फिल्मों में विशिष्ट भूमिका निभाने वाली सुचित्रा सेन भी अब हमारे बीच नहीं रहीं। यद्यपि उन्होंने हिंदी में सिर्फ सात फिल्में की लेकिन बांग्ला सिनेमा में उनके ज़िक्र के बिना इतिहास नहीं लिखा जा सकेगा। उनकी शानदार अदाकारी, नैसर्गिक सौंदर्य ने दर्शकों पर अमिट छाप छोड़ी है। पदमश्री सम्मान सहित देश के कई विशिष्ट सम्मानों से अलंकृत सुचित्रा सेन को श्रद्धांजलि!

उल्लास और उमंग के साथ बहुरंगी लोकोत्सव होली का स्वागत है -

फूटे हैं आमों में बौर, भौंरे वन-वन टूटे हैं / होली मची ठौर-ठौर, सभी बंधन टूटे हैं

आइए! इस अवसर पर सौहार्द और सहिष्णुता के रंग में रंग जाएं!

पत्र



बेहतरीन शायर

● जन्मशताब्दी पर किसी भी साहित्यकार की स्मृति विशेषांकों के ज़रिए तो होती ही है। वैसे भी पाठक अपने प्रिय साहित्यकार को हमेशा ही याद रखता है। 'आजकल' पत्रिका ने नवंबर अंक अली सरदार जाफ़री जैसे एक ताबिंदा सितारे के योगदान को पाठकों तक पहुंचाकर एक बड़ा सार्थक योगदान किया है। विशेषांकों के द्वारा ही अनेक साहित्यकारों की संपूर्ण जानकारी पाठकों को प्राप्त होती है। यह एक सार्थक प्रयास है। अंक में आनंद स्वरूप श्रीवास्तव का आलेख बेहतरीन तथा समग्र जानकारी से ओतप्रोत है। अली सरदार जाफ़री प्रगतिशील आंदोलन के समय के एक ऐसे शायर थे जिनकी शायरी में मेहनतकशों, बच्चों, महिलाओं के चित्र उभरे तथा आज़ादी की आवाज़ मुखर हुई। अंक के सभी आलेख व संस्मरण सरदार जाफ़री के विषय में माकूल जानकारी देते हैं। अंतिम पृष्ठ पर उनकी दो नज़्में बेहतरीन और बार-बार पढ़े जाने योग्य हैं।

-मनीषा जैन, सैनिक फार्म, नई दिल्ली

उत्कृष्ट एवं बेजोड़

● पत्रिका में दिए गए सभी आलेख अपने-आप में उत्कृष्ट व बेजोड़ थे जो जाफ़री जी की साहित्यिक यात्रा का रोचक वर्णन कर रहे थे। सभी लेखकों को मेरी ओर से बधाई। जाफ़री जी की कहानी 'चेहरू मांझी' व 'ग़ज़लें' दिल को छू गईं। पुस्तक समीक्षा के तहत दी गई पुस्तकों की जानकारी लाभप्रद थी। पत्रिका में पिछले महीनों से दो नए स्तंभ- 'हमारे नए प्रकाशन', 'किताबों की प्रतियां प्राप्त हुईं', कई जानकारियां प्रदान करते हैं। कृपया इन्हें बंद न करें। 'वातायन' के तहत नई साहित्यिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है जो रोचक है।

-कृष्ण वीर सिंह, भोपाल (म.प्र.)

संस्मरण दिल छू गया

● अंक पढ़ा। अली सरदार जाफ़री पर केंद्रित अंक बड़ा ही रुचिकर, ज्ञानवर्द्धक व उत्प्रेरक लगा। करीब-करीब सभी लेख बड़े अच्छे लगे किंतु 'मेरा भाई' जाफ़री, 'मेरे हमदम मेरे दोस्त'- शौकत आज़मी, 'पत्नी सुल्ताना के नाम पत्र' व 'चेहरू मांझी' (कहानी) ने दिल को छू लिया। मन को मथ दिया। रचनाकारों को धन्यवाद। 'आजकल' का यह अंक संग्रहणीय और मूल्यवान है।

-नंद किशोर तिवारी, वाराणसी

ग़ज़ब की नज़्म

● मुख पृष्ठ पर अली सरदार जाफ़री की नज़्म 'हाथों का तराना' पढ़ने पर कई तरह के बिंब बनते हैं। यह आज के अराजक होते कविता के सर्जक को ज़रूर समझना चाहिए। यह पहली ऐसी कविता थी, जिसने मज़दूर को इतनी अज़मत और ऊंचाई दी-'है ज़ख़्म हमारे हाथों के, ये फूल जो हैं गुलदानों में/ इन हाथों की ताज़ीम करो... ग़ज़ब की नज़्म है। मेरा नसीब की यह नज़्म उनको पढ़ते हुए कलकत्ते में सुना है। शमीम फ़ैज़ी ने सबसे हटकर जाफ़री साहब को परखा है, यह उनका अंदाज़ है। वे प्रभाव में आकर सब कुछ नहीं कहते, यह सच है कि अली सरदार जाफ़री नज़्मों व शायरी के लिए जाने जाते हैं किंतु उन्होंने कहानियां भी लिखी हैं और कुछ महत्त्वपूर्ण कहानी लाजवाब हैं। उन्होंने कुछ ख़ास कवियों, शायरों की जीवनी का संपादन किया जिसमें मीर तक़ी मीर की जीवनी प्रसिद्ध है। मसूर की दाल और बासमती भात के रसिया सरदार जाफ़री वाक़ई साहित्य के फुलटाइमर थे।

-सरोज ख़ान बातिश, कलकत्ता

उत्कृष्ट एवं बेजोड़

● 'आजकल' का नवंबर 2013 अंक अली सरदार जाफ़री पर केंद्रित वाक़ई संग्रहणीय है। शौकत आज़मी की बेबाक बात दिल को छू गई। ... ग़ज़लें, नज़्में भी पसंद आईं। इस पत्रिका में चुभते कार्टून (व्यंग्यात्मक) प्रकाशित करने की मेहरबानी करें।

-आबिद मजीद इराक़ी, जहानाबाद

चिट्ठियों में अपनापन

● 'आजकल' के नवंबर 2013 अंक में प्रकाशित 'पत्नी सुलताना के नाम पत्र' जो 15 अलग-अलग तिथियों के हैं, पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अली सरदार जाफ़री के लिखे ये पत्र उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर और भी क़रीब से उन्हें, उनके व्यक्तित्व को जानने का आनंद देते हैं।

अक्सर मैं सोचता हूं कि चिट्ठियां या पत्र लिखना और लिखकर अपनी बातें कहना कितनी अच्छी चीज़ है। इसमें कितना अपनापन झलकता है! पर इन दिनों हम लोग एकदम से ही पत्र लिखना तो क्या लिखना ही भूलते जा रहे हैं। हम किस ओर जा रहे हैं? जाफ़री साहब की मानें तो दिल पर जो गुज़रती है, उसके लिए दिल ही ज़बान तलाश करता है और दिल से जो बात निकलती है, असर रखती है।'

-बासिल किड़ो, रांची (झारखंड)

जाफ़री साहित्य का स्मारक दस्तावेज़

● 'आजकल' साहित्य-संस्कृति की महाविभूतियों पर केंद्रित विशेषांक बराबर निकालता रहा है। विशेषांकों की परंपरा में प्रस्तुत अली सरदार जाफ़री पर केंद्रित अंक एक उल्लेखनीय अंक बन पड़ा है। उनकी जन्म शताब्दी इससे सचमुच स्मरणीय बन गई है। उनके साहित्य-कहानी, ग़ज़लें और नज़्मों की एक बांकी झांकी यहां सजाई गई है, इसके बहाने। समीक्षात्मक लेखों-आलेखों के बहाने उनकी शख़्सियत, उनकी रचनात्मकता यहां प्रतिबिम्बित है। उनकी शायरी की एक प्रतिनिधि तस्वीर 'प्रसंगवश' में भी हो गई है जहां उनके लेखन के इतिहास पर भी एक सारग्राही नज़र डाली गई है। आनंद स्वरूप श्रीवास्तव ने उनकी 'शायरी की वस्तु-शिल्प को मनहरता से आरेखा है। जाफ़री साहब प्रगतिशील लेखन के पक्षधर थे। प्रगतिशील लेखन के पचास सालों के इतिहास को उन्होंने अपनी 'तरक्कीपसंद अदब' में बखूबी पेश किया है। अनवारूल हक़ ने इस पर प्रकाश डालकर साहित्यप्रेमियों का उपकार किया है। जानकी प्रसाद शर्मा ने उनके आलोचना-कर्म को यथार्थविज्ञापिनी दृष्टि से रेखांकित किया है। संस्मरणों में उनकी ख़ूबियों को मधुरता से याद किया गया है।

-गौरीशंकर पाण्डेय 'अरविन्द', फ़ैज़ाबाद

कविता : **मधु पंत**

'ना' की वर्जना 'नारी'



पुरुष ने कहा-
'ना' तू सिर उठाना
ना ही आवाज़ उठाना
सहते जाना, सहते जाना
पर आंसू 'ना' बहाना।

क्योंकि तू मेरी आराध्य देवी है
इसलिए 'ना' आक्रोश दिखाना
'ना' आवेश में आना
'ना' मन में रोष लाना
'ना' मुझमें दोष पाना
'ना' विद्रोह करना
'ना' मन में बोझ धरना
'ना' आगे क़दम बढ़ाना
'ना' कोई निर्णय लेना
'ना' किसी अधिकार की करना कामना
'ना' किसी व्यवहार की करना चाहना
'ना' ही करना अपनी शक्ति का प्रयोग
क्योंकि वह होगा मात्र दुरुपयोग

तेरी मधुरता ही तेरा सौंदर्य है-
इसी सौंदर्य का मैं पिपासु हूं,
तेरी इसी मूर्ति के प्रति जिज्ञासु हूं
अतः 'ना' होना कठोर
'ना' करना शोर
चाहे संकट क्यों न हो घोर
टीस सी मारती हो हर पोर

पर चूं तक भी न करना,
क्योंकि एक धीमी आवाज़ भी कर डालेगी
तेरी वर्जना
तू मेरी लक्ष्मी है-
इसलिए 'ना' करना धन की कामना

'ना' किसी वस्तु की चाहना
'ना' रहना अतृप्त
'ना' ही किसी भोग में लिप्त
और इस तरह 'ना' की ढेरों
वर्जनाओं के घेरों से,
बांध कर नाम दिया 'नारी'
और 'ना' के घरों में बंधी
मुस्कुराती रही 'नारी'

सदियों तक नारी 'ना' की
सारी वर्जनाओं के बीच
सुलग-सुलग कर टिमटिमाती रही
मिट-मिट कर लुभाती रही

शील, क्षमा, धैर्य की देवी बन इतराती रही,
क़तरा क़तरा बिखराती रही
दे दिया गया नारी को देवत्व का सिंहासन
और होता रहा नारी का शोषन
जीते हुए भी जीवन का दहन
कर्त्तव्य और धर्म की वेदी पर तर्पण

अनायास एक दिन-
नारी ने एक निर्णय लिया
अपने नाम की परिभाषा को पलटने का
पुरुष की दी हुई भाषा को बदलने का
शायद पहली बार
उसकी आत्मा ने उसे कोंचा था
उसने अपने बारे में कुछ सोचा था
उसने निर्णय लिया 'ना' की वर्जनाओं को
काटने का
और यह पहला क़दम था-
नारी-पुरुष की खाई पाटने का

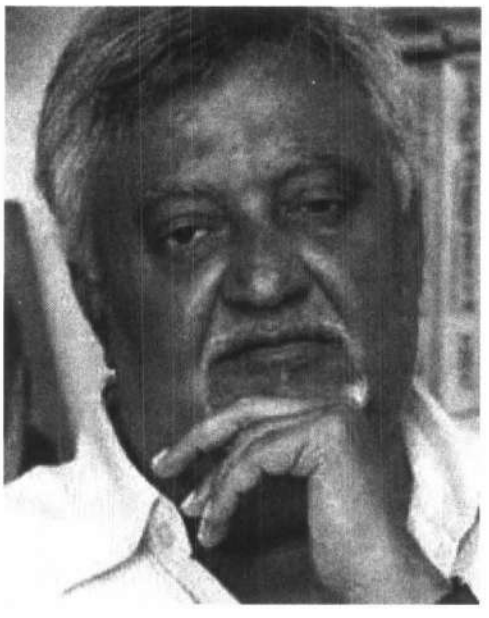
उसने आहत होने पर भी संयत होकर
निश्चय किया
कि वह आत्म संयत से मर्यादित होकर
'ना' ही दबाव से बाधित होकर,
'ना' की उन सारी वर्जनाओं को काटेगी
जो उसके विकास प्रक्रम में बाधक हैं
उसके स्वतः प्रवाह की अवरोधक हैं
और स्वेच्छा से मुस्कराकर
जागृति का गीत गाकर
उसने अपने-आपको कहा- 'नारी'
अनुचित 'ना' की
वर्जना करने वाली 'नारी'।

संपर्क : 104, पॉकेट-ए, माउंट कैलाश, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-110065

वह भारतीय कविता का अंबेडकर था

विष्णु खरे

हिंदी साहित्य में पिछले कुछ दशकों से एक चिंतनीय रुझान देखा जा रहा है। पहले कभी भारतीय साहित्यों से हिंदी में विशेषतः उपन्यासों-कहानियों के अनुवाद अपेक्षाकृत पर्याप्त हुआ करते थे, लेकिन अब वर्षों बीत जाते हैं, (उदाहरणार्थ) कोई गुजराती, कन्नड़, असमिया या कश्मीरी कृति दिखाई नहीं देती। कविता के अनुवाद पहले भी कम आते थे, अब तो शायद एकदम नदारद हैं। अंतर्जाल-विस्फोट का एक अजीब 'फाल-आउट' यह हुआ है कि एक हीन मानसिकता से ग्रस्त हिंदी की अधिकांश युवा पीढ़ी अंग्रेजी के माध्यम से, जिसे वह बहुत कम जानती है लेकिन खुशफ़हमी में घर की मुर्गी समझती है, विदेशी कविता का गलत-सलत अनुवाद कर रही है और इस प्रक्रिया में अपनी ही भाषाओं-साहित्यों को सीखने-जानने से चमड़ी बचा रही है। उधर साहित्य अकादेमी के अधिकांश अनुवाद अपाठ्य और अप्राप्य होने के लिए कुख्यात हैं। ऐसे में जब मराठी कविता का नामदेव ढसाळ सरीखा वट-वृक्ष गिरता है तो हिंदी में जान-बूझकर उसकी बधिरकारी धमक सुनने से इन्कार किया जाता है।



एक विडंबना यह भी है कि हिंदी के कई छद्म-वामपंथी नामदेव को कभी इंदिरा गांधी, कभी हिन्दुत्ववादियों का समर्थक कहकर उसकी कविता को ही नकारते रहे जबकि यही आत्मपावन गिरोह स्वयं को जनवादी आदि बताकर एक तरफ अत्यंत संदिग्ध, प्रतिक्रियावादी, राजनीतिक माफिआ मालिकों या अन्य सूत्रों से अपने हलवे-मांडे कमाता रहा है और दूसरी तरफ मनुस्मृति-सम्मत पद्धतियों से अपनी जातियों-उपजातियों-गोत्रों-खापों में ही लेन-देन सहित अपने और अपनी संतानों के पाणिग्रहण-संस्कार करवाता हुआ समूचे सवर्णवाद में एक मुफ़ीद ज़िंदगी गुज़ार रहा है। इनके संघों और मंचों ने नामदेव के लिए शायद ही कोई शोक-प्रस्ताव पारित किया हो। उधर सारे महाराष्ट्र में नामदेव पर सैकड़ों सभाएं हो चुकी हैं और यह सिलसिला अब तक थमा नहीं है।

समूचे उत्तर-भारत में निराला, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि कवियों की कोई लोकप्रियता या कद्र नहीं हैं इसमें इन कवियों का कोई कुसूर नहीं है जबकि, काश, जन-कविता का फूटा ढोल पीटकर कवियों का भयादोहन करने की नाकामयाब कोशिश में मुब्तिला हिंदीवाले आकर देख पाते कि नामदेव ढसाळ की शवयात्रा में किस गरिमामय विषाद के साथ उनके साठ हजार प्रशंसक और अनुयायी पैदल शामिल हुए थे, मुंबई का ट्रैफिक रेंगने लगा था।

कहा जा सकता है कि नामदेव ढसाळ आधुनिक भारतीय कविता का सर्वाधिक विवादास्पद हस्ताक्षर था। 1960 के दशक की बांग्ला कविता की 'भूखी पीढ़ी' के संस्थापक मलय राय चौधुरी से भी कहीं अधिक। यह दिलचस्प है कि अपनी फॉर्मूलाबद्धता के कारण भारतीय स्तर पर असफल हो चुके प्रगतिशील कविता आंदोलन के बाद देश के दो परस्पर सुदूर किंतु प्रबुद्ध कोनों से जो दो नए काव्यांदोलन उभरे वे दोनों अलग-अलग अमरीकी आंदोलनों से प्रेरित थे।

मलय राय चौधुरी (तथा उनके प्रमुख साथी शक्ति चट्टोपाध्याय, समीर राय चौधुरी और देवी राय) अंततः बांग्ला सवर्ण भद्रलोक से ही थे और एलेन गिन्सबर्ग आदि की 'बीट' कविता के निकट थे, जबकि नामदेव और उसके साथी, जो 'दैवयत्तम् तु कुलेजन्मम्' मराठा दलित वर्गों से थे , अमेरिका के 'दलित' अश्वेतों के कम साहित्यिक किन्तु राजनीतिक रूप से अधिक आक्रामक, अतिवामपंथी और मुखर 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन से। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि मलय बिहार में अपनी जड़ों के कारण वहां के दलितों और (शिया) मुस्लिमों के गहन संपर्क में आए थे और उनके आक्रोश में इन शोषित बिरादरियों के संघर्षों का भी योगदान था। 'भूखी पीढ़ी' आंदोलन सिर्फ चार वर्ष (1961-65) खिंच पाया और कभी अपनी कविता के लिए जेल भेजे गए मलय राय चौधुरी अब येन-केन प्रकारेण आधुनिक बांग्ला कविता की मुख्यधारा में स्वीकृति प्राप्त कर चुके हैं जबकि नामदेव का त्रिमुखी साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दलित आन्दोलन मराठी और महाराष्ट्र की सीमाएं लांघता हुआ अखिल भारतीय स्तर पर पुरअसर, जीवंत, सक्रिय और प्रासंगिक बना हुआ है और रहेगा।

नामदेव के मुझ-जैसे मित्रों के लिए उसे 'नाम्या' के अलावा किसी और नाम से याद करना या पुकारना असंभव है। मराठी में मित्रों के बीच एक-दूसरे को इस तरह के छोटे नाम और 'अरे-तुरे' की परम्परा है आप कितने ही बुजुर्ग क्यों न हो जाएं। मेरे और उसके संबंध, जो चंद्रकांत पाटील और दिलीप चित्रे के कारण 1970 के दशक में शुरू हुए, अब तक चले आए थे। दो वर्ष पहले दिल्ली के विश्व पुस्तक मेले में वह स्वयं नहीं आ सका था लेकिन उसने मुझसे

चंद्रकांत पाटील द्वारा किए गए अपने हिंदी अनुवादों के संकलन 'आक्रोश का कोरस' के लोकार्पण करने के लिए कहा था, जिसमें मंगलेश डबराल भी उसकी कविताओं पर बोले थे और अभी चार-पांच महीने पहले उसने चंद्रकांत पाटील द्वारा ही अनूदित मेरी हिंदी कविताओं के मराठी अनुवाद-संकलन का मुम्बई में विमोचन किया था। किसी सार्वजनिक समारोह में शायद उसकी यह अंतिम हिस्सेदारी थी। वह पहियाकुर्सी पर बहुत मुश्किल से सभागार में आ सका था, भरोसा नहीं था कि आएगा भी या नहीं, लेकिन वह बोलने की हैरतअंगेज़ तैयारी कर के आया था और किसी तरह अंत तक बैठा रहा।

नाम्या एक अत्यंत विपन्न और विपदाग्रस्त परिवार से था और उसका जन्म भी मुंबई के बदनाम चकला-मोहल्ले 'गोलपीठा' में हुआ था। इसलिए महानगर के अनिर्वचनीय, घिनौने, भयानक अनुभव उसे बचपन से ही हो चुके थे। उसकी कविता की सारी जड़ें गोलपीठा में ही हैं इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उसके पहले संग्रह का शीर्षक वहीं से है और उसकी सारी कविताएं वहीं से हैं। 'गोलपीठा' ने भाषा और अभिव्यक्ति के अपने दलित दुस्साहस और धृष्टताओं से महाराष्ट्रीयपंक्तिपावन बूर्ज्वा वर्जनाओं और मध्यवर्गीय ड्राइंगरूम-संस्कृति को यकबारगी तहस-नहस कर दिया। बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर के व्यक्तित्व ने तब तक सारी दलित अस्मिता को बदल डाला था और हालांकि यह ठीक-ठीक पता नहीं चलता है कि नाम्या को कविता लिखने की प्रेरणा कब-कहां से मिली और कौन-से मराठी-भारतीय-विदेशी कवि उसने पढ़ लिए थे लेकिन 'गोलपिठा' ('गोलपीठा', 1971) मराठी में एक ज्वालामुखी की तरह फटा और उसने मराठी कविता को हमेशा के लिए बदलकर रख दिया।

हिंदी में शायद मुक्तिबोध के 'चांद का मुंह टेढ़ा है' (1964) और रघुवीर सहाय के 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) को ही उसके समकक्ष रखा जा सकता है। 'गोलपीठा' के बाद उसके 'मूर्ख म्हातार्याने डोंगर हलवले' ('मूर्ख बूढ़े ने पहाड़ों को हिला दिया', 1973),' आमच्या इतिहासातील एक अपरिहार्य पात्र' ('अपने इतिहास का एक अपरिहार्य पात्र', इंदिरा गांधी पर कविता, 1976), 'तुही इयत्ता कन्ची ? तुही इयत्ता...'('तू कौनसी में पढ़ता है ? कौनसी ।..', 1981) 'गांडू बगीचा'('गांदू बगीचा',1986), 'या सत्तेत जी रमत नाही' ('इस सत्ता में जी नहीं लगता',1995), 'मी मारले सूर्याच्या रथाचे सात घोड़े' ('मैंने मारे सूर्य के रथ के सात घोड़े', 2005) तथा 'निर्वाणाअगोदरची पीडा ('निर्वाण के पहले की पीड़ा', 2010) शीर्षक आठ संग्रह और आए जो लगातार मराठी कविता को उद्वेलित करते रहे। उसका कवि इतना प्रखर और विराट था कि लोग भूल जाते हैं कि उसने दो उपन्यास भी लिखे थे और दलित-साहित्यिक चिंतनपरक उसके लेखों के चार संकलन प्रकाशित हैं। अभी भी उसकी अनेक रचनाएं अप्रकाशित और असंग्रहीत हैं। वह इतनी बार मौत के मुंह से लौटा था कि उसके मित्र इस बार भी आश्वस्त थे कि आता ही होगा। जीवन के अंतिम दिन तक वह अस्पताल के बिस्तर पर लेटा हुआ कविता लिख रहा था।

नामदेव की कविता ने, अपने महान पूर्वज दलित-संत नामदेव की तरह, मराठी भाषा, कविता (और अन्य विधाओं) को तो बदला ही, अपनी दलित बिरादरी को अपूर्व नेतृत्व, आत्मविश्वास, साहस और गरिमा से समृद्ध किया। उसने गैर-दलित साहित्यिक प्रतिष्ठानों को विवश किया कि उसके जैसी कविता को ही समसामयिक मराठी की मुख्यधारा मान लिया जाए। बीसियों श्रेष्ठ दलित कवि, गल्पकार, नाटककार और आलोचक उससे प्रेरित हुए और हो रहे हैं। नाम्या अपने जीवन-काल में ही ऐसा क्लैसिक बन गया जिसका महत्व मराठी से बाहर भी बढ़ता गया। भारतीय दलित साहित्य ने देश में ही नहीं,विश्व-स्तर पर जो प्रतिष्ठा और अनिवार्य स्वीकृति अर्जित की है, उसके केंद्र में नामदेव ढसाळ है।

चंद्रकांत पाटील और दिलीप चित्रे जैसे उसके गैर-दलित समकालीन मित्रों ने यह शुरुआत में ही पहचान लिया था। पाटील ने उसके प्रारम्भिक अनुवाद हिंदी में किए और करीब पैंतीस वर्ष पहले ग्वालियर में सुदीप बनर्जी द्वारा आयोजित हिंदी की ऐतिहासिक पहली दलित साहित्य संगोष्ठी में नाम्या, दया पवार, राजा ढाले, भुजंग मेश्राम जैसे नाम छाये रहे। उधर दिलीप चित्रे यूरोप, विशेषतः जर्मनी, को नामदेव और दलित साहित्य से परिचित करवाने में आजीवन जुटा रहा। इसमें हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक-द्वय ग्युन्टर जोंठाइमर तथा लोठार लुत्से और म्यूनिख के फिल्मकार-फोटोग्राफर हेनिंग श्टेगम्युलर ने क्रमशः अपने अनुवादों और चित्र-पुस्तकों के माध्यम से महत्वपूर्ण भूमिका निबाही।

यूरोप में जिन समसामयिक कवियों को विशेष स्वीकृति मिली है उनमें नामदेव अन्यतम है। दिलीप चित्रे का तो मानना था कि यदि भारत से किसी कवि को नोबेल पुरस्कार मिलना चाहिए तो एकमात्र नामदेव ढसाळ को। यदि उसके अनुवाद कुछ और यूरोपीय भाषाओं में हो जाते तो शायद वह संभव भी था। स्वयं मेरी धारणा यह है कि आज के भारत में सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से रवींद्रनाथ ठाकुर से कहीं बड़ा, प्रासंगिक कवि नामदेव है।

नाम्या सौभाग्यशाली था कि मराठी के लोक-शायर अमर शेख की बेटी मल्लिका सरीखी स्वयंसिद्धा कवयित्री ने उससे प्रेम और विवाह किया किन्तु राजनीतिक विवादों ने अधिकांश जीवन में उसकी बीमारी की तरह उसका पीछा नहीं छोड़ा। कभी वह राममनोहर लोहिया का अनुयायी रहा, कभी उसने मार्क्सवाद को अपनाया, कभी संपूर्ण क्रान्ति का अनुसरण किया, फिर श्रीकांत वर्मा से प्रभावित होकर इंदिरा गांधी की भक्ति में कविताएं लिख डालीं और जीवन के अंतिम वर्षों में कथित रूप से भौतिक प्रलोभनों के चलते उसने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और शिव सेना की संगति में पड़कर उसने अपने कई मित्रों को निराश और अलफ कर दिया। कहना मुश्किल है कि उसने यह सब अपनी राजनीतिक अपरिपक्वता में किया या किसी सोची-समझी निजी दलित रणनीति के तहत, लेकिन यदि यह उसकी दिग्भ्रमित, नासमझ अवसरवादिता ही थी तो भी इसका कोई भी कुप्रभाव उसकी कविता पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसे साहित्य अकादेमी के एक विशेष स्वर्ण-जयंती जीवनोपलब्धि पुरस्कार के साथ-साथ कविता के लिए अनेक सम्मान और पुरस्कार मिले जिनका वह वाकई अधिकारी था।

हिंदी कवियों में उसके कई मित्र थे जिनमें शायद चंद्रकांत देवताले अन्यतम हैं। यह कहना कठिन है कि हिंदी की दलित कविता ने उससे कितना सीखा है किंतु हिंदी के जो गैर-दलित कवि आज 60 से 70 वर्षों की उम्र के हैं उनके लिए नाम्या समस्यामूलक मित्रवत् या भ्रातृवत् रहा है। अभी नामदेव ढसाळ के जीवन और लेखन का काम पूरा नहीं हुआ है बल्कि उसकी उपस्थिति अब भी जीवंत और सक्रिय है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने दक्षिण-एशियाई साहित्य को स्थायी रूप से प्रभावित किया है। दलित साहित्य के लिए उसने जितना किया है उसे देखते हुए उसे उसके तमाम अंतर्विरोधों और अतिवादों के बावजूद निस्संकोच भारतीय साहित्य का बाबा साहेब अंबेडकर कहा जा सकता है।

नामदेव ढसाळ की पांच कविताएं

यह सारे अनुवाद मूल मराठी से चंद्रकांत पाटील द्वारा किए गए हैं जिनका चयन करते समय विष्णु खरे ने कहीं-कहीं कुछ सुझाव दिए थे। पूरा अनुवाद-संग्रह 'आक्रोश का कोरस' शीर्षक से येशू पाटील द्वारा shabdbooks@gmail.com से प्रकाशित किया गया है, जिनका आभार।

खून में धधकते हुए अनगिनत सूरजो

खून में धधकते हुए अनगिनत सूरजो
आज भी तुम्हारी मां-बहनों की इज़्ज़त
लूटी जा रही है बाज़ारों में
शोहदों जैसे मग़रूर
उन्मत्त नीरो
आज भी मोमबत्तियों जैसा जलाते हैं लोगों को चौराहे-चौराहे पर
निवाले-भर रोटी चुल्लू-भर पानी के लिए
ज़िद करने पर बर्बाद किया जाता है
आज भी घर-बार
चीथड़ों के भीतर हाथ सरसराते हैं तो उन्हें
काट दिया जाता है / आज भी नगर-नगर में
खून में धधकते हुए अनगिनत सूरजो
कितने दिनों तक सहना है इस घातक नाकेबंदी को ?
मरने तक रहना है क्या इसी तरह युद्ध-बंदी ?
देखो रे वह देखो, मिट्टी की अस्मिता फैल गई है सारे आकाश में
मेरी भी आत्मा ने लगाया है नारा ज़िंदाबाद का
खून में धधकते हुए अनगिनत सूरजो
अब नगर-नगर को आग लगाते चलो

('गोलपिठा' से)

दो रास्ते

दो रास्ते ज़िंदगी के / ज़िंदगी दो रास्तों की
जिनका कभी भी हो नहीं सकता / एक-दूसरे में विलीनीकरण
कोई भी करे टोना-टोटका / घुमाए जादू की छड़ी
ये रास्ते होते हैं परस्पर विरोधी
उन पर लागू होता है नियम वर्ग-संघर्ष का
एक रास्ता भुखमरी का बेबसी समझौते का
और खुद को बेचने का
दूसरा रास्ता विद्रोह का सीधे सत्ता हासिल करने का
दुनिया को बदलने का और खुद को भी बदलने का

('मूर्ख म्हातार्याने डोंगर हलवले' से)

सपना

मेरे सपने में आता है एक भुतहा एकांत वृक्ष
जो करना चाहता है निराकार का शवोच्छेद
आच्छादित करना चाहता है वेदना के समुद्र को
काल की कुण्डली पर कल एक काला कौआ
बीट कर गया है
उसके बाद कहा : अतिथियों के लिए काटूंगा काला कुत्ता
तो वेदना के समुद्र ने निगल लिया उस कुत्ते को
फिर मैंने शपथ दिलाई एक जलपाखी को
तो उसका एक भी पर नहीं भीगा पानी में
सोचा पानी में रह कर दुश्मनी क्यों
बेदुश्मनी से दुश्मनी को जीतना चाहा
तो मैं ही बदल गया एक नीलकंठ कछुए में
वैषयिकता के मंथन से स्वास्थ्य ही बिगड़ गया
पत्ते भी झर गए भुतहा वृक्षों के
विराट वेदना की बन गई भाप
और उसके
चिरंतन विश्राम के लिए शेष नहीं रहा आकाश ही।

('गांडू बगीचा' से)

आत्मकथा

पानी के दर्पण में विचलित होनेवाला चित्र मेरा ही है
लहरों के मस्तक का शुभ्र फेनिल सम्भार
दिक् और काल के बीच की अस्मिता को पार कर जाता है
नरक-यातनाओं के बुर्ज आहिस्ता-आहिस्ता ढहने लगते हैं
खुद को दुखी उदास बना कर मैं बैठा हूं
किनारे पर ज़ख्मों का शिल्प तराशते हुए
अस्तित्व का झीना वस्त्र हवा के झोंके के साथ
हिल रहा है इधर से उधर तक
अंधेरे-उजाले के खेल का घमासान शोर मचा रहा है
निराकार आकाश को सपने के पारदर्शी पंछी बेचैन कर रहे हैं
अहसास के भीतर के गंधहीन फूल सहसा खिलने लगते हैं
मैंने केंचुल को निकाल दिया है सांप-जैसा
यह ठंडे पानी का स्पर्श कामना की डोर को काटता है
फूंक मत मार पानी पर मेरी आत्मकथा का चेहरा गुम हो जाएगा

('या सत्तेत जीव रमत नाही' से)

कविता

कितना ज़ालिम होता है ज़हर
आदमियत का
कविता ने ही मेरे भीतर की
ज़हर की थैली निकाल दी
माथा/ गर्दन / कंधे
पेट हाथ-पांव/ पंचेन्द्रिय
और इन सब के बाद की सिक्स्थ सेंस
कविता ने ही अंकुरित की मेरे तन-बदन में
कविता ने ही मुझे बनाया
साफ़-सुथरा मासूम निर्वैर
रात के गहरे नीले
आकाश के ग्रहों-तारों की गिनती करना

कविता ने ही सिखाया मुझे
कविता ने ही मुझे सही-सही
आदमी बना दिया वर्ना इस
नरक से बाहर आना संभव नहीं था मेरे लिए
अब तलक भी रहता मैं नरक में ही तिलमिलाता छटपटाता

छिः कितना घिनौना होता वह

(निर्वाणाअगोदरची पीडा' से) ❑

— श्रद्धांजलि —

महाविद्रोही पैंथर नामदेव ढसाळ

विमल थोरात

नामदेव ढसाळ नामक महाविद्रोही कवि, लेखक और दलित पैंथर के संस्थापक के परिनिर्वाण से मराठी दलित साहित्य की अपूर्णीय क्षति हुई है। भारतीय दलित साहित्य के विद्रोही दलित सौंदर्यशास्त्र की बुनियाद रखने वाले महानायक को हमने खो दिया। प्रस्थापितों द्वारा जतन किए गए जातिव्यवस्था के ब्राह्मणवादी बूर्ज को प्रखर तेज़ाबी शब्दों से ध्वस्त करने वाले 'गोलपिठा' के कवि की क़लम से लिखे शब्द आने वाली अनेक पीढ़ियों में चेतना जगाते चलेगी-

मेरे लहू में जन्म ले चुकी अनगिनत चिंगारियां
वह सह न सकेगी सदियों की बंदिशों को
क्या बने रहेंगे ऐसे ही बंदिवान
देखो! चेतना की रश्मियां फैल चुकी हैं
आसमान से धरती तक
मेरे अंदर का इन्सां जाग चुका है
वह आज़ाद होने को छटपटा रहा है
मेरे लहू में जन्मी अनगिनत चिंगारियां
अब शहर-शहर में फैलकर, एल्गार करती चलेगी

नामदेव ढसाळ का कार्यक्षेत्र मात्र सृजन तक सीमित नहीं था।

दलित पैंथर जैसे क्रांतिकारी संगठन के गठन को उनका सीधे तौर पर वंचित, उत्पीड़ित, उपेक्षित दलित शोषितों से नाता जुड़ गया था। वे स्वयं ही उस वंचना, उपेक्षा और तिरस्कार के दंश को झेल रहे थे। कामाठीपुरा जैसी दलित बस्ती में जन्मे दलित युवक के हिस्से में इससे अधिक और कुछ होना संभव ही कहां था! राजनीतिक रूप से आज़ाद भारत की अछूत जनता आज़ादी के पच्चीस वर्षों बाद भी बहिष्कृत बस्तियों में रहने को अभिशप्त थी, जीने के साधन स्वरूप वही पुश्तैनी धंधे थे, पेशे थे, जिनसे दो वक्त की रोटी भी बमुश्किल चल पाती। जातिगत उत्पीड़न का सिलसिला पूर्ववत जारी था, सवर्ण वर्चस्ववादी राजनीति, सामाजिक, आर्थिक दबाव के फलस्वरूप राज्य यंत्रणा उनके वर्चस्व में काम करती रहीं, दलितों के प्रति पुलिस और प्रशासन का रवैया दुलमूल और नृशंस ही रहा। शिक्षित दलित युवा पीढ़ी के लिए यह सब बरदाश्त के बाहर हो चुका था। ग़रीबी, अभाव, उपेक्षा, उत्पीड़न को सहने की शक्ति अब जवाब दे चुकी थी, आज़ादी के मतलब को ढूंढने की कोशिश ही थी कि जुझारू दस्ते के रूप में दलित पैंथर संगठन की स्थापना हुई। नामदेव दोतरफा कार्य में जुड़ गए थे, एक ओर वे दलित पैंथर से जुझारू दस्ते के साथ दलितों पर हो रहे जुल्म, अत्याचार के जवाब में मोर्चे, प्रदर्शन और कभी-कभी पुलिस से सीधे भिड़ते हुए नज़र आते तो दूसरी ओर व्यवस्था के इस विद्रूप को अपने प्रखर शब्दों में अभिव्यक्त करके सृजन क्षेत्र में हलचल मचा देते। साहित्य में मौजूद प्रस्थापित मान्यताओं की वास्तविकता को नंगा कर दे रहे थे-

ओ पुराणपंथियो!/ तुमने मनुष्य को हीन बनाया
बहिष्कृत किया / उनका आक्रोश क्यों नहीं सुनते तुम?
आत्मबोध जाग्रत हो चुका जिनका
उन मनुष्यों को तुम सह नहीं पाते क्यों?

अपनी विराट होती उदासीनता को
कुछ तो महसूस करो
चेतना की रश्मियां फैल चुकी हैं/ आसमान से धरती तक
देखो, अभी तक उपेक्षा है तुम्हारे भीतर उनके लिए
क्यों नहीं भर लेते/ तुम उन्हें आग़ोश में।

नाममदेव के 'गोलपिठा' की कविता ने मध्यवर्गीय बोध को झकझोर दिया था, उन्हें आत्मपरीक्षण के लिए मजबूर कर दिया था। प्रख्यात नाटककार विजय तेंदुलकर ने 'गोलपिठा' की भूमिका में इसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि "हमारी सुरक्षित दुनिया से मात्र कुछ कदमों की दूरी पर एक दूसरी दुनिया बसती है, जहां अभाव, दुख, अंधेरा, उपेक्षा, नालियों की सड़ांध, तिलचिट्टों, मच्छर, मक्खियों से भरी झोपड़ियों में लोग सिसकती हुई ज़िंदगी जीने को अभिशप्त हैं लेकिन यह सब जानने का हमने कभी प्रयास नहीं किया।" यह एक संवेदनशील लेखक का मध्यमवर्गीय दोग़लेपन को स्वीकार करना था। नामदेव अपनी कविताओं में बेझिझक, बेबाक होकर मध्यमवर्गीय, सवर्ण साहित्य मानदंडों को तोड़कर तहस-नहस कर देते हैं। वे अपने और दलितों के जीवन की सच्चाई को उजागर करके साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र रच डालते हैं। गांव के जातिगत उत्पीड़न, ग़रीबी, भूख से बेहाल, परेशान दलित रोज़गार की तलाश में शहरों में पनाह ढूंढता हुआ उन्हीं ग़रीब-गुरबा, मज़दूर, कारीगर, ठेलेवाले, रिक्शावाले, फेरीवाले, कूड़ा बिनने वालों की बस्तियों में आकर ही ठहरता है। जिनके जीवन शैली, भाषा, जीने की उम्मीदें, सपने सब कुछ अनगढ़, अधूरे हैं। जिसके जीने-मरने से शहर के संभ्रात समाज की ज़िंदगी पर कोई असर नहीं होता। रात-भर ग्राहकों के शरीर की भूख मिटाते-मिटाते अपने पेट की भूख मिटाने की सुध-बुध खोई वेश्यालयों में बसी महिलाएं दिन के उजाले में बच्चों की परवरिश में मग्न हो जाती हैं। उनकी ज़िंदगी के मकसद से बाहरी उजली दुनिया का कोई सरोकार नहीं; वे बदसूरत ज़िंदगी जीने को विवश महिलाएं 'गोलपिठा' की कविता में ज़िंदा इंसान बनकर व्यवस्था से सवाल करती नज़र आती हैं। नामदेव ढसाल की कविता उपेक्षितों के जीवन की गहराई में झांककर उन्हें एक इंसान का दर्जा देने में सफलता हासिल करती हैं। नामदेव की कविता का आशय सामाजिक, आर्थिक विपन्नता को प्रश्रय देनेवाली राजनीति, सत्ताधारी संस्थाओं की कारगुजारी का पर्दाफ़ाश करके उत्पीड़ितों, शोषितों, दलितों को चैन, सुख व आनंद का एक क्षण मिल सके। आज़ादी का अर्थ वे जान सकें, देश के संसाधनों में अपनी हिस्सेदारी होने का अहसास उनमें जाग सके। नामदेव इस युग के न केवल विद्रोही कवि थे बल्कि इंसान की इंसानियत को झकझोरकर जगाने वाले पुरोधा थे। ❑

संपर्क : 23, दक्षिणापुरम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कैंपस, नई दिल्ली

— श्रद्धांजलि —

बची रहेंगी मोहिनी छवि की मर्मभरी स्मृतियां

लगभग तीन दशक के अभिनय करियर में पदम्श्री सुचित्रा सेन ने विविध और यादगार भूमिका निभाई है। भारतीय सिनेमा और विशेष रूप से बांग्ला फिल्मों में उनका विशिष्ट योगदान रहा है। नैसर्गिक सौंदर्य की मलिका सुचित्रा सेन के फिल्मी सफ़र और बेमिसाल अदाकारी पर प्रकाश डाल रहे हैं **प्रयाग शुक्ल**

सुचित्रा सेन (6, अप्रैल 1931-17, जनवरी 2014) उन अभिनेत्रियों में से थीं जिनके निभाए हुए चरित्रों की छवियां दर्शकों के मन पर अंकित हो जाती हैं, और वे इस पर कुछ विस्मित भी होते रहते हैं, कि एक कलाकार इतने विभिन्न प्रकार के चरित्रों में अपने को कैसे ढाल सकता है ! सो, 'देवदास' की पारो हो, या 'आंधी' की गति-से जीनेवाली, और फिर मंद पवन के



झोंके-सी बन जाने वाली, स्त्री की भूमिका हो, वे इन पर खरी तो उतरीं ही, उन्होंने दर्शकों को यह अहसास भी कराया कि वे भले ही बांग्लाभाषी हैं, और बंगभूमि की संस्कृति में पली-बढ़ी हैं, और उसी के सिने जगत को समृद्ध करने वाली रही हैं, पर, हिंदी के सिने-जगत को भी अपनी अभिनय-ऊर्जा, और अपनी उपस्थिति से आप्लावित कर सकती हैं। बांग्ला फिल्मों में तो उन्होंने बीसियों भूमिकाएं निभाईं, और उत्तम कुमार के साथ उनकी जो 'जोड़ी' बनी, उसके अनेकों कीर्तिमान हैं। 1952 में वे 'शेष कोथाय' नाम की फिल्म में आईं, और यहीं से सिने-जगत में अभिनय की शुरुआत की, पर, वह फिल्म बरसों तक रिलीज़ नहीं हो सकी। फिर 'साढ़े चौहत्तर' और 'दीप ज्वले जाई' जैसी फिल्मों में उनको जो सराहना मिली, वह उनके फिल्म जीवन में कभी मंद नहीं पड़ीं। ये दोनों फिल्में पचास के दशक की ही हैं, और इन दोनों में भी उनकी भूमिकाएं बिल्कुल भिन्न प्रकार की थीं : 'साढ़े चौहत्तर' एक कॉमेडी फिल्म थी और 'दीप ज्वले जाई' में उन्होंने एक मनोचिकित्सक के यहां नर्स के रूप में काम करने वाली एक ऐसी संवेदनशील भूमिका निभाई, जिसमें वह 'नर्स' मनोचिकित्सक के यहां अपनी समस्याएं लेकर आने वाले पुरुष-रोगियों की ऐसी हमदर्द बनती है, और उनकी ऐसी अंतरंग, कि वे अपने को एक नयी रोशनी में पाते हैं। 'सात पाके बांधा,' 'अग्निपरीक्षा' और 'हारानो सुर' (खोया हुआ स्वर) भी उनकी अविस्मरणीय फिल्मों में से हैं। सत्यजित राय ने भी उन्हें लेकर एक फिल्म की घोषणा की थी, पर, वह यथार्थ में परिणत नहीं हो सकी, नहीं तो संभवतः उनके अभिनय में एक और आयाम जुड़ता।

वे 'सात्विक' अभिनय की धनी थीं, और उनके अभिनय में कुछ ऐसी सहजता-स्वाभाविकता रहती थी कि दर्शक यह भूल जाता था कि वह परदे पर जो कुछ देख रहा है, वह एक जिया जा रहा जीवन नहीं है, अभिनीत जीवन है। इस 'अभिनीत जीवन' की संचालिका सुचित्रा सेन ने कोई ढाई दशकों तक यानी पचास के दशक के आरंभिक दशक से, सत्तर के दशक के अंतिम वर्षों तक बंगाल के सिने दर्शकों को हर्ष-राग-विराग-शोक और प्रेम के न जाने कितने क्षण सौंपे जिनमें वह डूबते-उतराते रहते थे। ये क्षण उनकी ज़िंदगी का हिस्सा बन जाते थे। मुझे कोलकाता में बिताए अपने वे युवा दिन याद हैं, जब 1960 के आसपास सुचित्रा-उत्तम के पोस्टर, होर्डिंग्स, कोलकाता के फुटपाथों और चौराहों से झांकते रहते थे। और बांग्ला फिल्में प्रदर्शित करने वाले, सिनेमाघरों के बाहर लंबी कतारें लगती थीं। बांग्ला में छवि शब्द फिल्म के लिए भी प्रयुक्त होता है, और कह सकते हैं कि स्वयं सुचित्रा सेन की मोहिनी छवि से बांग्ला का छवि-संसार अत्यंत समृद्ध हुआ। सुचित्रा सेन की बड़ी-बड़ी बांग्ला आंखें, और तीखे नाक-नक्श, बहुतों का मन मोहते थे। उनकी यह मोहिनी दरअसल एक कलाकार की रचनात्मक मोहिनी ही थी- किसी 'मॉडल' की मोहिनी नहीं। पलक झपकते ही वह अपनी मुख-मुद्रा से, भावों के उतार-चढ़ाव से, उठने-बैठने-चलने की गति से, जिन भावों की सर्जना करती थीं, उन्हें अपूर्व ही कहा जाएगा। 'देवदास' में दिलीप कुमार के साथ, 'बंबई का बाबू' में देवआनंद के साथ, और 'आंधी' में संजीव कुमार के साथ, उनके अभिनय में भी, वह पूरी 'रेंज' दिखाई पड़ी, जिस रेंज के कारण वह अलग से पहचानी जाती रही हैं।

पावना (अब बांग्लादेश में) में एक अध्यापक के घर में जन्मी सुचित्रा सेन का अधिकांश जीवन कोलकाता में ही बीता। और पिछले कोई तीस बरस उसी कोलकाता में उन्होंने वास्तव में परदे के पीछे बिताए, जहां कभी उनकी मुखकृति उस शहर की एक 'शोभा' हुआ करती थी। सिनेमा के परदे से, सचमुच परदे के पीछे जाने की उनकी जीवन-कथा, कुछ 'रहस्यमय' भी रही, और उनके प्रशंसक और कला-प्रेमी यह जानने को उत्सुक रहते थे कि वह परदे के पीछे 'क्यों हैं', 'कैसी हैं', और कैसा अनुभव कर रही हैं। पर उन्होंने अपने जीवन के वे अंतिम तीस वर्ष, कुछ ऐसे स्व-निर्वासन में बिताए कि वह स्व-निर्वासन अभेद्य ही बना रहा। उनके प्रति दर्शकों का, कला-जगत का, सिने-जगत का यह अगाध प्रेम और सम्मान ही था कि उन्होंने उनके स्व-निर्वासन को एक 'स्वीकृति' ही दी, पर उन्हें उसने कभी भुलाया भी नहीं। उनकी बीमारी की ख़बर अख़बारी सुर्खियों में आती रहीं, और वे कोलकाता

पृष्ठ 39 पर जारी

दो कविताएं : **शशिकला त्रिपाठी**



मेरी बेटी

मेरी बेटी
मैं भी कभी तुम्हारी तरह
किलकारी मारती, उछलती-कूदती
घर के भीतर-बाहर
आगंतुकों से खुश हो जाती
कहती नहीं थी 'खुशी हुई'
जाने पर उदास हो जाती
नहीं कहती थी 'चैन मिला'
जो भी लाड़ करता, उसी की हो जाती
लगाए बग़ैर कोई बैरियर

मगर, तब और अब में
फ़र्क़ ही फ़र्क़ है
तब, मैं थी केवल बेटी
अब हूं सास-ससुर की 'बहू'
पति की 'पत्नी', बच्चों की 'मां'
बिला गया मेरा स्वत्व इन रिश्तों में
ज़िम्मेदारियों को उठाने के लिए
किए गए हैं कंधे सख़्त
और ग़ायब हुई है हंसी

मेरी बेटी,
तब देखती थी इंद्रधनुष के रंगों को
अब लगते हैं दुनियावी रंग बदरंग
संबंधों में मिलावट हुई है राजनीति की

इंसान हुआ है 'जुलाहा'
बुनता है ताना-बाना स्वार्थ का
'शतरंज का खिलाड़ी' बनकर वह
बिछाए रखता है बिसात
शिकस्त देने के लिए
हाथी, घोड़े, पैदल को छोड़
तलाशता है नए-नए मोहरे
कभी भाषावाद, कभी जातिवाद
कभी मंडल-कमंडल तो कभी
अखंडता का आलाप

बताओ बेटी,
यह सब देखती, सहती
कैसे हो सकती हूं प्रसन्न?

डरती हूं तुम्हारे लिए
सोते-सोते चिहुंक उठती हूं
भविष्य में मेरी तरह
तुम्हारी हंसी भी
न हो जाए विद्रुप

जीवन हुआ है अधिक जटिल
स्त्री नदी ही नहीं है अब
थामने लगी है पतवार
धरती और आकाश
दोनों की दूरियों को
पाटने में सक्रिय हुई है वह।

भ्रूण-हत्या

सदियों से आज तक
सामाजिक तानों-बानों में
उलझती है स्त्री
पुरुष-व्यवस्था के सांचे में
ढलती है स्त्री
पुरुष के रंग में बदलती है
अपना रंग सलिला बन
आत्मनिर्भर स्त्री भी
सहेजती है विरासत

गर्भ में कन्या-शिशु होने पर
बेहिचक कराती है गर्भपात
नहीं है स्वीकार्य उसे दूसरी बेटी
उसे चाहिए पूरा परिवार
बेटा, बेटी दोनो हों साथ
अलबत्ता, बेटे हो सकते हैं दो
संगणक-युग में
हुई है वह व्यावहारिक।

संपर्क : 'सृजन', बी31/41,ए-एस, भोगावीर, संकटमोचन, वाराणसी (उ.प्र.)

उत्तर आधुनिक समाज में

मुक्ति की अवधारणा का नाम है 'नवनारीवाद'

स्त्री-लेखन के पाठ का एक नया युग इस अरमान से शुरू हुआ कि महिला-लेखन पर नारीवादी साहित्यिक आलोचना को बढ़ावा दिया जाए। पाठ्यक्रम में नारी-लेखन हो और 'फेमनिस्ट पब्लिशिंग हाउसिस' को अनुदान मिले और इसके लिए जागरूक पाठक आगे आएं, विश्लेषण कर रहे हैं **कृष्णदत्त पालीवाल**

'फेमनिज्म' या नारीवाद पुरुष वर्चस्ववाद की नाक पर घूंसा जड़ने का भरा-पूरा नारी-दर्शन है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'नारीवाद' में कई विवादास्पद, जटिल और अर्थबहुल व्यंजनाओं के पाठ-सहपाठ और कुपाठ उभरे हैं। इनमें सर्वाधिक वैचारिक फौजदारी के तीन व्यंजक ध्रुव रहे हैं। इन तीनों ने नव-साम्राज्यवादी संस्कृति की 'मानसिकता' का एक मैप ही प्रस्तुत कर दिया तथा तीन तरह के दलित-विमर्श उभर पड़े। सर्वाधिक विस्फोटक ज्वालामुखी अनेकमुखी व्यंजक भिन्नताओं के साथ 'ब्लैक फेमनिज्म' की अवधारणाओं में फूट-फट पड़ा। इसमें नस्लवाद का काला ज़हर मिला हुआ था और था इसमें नारियों को 'वस्तु' या 'माल' समझकर भोगने-भजने का गरमागरम यौनवादी मसाला। इस मसाले में 'फ्रेंच फेमनिज्म' का गहरा प्रभाव था और उसके भीतर नृत्य करता यूरोपवाद का नंगा नाच, फैशन बाजार, नारीदेह का सेलीब्रेशन और रूप के शर्बत का खुमारवाद। इसलिए फ्रेंच नारीवाद की अवधारणाओं के 'भ्रांति' के साथ 'भयमिश्रित युद्ध' के बीज भी बो दिए। इस बीज बोने में 'फेमिनाइनरिद्म' की कोमलता को 'कूटार्थ में धकेल दिया गया।

'फेमिनाइनरिद्म' को 'डबलरिद्म' भी कहा जाता है-इसलिए इस रिद्म का अर्थ किया गया 'राग का ज्वर'। नारी के राग का ज्वर। इस राग को नारीवादी आलोचना ने भुनाया और उसकी सैद्धांतिकी गढ़ डाली। इसलिए फेमनिज्म की बहसों में 'फेमिनिटी नैरेटिव एंड साइकोएनालिसिस' के जाल में लोकवादी गहरे गंभीर भंवर उठने लगे। फिर से यहां पर फ्रायडवाद, नवफ्रायडवाद और यौनवाद को परिभाषित किया गया। इसी भंवर के भीतर से जुलिया क्रिस्टीवा का उदय हुआ। हिंदी में इस नए भंवरजाल को उत्तर-आधुनिकतावादी चिंतकों ने सुनामी लहरों में बदल दिया।

यह सच है कि 'फेमनिज्म' का पूरे विश्व में एक भाष्य राजनीति से बहुत दूर तक जुड़ा है। नारी का नारीपन एक जैविक फैनोमिना है और 'फेमिनिटी' नारीत्व का एक सांस्कृतिक-ऐतिहासिक इतिहास है। 'नारीवाद' की सच्ची पहचान का टर्म या लक्षण राजनीति से भरा है और यह मुहावरा कि 'इटरनल फेमिनाइन' को कैसे परिभाषित किया जाएगा? क्या राधा से अलग करके कोई राधापन, राधात्व, राधा-भाव, राधारस को परिभाषित कर सकता है? क्योंकि राधा के साथ आगम, शैववाद, वैष्णववाद नाभि-नाल रूप से जुड़ा हुआ है। कृष्ण-पुरुष का पुरुषवाद राधा के नारी-भाव रूप में ही शक्ति पाता है। इस संदर्भ में नारी का नारीत्व एक गहन शोध का गहरा विषय रहा है और आज भी उपभोक्तावादी संस्कृति-समाज में है। वह नए भाष्य का विषय ही इधर के दशकों में 'महिला लेखन' को लेकर नए-नए प्रश्न उठे हैं और 'लिंग' पर आधारित सोच को बढ़ावा देने वालों ने 'स्त्री भाषा' पर विचार करने की ठान ली है। नारी का बोलना, सोचना, लिखना, जीना सब कुछ पुरुष से अलग होता है और स्त्री-भाषा में पुरुषवादी दमन के घाव दर्द कर रहे होते हैं। हलेन शोवाल्टर ने 'ए लिटरेचर ऑफ देयर ओन' में 'वूमैन राइटिंग' के 'इंटरप्रटेशन' के कई मार्ग सुझाए हैं। पहली बात यह कि नारी अभिधा नहीं है-व्यंजना है। उसकी रहस्यात्मक भाषा में जीवन के आदिमबिंब अवचेतन की सत्ता के साथ जीवन लीला रच रहे होते हैं। दर्शन में नारी शक्ति है, पुरुष शिव। यह शिव, शक्ति के बग़ैर शव है, अर्थात् नारी ही सक्रियता है-चेतना की सर्जनात्मक गति।

मर्दवाद की वर्चस्ववादी परंपराओं का इतिहास-पुराण अनंत कथा है। महाआख्यान के भीतर महाआख्यान। पाठ के भीतर पाठ और अंतर्पाठ-जिसमें फंतासी-मिथक कल्पना-कला के झिलमिलाते पुराण रूपक हैं। इसलिए कला-सौंदर्य के प्रतिमान में 'नारी' है, प्रकृति है, महामाया है, चिद्रूपा है, त्रिपुर मोहिनी है, काली-कराली, भैरवी, चामुंडा है। लेकिन आज का नारीवादी-विमर्श नारी के अधिकारों की बात करता है। मूल्यों की बात करता है और उस नारी संस्कृति के अंधेरे, उपेक्षित, शोषित कोणों की बात करता है, जिसे पुरुष ने उसके हितों के लिए दबाकर रखा है। इसलिए नारीवाद में अधिकारों के प्रति सजगता के साथ नारी अस्मिता की उत्तर-आधुनिक व्याख्या का समाजशास्त्र, कामशास्त्र और अर्थशास्त्र मौजूद है।

नारीवाद का अर्थ है नारी की आत्मचेतना की अस्तित्व की अस्मिता की तलाश और खोज। इसलिए हर कोण से नारी को परिभाषित करना एक जटिल प्रक्रिया है, चुनौती है और असुविधाजनक प्रश्नाकुलता है। इसकी शाब्दिक अवधारणा में 'नारी की सत्ता-महत्ता-महिमा' का पुरातत्व छिपा है। उन्नीसवीं शताब्दी में 'नारीवाद' एक भोला हृदयवाद का प्रत्यय था-जो बीसवीं शताब्दी के बौद्धिक रुझानों में 'संघर्षरत नारी' या 'अस्तित्व के अधिकार की लड़ाई लड़ती नारी' या 'मर्दवाद की ज्यादतियों की नाक पर घूंसा मारती नारी' का प्रतीक बन गया। जोसफ कोनार्ड ने 'अंडर वेस्टर्न आईज़' पुस्तक (1911) में जिस संघर्ष करती नारी को देखा था-उसकी हड्डियों का लोहा मज़बूत था। वह 'दामिनी, कामिनी, भामिनी, महारानी, पटरानी' के पुरुषतंत्रवाद से बाहर निकलकर पुरुष जुल्मों का हिसाब मांगने लगी थी। इसलिए नारी अधिकारों के लिए युद्ध करती नारियों ने 'नारीवाद' की अवधारणा में 'रेनासां' का ज्ञान-विज्ञान जल प्रवाहित कर दिया, ताकि समाज का पुराणवादी कोढ़ नष्ट हो सके। वर्जीनिया वुल्फ ने 'थ्री म्युनियाज' (1938) में घोषित किया कि पुरानी नारी से जुड़ी सभी विकृत, यातनापरक स्थितियों का अंत होना चाहिए।

'फेमिनिस्ट' शब्द का अर्थ आज यह है कि वह जो नारी अधिकारों की वकालत करता है, उसकी समानता को अर्थ-संदर्भ देता है और पुरुष वर्चस्ववाद को नकारकर व्यथ-यातना के अंधकार का अंत करता है। वुल्फ नारीवाद के पुराने भ्रष्ट अर्थ संदर्भ को जला तक देने की बात कहती हैं और उनकी घोषणा है कि यदि एक बार ऐसा कर दिया तो समाज-संस्कृति-दर्शन-परंपरा की वायु स्वच्छ हो जाएगी और महिला-पुरुष दोनों को हम नए समाज के निर्माण में सक्रिय देख सकेंगे।

इस दृष्टि से 'फेमिनिस्ट' वह अवधारणात्मक शब्द प्रत्यय है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के जुल्मों से संघर्ष करने वाली नारियों के लिए इस्तेमाल हुआ था और उनका विकट रोष इस शब्द में आज भी तरंगायित है-पूरे कोलाहल के साथ-साथ ही यह न भूलना चाहिए कि 'फेमिनिस्ट' शब्द नारियों पर आरोपित किया गया था, यह उनका 'चुनाव' नहीं था। लूसी इरीगाय ने 1982 के एक 'इंटरव्यू' में इस शब्द के प्रति आपत्ति उठाते हुए कहा था कि 'फेमिनिज्म' शब्द के द्वारा सामाजिक-व्यवस्था नारियों के संघर्ष का नामोल्लेख करती है। स्त्री-संघर्षों का बहुलतावादी पाठ वे उठाकर कहती हैं कि संघर्षों के बहुरूपी आयाम हैं। मागरिट एटवुड का 'गार्जियन' पत्रिका 1987 में एक इंटरव्यू छपा जिसमें उन्होंने कहा कि अगर औरतों का अरमान आदमियों की हत्या का है तो सोचने के कई कोण बनते हैं। इनमें प्रमुख दृष्टिकोण है दोनों नर-नारी एक-दूसरे के सम्मान को रक्षित रखते हुए जिएं। मागरिट ने अपनी 'ब्लूवड्र्स इग' पुस्तक में स्वीकार किया है कि बाजारवाद के समय में सब कुछ आपके सोच से तय होता है। इसलिए सभी पुरुषों को मार-पीटकर ठंडा करनेवाला अर्थ 'फेमिनिज़्म' में नहीं है। सभी महिला आंदोलनों में पुरुषों को बदलने की अर्थ-ध्वनि है। उनके 'विपरीत लिंगी' आकर्षण को लुंज-पुंज बना देने की बात नहीं है। दरअसल, नारीवादी-विमर्श से राजनीति के उद्देश्यों का जुड़ जाना कम घातक सिद्ध नहीं होगा। इसलिए फेमिनिज़्म को एक बड़ा चर्च या बड़ा मंदिर-मस्जिद बनाना ठीक नहीं है। नारीवाद व्यापक विचार क्रांति है, जिस पर मैरी इगल्टन के संपादन में 'फेमिनिस्ट लिटरेरी थियरी : ए रीडर' (1996) पुस्तक निकली है। यह पुस्तक क्या छपी, कई तरफ से कोलाहल शुरू हो गया। इसमें एकेडेमिक ऐक्टेविस्ट बोर्जआइज, कल्चरल, साइबर फेमिनिज्म, फ्रेंच, इंटरनेशनल, मार्क्सिस्ट, रेडिकल फेमिनिज्म आदि तमाम मुद्दों को सुई की नोक-सा पैना बनाकर उठाया गया। इसलिए एक बृहत्तर संदर्भ में 'फेमिनिज़्म' एक 'एम्ब्रैला टर्म' बन गया। इस टर्म में नारियों के दमन की यातना को रेखांकित किया गया और विचार धारात्मक संघर्ष के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक, नैतिक-आर्थिक मुद्दों पर करारी बहसें की गईं।

इस तरह 1960 ई. के आसपास 'फेमिनिज़्म' एक सामाजिक- राजनीतिक आंदोलन की शक्ल में वजूद पा गया। विकसित देशों में फ्रांस-ब्रिटेन आदि में इसने नए-नारी प्रतिमान स्थापित किए। और जब फेमिनिज्म की सेकंड वेव या दूसरी लहर का ज्वार-भाटा उठा तो यह 1970 के आसपास 'अंतरराष्ट्रीय नारीवादी आंदोलन' के रूप में खड़ा हो गया। इस नारीवादी आंदोलन को संसार के प्रत्येक कोने में फैलाने में साहित्य की भूमिका अविस्मरणीय रही है। साहित्य किसी न किसी रूप में नारियों को प्राचीन समय से चर्चा के केंद्र में लाता रहा और कभी-कभार तो नारियों ने भी अपनी यातना पर लेखन किया। यह लेखन दमन 'ऑपरेशन ऑव वूमेन' का रिकार्ड रखनेवाला बना। इस रिकार्ड से उत्तर आधुनिकतावाद के नारीवादी विश्लेषक नारी-दमन के दर्दनाक इतिहास को खोलकर रख देते हैं। संसार भर के विश्वविद्यालयों ने नारीवादी-विमर्श की ज़ोरदार मुहिम चलाई। परिणामतः नारीवाद एक नव-सांस्कृतिक जागरण की बौद्धिक मशाल बन गया।

इस मशाल को शिक्षित महिलाओं ने स्त्री-भाषा-विमर्श से विचार-मंचों पर ऐसी हवा दी कि आंदोलन अंगारे में बदल गया। 'रेडिकल फेमिनिज्म' का यह ऐतिहासिक कार्य पीढ़ियों के लिए चिंतन प्रकाश बनता गया। 'जेंडर डिफरेंस' पर तनातनी चली। चुप्पी ने दहाड़ का रूप धारण किया। मर्दवाद ढीला पड़कर पस्त दिखाई दिया। यह रेडिकल फेमनिज़्म की ही हवा है जिसने लेस्बियनिज़्म के सांस्कृतिक-राजनीतिक आयामों के बंद द्वार धड़ाम से खोल दिए। हालांकि इस नए विचार-दर्शन की भ्रष्ट व्याख्याओं का अंबार लगाया गया और 'फेमिनज्म एंड सेक्सुयलिटी' के नाम पर तमाम तरह की 'बकवास' का ढेर लग गया। लेकिन इस नई विचारक्रांति की जययात्रा न रुकी, न झुकी, न समझौता बनी है। यह भूलने के विरुद्ध तथ्य है कि नारीवाद, नवनारीवाद और उत्तर-आधुनिकतावाद इस युग के दो सर्वाधिक प्रबल फिनोमिना हैं। इन दोनों ने मिलकर ही ग्रांड नेरेटिव 'महाआख्यान, महानायक' आधुनिकता की पेटफुलाऊ शेख़ी को धूल चटा दी है।

एक ख़ास अर्थ में उत्तर-आधुनिकता नारीवाद का ही बौद्धिक विस्तार है या टैक्स्ट। इस टैक्स्ट में नव पूंजीवाद, नव संस्कृतिवाद, नव उपनिवेशवाद, बाजारवाद, उपभोक्तावाद आदि सभी समा जाते हैं या समाए हुए हैं। के. के. रूथविन के 'फेमनिस्ट लिटरेरी स्टडीज एन इंट्रोडक्शन' (1984) तोरियल मोई 'सेक्सुअल टेक्स्चुअल पालिटिक्स : फेमनिस्ट लिटररी थियरी' (1985), गायले ग्रीन तथा कोपिलिया कोहन 'मेकिंग ए डिफरेंस : फेमनिस्ट लिटरेरीक्रिटिसेज़्म' (1985), इलेन शो वाल्टर-'दि न्यू फेमनिस्ट क्रिटिसिज़्म : एसेज आन वूमैन लिटरेचर एंड थियरी' (1986) जैसी पुस्तकों ने पूरा परिदृश्य ही बदल दिया। सन् 1980 के बाद सभी जरनल्स नारीवाद के निबंधों से पट गए। आडीने रिच ने 'कंपलसरी हेडो सेक्सुअलिटी एंड लेस्बियन एक्सेस्टेन्स', बोनी जेमरमैन ने 'ह्वाट हैज नेवर-वीन : एज ओवरव्यू ऑफ लेस्बियन फेमनिस्ट लिटरेरी क्रिटिसिज्म', बारबरा स्मिथ के 'टुवर्ड ए ब्लेक फेमनिस्ट क्रिटिसिज्म' के विचारों से एक नया विमर्श तैयार हुआ। इस तरह उत्तर-आधुनिकता ने नारी के चिंतन और चिंताओं को केंद्र बनाकर 'डिस्कोर्स' तैयार किया। इस डिस्कोर्स में अर्थ-मीमांसा-दर्शन, दृश्यपटल विज्ञान, समाजशास्त्रीय आलोचना, पाठकवादी आलोचना की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

स्त्री-लेखन के पाठ का एक नया युग इस अरमान से शुरू हुआ कि महिला-लेखन पर नारीवादी साहित्यिक आलोचना को बढ़ावा दिया जाए। पाठ्यक्रम में नारी-लेखन हो और 'फेमनिस्ट पब्लिशिंग हाउसिस' को अनुदान मिले और इसके लिए जागरूक पाठक आगे आएं। शो वाल्टर ने इस प्रश्न को उठाया है कि नारी-लेखन पहले तो हुआ कम और जो हुआ भी उसे स्तरविहीन कहकर मर्दवादी सोच ने उसे साहित्य के इतिहासों में स्थान बहुत कम दिया। हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे इतिहासकार तक नारी लेखन को अपने इतिहासों में स्थान नहीं दे सके, जबकि अकेले हिंदी के मध्यकाल में ही इनकी संख्या काफी है। डा. सावित्री सिन्हा ने 'हिंदी की मध्ययुगीन कवयित्रियां' शीर्षक शोध-प्रबंध में नारी कवयित्रियों की भारी संख्या की ओर सप्रमाण ध्यान दिया है। 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखने वाले आचार्य शुक्ल के मेधावी शिष्य आलोचक पं. कृष्ण शंकर शुक्ल भी नारी साहित्य की चर्चा से बचते रहे। इतिहास लेखन का पूरा मैदान हिंदी-साहित्य में पुरुषों के ही साथ रहा। इसलिए जो हुआ वह पीड़ादायक है और मर्दवादी वर्चस्ववाद का आंख खोलने वाला उदाहरण। आज हिंदी साहित्य के इतिहासों में स्त्री-लेखन पर अलग से ध्यान देकर विचार करने की ज़रूरत है ताकि नई पीढ़ी उनके रचनाकर्म की कथ्यात्मकता से परिचित हो सके।

हमारे परंपरागत सोच ने नारी को 'माया' मानकर उसे भोग, भय, घृणा, उपहास का कारक ही बनाया है। नारी काम-गुफा है और नारी करुणा है, ममता है, कला है, संगीत है, अध्यात्म है, धर्म है, दर्शन है, उर्वशी-मेनका है। तप-भ्रष्टा, नरक का द्वार, सिद्धि मार्ग की बाधा यशोधरा है। इधर के सोच में नारी देह है, वस्तु है, माल है, बाजार है, भूख का भोग है। नव-पूंजीवादी व्यवस्था में नारी ब्रांड है-सुंदर नारी छवि अपने ब्रांड से बाजार को निर्मित करती है। उपभोक्ता संस्कृति में स्त्री की स्थिति मज़बूत हुई है। उसे धन कमाने के अवसर मिले हैं, और विज्ञापन के संसार में मॉडल बनकर छा गई है। उसकी सेक्स-इमेज का पुरुषों पर रुतवा बढ़ा है।।

चिंता की बात यह है कि स्त्री के पास 'वैचारिक संसाधन' कमज़ोर हैं। समकालीन आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में उसने लड़-झगड़कर थोड़ी-सी जगह हथियाई है, लेकिन बहुत सारी जगह पर मर्दवाद का कब्ज़ा है। मर्दवादी सामंत तंत्र स्त्री को अवसर तो देता है लेकिन पूरी 'स्वतंत्रता' नहीं देना चाहता।

एक ओर नारी शोषण का विचार है तो दूसरी ओर बाजारवाद का स्वर्ग उसे नसीब हुआ है। दिलचस्प तथ्य यह है कि भूमंडलीकरण के समर्थक नारी-छवि को ऐसे 'क्रिएट' कर रहे हैं जैसे वह फंतासी भरा रहस्य हो। वे सभी नारी के 'मिस्टीफिकेशन' से बचकर आगे आ रहे हैं। भूमंडलीय बाजार में स्त्री की छवि 'पवित्र देवी आदरणीय' की नहीं है, उस औरत की है जो अपनी देह से पुरुष को खींचती-सींचती है। आर्थिक क्षेत्रों पर कब्ज़ा करती नारी। वह पुरुष प्रदत्त ज्ञान-व्यवस्था पर अपना कब्ज़ा करना चाहती है। उसे ज्ञात है कि इसी तरह वह अपना पुराना इतिहास बदल सकती है। वह पुरुष के मर्दवादी भाष्य का 'प्रोटेस्ट नोट' है जो आत्मधिक्कार से छूटकर आत्मविश्वास की ओर कदम उठा रही है। इधर प्रसन्नता की बात यह भी है कि मार्क्सवाद, दलित साहित्य और नारीवाद तीनों के बीच सहयोग-संवाद का सेतु निर्मित हुआ है। इस 'विमर्श' ने उस नारी को 'लोकेट' कर लिया है, जिसे सदियों से रौंदा जाता रहा है।

चिंता की बात यह है कि स्त्री के पास 'वैचारिक संसाधन' कमज़ोर हैं। समकालीन आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में उसने लड़-झगड़कर थोड़ी-सी जगह हथियाई है, लेकिन बहुत सारी जगह पर मर्दवाद का कब्ज़ा है। मर्दवादी सामंत तंत्र स्त्री को अवसर तो देता है लेकिन पूरी 'स्वतंत्रता' नहीं देना चाहता। फिर स्त्रियों के पास लंबी आंदोलन परंपरा का इतिहास, भूगोल, गणित नहीं है। ग्लोबल उत्तर-आधुनिकतावादी समय में उसके सामने यक्ष प्रश्न उपस्थित है कि पुरुष-प्रदत्त ज्ञान-व्यवस्था को वह कैसे ध्वस्त कर पाएगी और कैसे अपने मानवीय अधिकार उसे प्राप्त हो सकेंगे? क्या पुरुष-प्रदत्त नवरीतिवाद, नव सौंदर्यवाद के बाजार को अपने हाथों में हासिल करने की कुव्वत स्त्री जुटा पाएगी? क्योंकि अर्थशास्त्र एवं राजनीति का पूरा यह आख्यान अभी तक पुरुषवाद के हाथ में है और इसे बरक़रार रखने के लिए पुरुष अपने नव बौद्धिक साम्राज्यवाद का विस्तार कर रहा है। स्त्री एक अर्द्धनागरिक है इस बौद्धिक साम्राज्यवाद में, क्योंकि न तो वह पहले दर्जे की उत्पादक है न पहले दर्जे की उपभोक्ता।

भूमंडलीकरण ने नारी को नागरिक होने का वह चिंतन नहीं दिया, जो उसके पास होना चाहिए। उसे घर की देहरी से बाहर निकालकर बाजार में तो खड़ा कर दिया है लेकिन उत्तर-आधुनिकवादी सोच का मिशेल फूको सोच नहीं दिया है जिसमें ज्ञान और शक्ति का सामंजस्य हो। इस सामंजस्य के अभाव में नारीवाद पुरुषवाद के 'रेलवे फाटक' पर अटका खड़ा है। बड़े उद्योगों के दबाव से 1995 के बाद पांच लाख लघुउद्योग बंद हुए और भारी संख्या में स्त्रियां बेकार हुईं। श्रमिक स्त्रियों की इस व्यथा को पुरुषों ने नकार दिया है। इस स्थिति ने नारी-देह व्यापार को बढ़ावा दिया है और सस्ते दामों पर युवा-देह का माल पुरुषों को प्राप्त हो रहा है। इस तरह नई आर्थिक नीतियों का मर्दवादी चेहरा स्त्री विरोधी है और हर कदम पर 'स्त्री स्वाधीनता' में बाधक।

बहुराष्ट्रीय बाजार-व्यवस्था में स्त्री मेज़-कुर्सी, टी-शर्ट की तरह ख़रीदी जा रही है। स्त्री के सबलीकरण की कथा के पाठ-उपपाठ में उसके वेश्यावाद का 'विमर्श' कराह रहा है। बाज़ारवाद तथा मीडिया-संस्कृति स्त्री का हर तरह से फ़ायदा उठा रहे हैं। उसके फार्मूले ही ऐसे हैं कि वह सतही सेकुलरिज्म के नाम पर उसका 'नारी-धर्म' उससे छीन रहा है। नारी-देह के ग्राहक नारी को लुभावने विज्ञापनों, नारों, उपहारों, सौंदर्य छवियों आदि के माध्यम से उसके भीतर घुसकर उसे लूट रहे हैं।

कौन नहीं जानता भूमंडलीकृत बाजारवाद की पूरी नीति स्त्री को बहलाने-फुसलाने पर केंद्रित है और यह केंद्रवाद इतना मज़बूत है कि उसे ढहा पाना फिलहाल संभव नहीं है। धन की आड़ में नारी-शोषण और नारी-हिंसा का समाजशास्त्र जारी है। स्त्री-हिंसा के अनंतरूप हैं और उपभोक्तावादी, नैतिकता के अनंत बाजारवादी 'विमर्श'। स्त्री की आर्थिक समृद्धि उसे भीतर से उजाड़कर 'उलटबांसी' गा रही है। मानसिक स्वास्थ्य के नाम पर स्त्रियों में एंक्जाइटी, अवसाद, फोबिया, मानसिक तनाव, डिप्रेशन, पागलपन, डिसआर्डर जैसे न जाने कितने मनोवैज्ञानिक रोग बढ़े हैं जिनका दवाइयों से इलाज संभव नहीं है। गर्भ-निरोधक दवाइयों ने उसे खोखला कर दिया है और दिमाग़ी पागलपन का हिमालय उसे बना दिया है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका में न जाने कितनी मल्लिकाओं की कथा-व्यथा की व्यंजना है जिन्हें नए कालिदास भोगकर भाग जाते हैं और उन्हें लुटे-पिटे विलोमों के साथ जीना पड़ता है। सुरेंद्र वर्मा के उपन्यास की नायिका 'मुझे चांद चाहिए' अपना सपना पूरा कर लेती है, लेकिन पूरा उपन्यास यथार्थ से दूर हो जाता है। इसमें न लैंगिक भेदभाव है न कोई सांस्कृतिक-नैतिकता से उत्पन्न ब्रह्मराक्षस। नई लड़कियां कह रही हैं कि उन्हें पार्वती-राधा-सीता-द्रौपदी के पुराने आदर्श नहीं चाहिए। उन्हें नहीं चाहिए गंगा-सा पवित्र नारीत्व। उन्हें चाहिए यौन-स्वच्छंदता, उपभोक्तावादी संस्कृति का मज़ा और चोटी तक पैसे में डूबा जीवन का स्वर्ग। जो पैसा वह कमा रही है, उसे स्वयं पर खर्च करने का 'विमर्श'। इस तरह भूमंडलीकरण के बाजारवाद और संस्कृति ने नारी को बहुत अधिक आत्मसीमित, आत्ममुग्ध रूपजीवा और आक्रामक बना दिया है।

नव-नारीवाद में आज उन्हें अपना हंसता-खिलता जीवन दिखाई देता है। नवनारीवाद का एक साफ़ तरह का जीवन उद्देश्य है अपने लिए शान से जिओ और बाज़ारबाद ने जो परोसा है उसे भरपूर भोगो। इस तरह अमेरिकी-संस्कृति, ग्लोबलाइज़ेशन, उपभोक्तावादी संस्कृति, मीडिया ब्रांड नारी-इमेज तथा नारीवाद के बीच एक सीधा-सुलह सामंजस्य का संवाद है और यह संवाद अब महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियां', 'अतीत के चलचित्र' नहीं बनना चाहता है। वह वर्जनावादी शुद्धताओं को सदा के लिए 'नमस्कार' करते हुए नव-नारीवाद बनना चाहता है। नव-नारीवाद भारत की संस्कृति पर उत्तर आधुनिकतावादी अमेरिकी-संस्कृति के वर्चस्व की 'संपूर्ण विजय' है। भारत अब मिनी अमेरिका है और हमें सीता-द्रौपदीवाद का पाठ, पूरा ग़लत पाठ लगने लगा है। भूमंडलीय समाज में स्त्री की अपनी स्वाधीनता का यह नया विमर्श है।

सरकार के सामने समस्या है कि वह वेश्यालयों तथा यौनकर्मियों को वैधता कैसे प्रदान करे? स्त्री को अंधेरे बंद कमरों से निकालकर बाहर कैसे भटकने-फटकने दे? हमारी भारतीयता का क्या होगा? पूजा-संस्कृति के देवीवाद को कौन प्रश्रय देगा। भारत का पुरोहित-पंडावाद, कर्मकांडवाद, वर्जनाशीलता का शील संस्कार का क्या होगा? भारत की पूरी संस्कृति को कचरे में कौन फेंकेगा? कन्या नारी देह है, सेक्स है, विज्ञापन है, बाज़ार है, माल है। अब दुर्गा के पैर राक्षस को नहीं रौंद रहे हैं। राक्षस से दुर्गा ने प्रेम-सेक्स-संवाद स्थापित कर लिया है और वह दुर्गा के वक्ष पर सवार होकर गा रहा है नारी स्वाधीनता का गीत। जड़ता टूट रही है, धर्मशास्त्र भटक रहा है और कलाशास्त्र-सौंदर्यशास्त्र थोड़े से डालरों में एक रात सोने को 'सौभाग्यवती' मान रहा है। नारी के धोती दर्शन पर जींस-कल्चर की यह अद्‌भुत विजय है। इस फैशन और पैशन का अर्थ है नव-नारीवाद का 'स्वातंत्र्य-मूल्यबोध'। मीडिया और स्त्री का रिश्ता ही मीडिया समाज-संस्कृति से सीधा रिश्ता है। बाकी सभी राग-रिश्ते संचारी भाव हैं।

रात-दिन इसी संकल्प के साथ मीडिया स्त्री की सशक्त उपभोक्ता इमेज निर्मित कर रहा है। बात यहां तक पहुंच गई है कि मीडिया के माध्यम से स्त्री सीधे-सीधे बाजार में अपनी 'कीमत' का भाव-ताव कर रही है। अब पति देवता नहीं रहा। केवल 'ठप्पा' रह गया है। बाज़ार स्त्री की रुचियों से पट गया है।

मीडिया उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन के लिए स्त्री-छवि का उपयोग कर रहा है। अब स्त्री ही भोक्ता है, स्त्री ही भोग्या है, स्त्री ही सेक्स अपील है। मीडिया उसे बताता है कि वह कैसे क्रीम, पाउडर, लिपिस्टिक, बुंदा, हार, हीरा धारण करने पर 'दामिनी की दमक' ओढ़कर पुरुष पर धाक जमा सकती है। इस तरह भूमंडलीय बाजारवाद और बहुराष्ट्रीय निगमों का बढ़ता वर्चस्व स्त्री का ही वर्चस्ववाद है। पूरा कास्मैटिक उद्योग, डायटिंग उद्योग स्त्री के संकेत पर नाच रहा है और हर तरह का विश्वामित्र उधर ही भाग रहा है। यह है न चकित करने वाला नव-नारीवाद, जिसमें 'आत्मा' नहीं है। सिर्फ देह है, देहवाद की स्त्री-भाषा है। मीडिया पर स्त्री-यौन और स्त्री देह की खुलकर चर्चा, नया बौद्धिक-सांस्कृतिक विमर्श है। नव पूंजीवादी मीडिया स्त्री को केवल 'निम्फोमेटिक' ही मानता है। यही उसकी बोल्ड छवि है। 'प्रगति' और 'विकास' का संदर्भ है। अमेरिकी संस्कृति का 'ग्लोवल मैन' बन जाना। आदमी ने औरत को सुख देने के लिए अपना पूरा कामशास्त्र उसे समर्पित कर दिया है।

अब 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहि नारी' का तुलसीदासी स्वर निरर्थक हो गया है। हिंदी के पूरे मध्यकालीन साहित्य का आज कोई अर्थ ही नहीं रहा। गांधी और लोहिया ने राम-सीता और कृष्ण-द्रौपदी के बीच जो संबंध-सेतु बनाया था, वह टूट गया है। मीरा की कृष्ण-भक्ति नारी के लिए 'आत्महत्या' है और राधा-प्रेम आध्यात्मिकता का धोखा। यही है नारी की दृष्टि से स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह। इस विद्रोह में सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा और कृष्णा सोबती के नारी-चिंतन, नारी दलित-चिंतन को जगह नहीं है। अब न सीता को अग्नि परीक्षा से गुज़रना है, न किसी पार्वती को यज्ञ दाह करना है। उसका अपना बहुलतावाद नया ध्वन्यालोकी स्फोटवाद बन गया है। रघुवीर सहाय की कविता 'पढ़िए गीता, बनिए सीता', फिर इस सबमें लगा 'पलीता' का नया ध्वन्यर्थ नारी-सामाजिकता को परोस कर नया ध्वनि-संप्रदाय रच रही है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' का भावमंत्र ही धोखा सिद्ध हो गया और दिनकर की 'उर्वशी' का विचार 'कसे रहो बस इसी भांति उर पीड़क आलिंगन में' नया सिद्ध नाथ रस का यथार्थ हो गया है। 'मिस इंडिया' तथा 'मिस यूनीवर्स' की सौंदर्य प्रतियोगिताओं ने नारी को बिकाऊ बना दिया है अर्थात जो सुंदर है वह बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए बिकाऊ माल है, व्यापार है, धंधेबाजी का समाजशास्त्र है।

ऐसा डिजिटल एज आ गया है कि 'वर्जिन इंडिया' का अर्थ हवा हो गया है और 'अनटच्ड वाई ह्यूमन हैंड' की पूरी अवधारणा भस्म हो गई है। नारी के प्रति विक्टोरियन दृष्टिकोण या आर्य समाजी दृष्टिकोण या समाजवादी वामपंथी दृष्टिकोण से समीक्षा अब उपहास का कारण बनती है, क्योंकि वामपंथी नारी की 'अंधा होत भुजंग' के दर्शन से बचाने में ही खेत रहे हैं। उनकी 'करनी' ने नारी को ब्लैकमेल किया है। इसलिए कोई सिमोन बुआर और प्रभा खेतान उनके साथ नहीं है।

राजेंद्र यादव का नारीवाद 'सद्‌गति' पाकर अपराध-बोध बन गया है। स्मरणीय खलनायक की नारी लीला का उज्ज्वल नीलमणिवाद दलित-पीड़ा में गल गया, बह गया। यहां पता ही नहीं है क्या है नारी-मुक्ति 'दिवराला की सती' और 'नैना साहनी तंदूरकांड' का पूरा लंकाकांड, मृणाल पांडे की 'परिधि पर स्त्री' का हारमोनियम बज रहा है। भ्रष्टाचार रात का नगाड़ा है, जिसे सत्ता के प्रेत बजा रहे हैं और वे सब ग.मा. मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' के जुलूस में चल रहे हैं। इस जुलूस को भवानीप्रसाद मिश्र की कविता 'सन्नाटा' नए भाष्य में प्रस्तुत कर रही है।

धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' से जीवित निगले कृष्ण गा रहे हैं-'इन फ़िरोज़ी ओठों पर बर्बाद मेरी ज़िंदगी' और कृष्ण की 'कनुप्रिया' कंप्यूटर कोर्स करके अपने वॉस को बेहोश कर रही है। जवानी, मस्ती, फक्कड़पन, दीवानापन, सब कुछ लुटा देने का कबीर भाव बच्चन-नवीन-दिनकर राग में राजकमल चौधरी की 'कंकावती' और मृदुला गर्ग के 'चित्तकोबरा' का आधुनिक दमित अर्थ समझा रहा है। हर तरफ आनंद की लूट और लंपट-रस का गढ़ा जाता रसशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र। दोनों शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन नव-नारीवाद के प्रतिमान बनाने में व्यस्त है।

नवनारीवाद नारियों की पीड़ा की रामायण को 'आरक्षण' या 'रक्षण' नहीं दे रहा है। हिंदू-संस्कृति का भस्मासुर मीडिया को भरमा रहा है लेकिन उसे त्रिपुरसुंदरी, महिषासुरमर्दिनी नहीं मिल रही है। उसे ब्रांड बना दिया गया है, धन की वर्षा हो रही है। आदमी दृष्टि-चेतना में 'तन्वी श्यामा' और यक्ष की व्यथा नहीं है। एक सेलुलर फोन की कॉल पर उपलब्ध 'आवाज़' बन गई है। कथाकार मनोहर श्याम जोशी उस औरत को बुलाकर किसी नायक की संडास में गांठ खुलवा सकते हैं। इसलिए अब कोई भी गोविंद किसी भी उमा से प्रेम-प्रसंग की मजबूरी नहीं पूछता है। हिंदू-धर्म की मनुवादी वर्ण-व्यवस्था ब्राह्मण-दलित का विवाह-मंडप रच उठी है। और हिंदू-मुसलमान-ईसाई सभी लड़के अपने व्यवसाय की लड़कियां पकड़ रहे हैं। यह नया शुक-शुकी, भौंरा-भ्रमरी प्रेम-विमर्श है। कविता की सभी कथानक रूढ़ियां, कथा-समय, कथा-अभिप्राय, कथा साहित्य में आदर से स्थान पाकर स्त्री-पाचक त्रिफलाचूर्ण हो गए हैं। भूख बढ़ रही है और हाज़मा दुरुस्त। उत्तर-आधुनिकता के समय की कटीली, सजीली, नायिकाओं का खेल नारी की आद्या शक्ति का रूपक बनकर सांस्कृतिक जड़ों की तलाश कर रहा है।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' से गलबहियां डाल मनोहर श्याम जोशी का

पृष्ठ 43 पर जारी

— आलेख —

स्त्री की रचनात्मकता : कल, आज और कल

स्त्री की रचनाशीलता पुरुष की रचनाशीलता से भिन्न तभी मानी जा सकती है जब हम मान कर चलें कि स्त्री-पुरुष की संवेदन शक्ति के बीच नैसर्गिक अंतर होता है। ऐसा मानने के लिए मेरे पास कोई वैज्ञानिक या तर्क सम्मत कारण नहीं है। कुछ स्त्रियां अवश्य ऐसा मानती रही हैं। नारीवाद के प्रारम्भिक दौर में इस मान्यता का ख़ासा चलन था। पर जैसे-जैसे दृष्टि परिपक्व होती गई, विचारकों की समझ में आता गया कि इस मान्यता के पीछे भावावेग के सिवा कुछ नहीं है, चर्चा कर रही हैं वरिष्ठ कथाकार **मृदुला गर्ग**

1972 में जब मैंने लिखना शुरू किया तो क़रीब-क़रीब सभी आलोचकों ने यह कहा कि यह तो भई आप आज की नहीं किसी अनजान भविष्य की स्त्री के बारे में लिख रही हैं। पर स्त्री पाठकों की राय में (पत्रों द्वारा वे बराबर मुझे उससे अवगत करवाती रहीं) मैं उनके बारे में लिख रही थी। तो मैंने निष्कर्ष निकाला कि मैं स्वयं और मुझे पढ़ने वाली स्त्रियां, भविष्य की स्त्रियां होंगी। यह सत्तर-अस्सी के दशकों की बात है। उस ज़माने में साहित्य के पाठक काफ़ी होते थे, जितने अब नहीं हैं-पर अब की तरह तब भी आलोचक अधिकतर मर्द थे।

वे इस भावार्थ को पकड़ नहीं पाए कि कल, आज या आगामी कल की स्त्री में मूलभूत कोई अंतर नहीं है। सिर्फ़ इसमें है कि वह सब जिसे वे खुद जानती और मानती हैं, उसे किस हद तक, पाठकों के ख़ासकर मर्दों के सामने लिख-बोल सकती हैं। संवेदनशील पाठकों ने उसे समझ लिया था, सिर्फ़ स्त्रियों ने नहीं मर्दों ने भी।

साहित्य सृजन स्त्रियां सदियों से कर रही हैं। पर अपने विषय में बेबाक तरीके से जो सृजन उन्होंने किया वह अधिकतर वाचिक था और उसका वाचन मुख्यतः स्त्रियों के बीच होता रहा था। लिखित का प्रतिशत कम था और निस्वतन वह उतना मुखर या बेबाक नहीं था, जितना वाचिक साहित्य। आज जो भय-लज्जा रहित स्त्री लेखन किया जा रहा है, वह स्त्री-पुरुष दोनों के समक्ष प्रस्तुत होता है। काव्य की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। हम इसे लज्जा परित्याग की संज्ञा दे सकते हैं। यह सही है कि हम नहीं जानते हमारा पाठक कौन है, जिससे लज्जा और डर से छुटकारा पाना कुछ सरल हो जाता है। पर नाराज़ होने पर पाठक अपनी उपस्थिति उग्र रूप में प्रकट कर देता है और कई लेखक उसकी और आलोचकों की नाराज़गी से डर जाते हैं।

बतौर रचनाकार, अगर मैं अपने बारे में सोचती हूं तो तथ्यात्मक रूप से ये बातें सामने आती हैं-

मैं एक रचनाकार हूं।

मैं भारतीय हूं।

मैं हिंदी में लिखती हूं।

मैं एक स्त्री हूं।

प्रश्न उठता है, क्या मेरा स्त्री होना मेरे रचनाकार को सीमित, प्रभावित या परिभाषित करता है? सीमित या परिभाषित नहीं करता, यह मैं विश्वास के साथ कह सकती हूं क्योंकि ऐसा मैं महसूस करती हूं। उससे ज़्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता। यह गणित का सिद्धांत नहीं है कि इसके बारे में निर्विवाद तार्किक निष्कर्ष दिया जा सके। बात अहसास तक ही महदूद रहेगी। इसलिए यह क़तई ज़रूरी नहीं है कि जो मेरा अहसास हो, वही अन्य मादा लिंग धारियों का भी हो। स्त्रियों के बीच भावबोध के अंतर की संभावना को नकारने पर बहुत से ऐसे सरलीकरण किए जाते हैं जो हमारे विमर्श को सतही और एकांगी बनाते हैं। रचनात्मकता को बचाने के लिए सरलीकरण से बचना ज़रूरी है क्योंकि सामाजिक सरोकारों और स्थितियों से प्रभावित होने के बावजूद, अंततः सृजन वैयक्तिक कर्म रहता है।

फिर सवाल उठता है कि क्या मेरा रचनाकार मेरे स्त्री होने से प्रभावित होता है?

उसका जवाब देने से पहले मुझे पूछना पड़ेगा कि क्या वे स्थितियां जिनमें मेरी रचना जन्म लेती हैं या वे स्थितियां, जिनमें मैं हस्तक्षेप करती हूं, उन स्थितियों से भिन्न हैं, जो एक पुरुष रचनाकार की रचना का परिप्रेक्ष्य बनाती हैं? भिन्न हैं तो किस अर्थ में? मुझे कहना होगा कि नब्बे फ़ीसदी स्त्री पुरुष रचनाकार के लिए, स्थितियां भिन्न नहीं हैं।

मानव स्थिति के मूलभूत प्रश्नों को लें जैसे जन्म-मृत्यु, राग-द्वेष, भोग-त्याग, समय से हमारा अंतरसंबंध; तो वे, स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से वैचारिक मंथन के लिए बाध्य करते हैं। अगर परिवर्तनशील सामाजिक व व्यवहारिक स्थितियों को लें जैसे वर्ग, जाति, पीढ़ी आदि के मानवीय अंतरसंबंध, तब भी वे दोनों के लिए एक जैसा सामाजिक व वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य बुनते हैं। सामजिक धरातल पर देश की स्वतंत्रता या परतंत्रता, स्वतंत्र देश में असमानता व भष्टाचार की क्रूर सच्चाई, निर्बल व बच्चों के प्रति होने वाला अनाचार, पर्यावरण का ह्रास व दोहन, नैतिक मूल्यों का क्षरण, मुझे उसी तरह उद्वेलित करते हैं, जैसे अन्य संवेदनशील रचनाकार को, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। वैयक्तिक धरातल पर प्रेम का प्रतिफलन, आर्थिक निर्भरता, प्रकृति का साहचर्य, पुरानी और अगली पीढ़ी से संघर्ष या सहयोग मुझे उसी तरह प्रासंगिक लगते हैं जैसे अन्य संवेदनशील मनुष्य को, पुरुष हो अथवा स्त्री। यानी कसौटी लिंग नहीं संवेदनशीलता है।

स्त्री की रचनाशीलता पुरुष की रचनाशीलता से भिन्न तभी मानी जा सकती है जब हम मान कर चलें कि स्त्री-पुरुष की संवेदन शक्ति के बीच नैसर्गिक अंतर होता है। ऐसा मानने के लिए मेरे पास कोई वैज्ञानिक या तर्क सम्मत कारण नहीं है। कुछ स्त्रियां अवश्य ऐसा मानती रही हैं। नारीवाद के प्रारम्भिक दौर में इस मान्यता का ख़ासा चलन था। पर जैसे-जैसे दृष्टि परिपक्व होती गई, विचारकों की समझ में आता गया कि इस मान्यता के पीछे भावावेग के सिवा कुछ नहीं है।

तब बात सिर्फ़ इतनी बचती है।

जब समाज में अन्य व्यक्तियों से मेरा संपर्क होता है तो क्या उनका व्यवहार मेरे स्त्री होने से प्रभावित व स्खलित होता है? अगर हां तो मेरी सामाजिक पृष्ठभूमि और प्रतिष्ठा व मूल्य उससे प्रभावित होंगे और उसके माध्यम से वैयक्तिक भावबोध भी कुछ हद तक प्रभावित होगा। दुर्भाग्य से इसका उत्तर 'हां' है।

ऐसा क्यों है, उसके कारण हमें, समाज में स्त्री की स्थापित छवि में मिलेंगे जो सदियों से बनी रह कर, अब तक रूढ़ हो चुकी है। यहां यह कहना ज़रूरी है कि स्त्री-विमर्श के सिद्धांत गढ़ने से पहले, हमें स्त्री अनुभव पर गहराई से सोचना चाहिए। रचना के सूत्र अनुभव में मिलेंगे विमर्श में नहीं और विमर्श के सूत्र रचना से निकलेंगे, उससे उलट दिशा में नहीं।

समाज में छवि जो हो इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि स्त्री अनुभव के कुछ सर्वथा निजी एकांतिक पक्ष भी हैं। मैं ऐसे दो एकांतिक पक्षों पर बात करना चाहती हूं। मैं समझती हूं कि समाज में स्त्री की छवि पर उनका गहरा और व्यापक असर पड़ा है। एक तरह से कह सकते हैं कि स्त्री अनुभव के एकांतिक पक्षों का संबंध उसकी दैहिक संरचना से है। पर उसके साथ यह भी तय है कि उनसे संपर्क या संघर्ष में आने पर समाज में ऐसी स्थितियां पैदा होती आई हैं जो मूलतः स्त्री के प्रति समाज के व्यवहार और दृष्टि को गढ़ती रही हैं। उनका साक्षात्कार, प्रतिरोध और उनसे मुठभेड़ हम में से अनेक रचनाकारों की रचनात्मकता को प्रभावित करती रही होगी। जो स्त्रियां हैं केवल उनकी नहीं जो पुरुष हैं उनकी भी।

पहला एकांतिक जैविक अनुभव है, गर्भाशय का होना। यह स्त्री का वह एकांतिक प्राप्य है जो संवेदनशील से संवेदनशील पुरुष के पास नहीं है। प्रश्न उठता है कि क्या गर्भाशय होने का अर्थ मात्र नौ महीने गर्भ धारण करना है? क्या उन नौ महीनों को निकाल दें तो, जैसा एक नवयौवना ने हाल में मुझसे कहा, बाकी सब एक जैसा हो जाता है? क्या गर्भ धारण या उसकी संभावना का स्त्री की भावभूमि या भावबोध पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता? मैं समझती हूं कि पड़ता है। वैयक्तिक तौर पर भी और समाज से होने वाली भिड़ंत में भी।

मातृत्व वह अकेली सामर्थ्य है जहां एक प्राणी दूसरे जीव को बिना किसी बाह्य निधि का सहारा लिए, स्वयंसिद्ध तरीके से, पहले नौ महीने गर्भ में और एक-डेढ़ साल जन्म के बाद जीवित-पोषित रख सकती है। पशु-पक्षी-मनुष्य सब पर यह नियम लागू होता है। ऐसी संपदा या शक्ति अन्यत्र नहीं है। पर यही शक्ति स्त्री की सबसे बड़ी कमज़ोरी भी बनती है। पारिवारिक और सामाजिक सत्ता शिशु से स्त्री के अतिरिक्त लगाव को उसे कमज़ोर बनाने और उसका शोषण करने के लिए इस्तेमाल करती रही है।

मातृत्व के अनेक आयाम हैं और हर आयाम पूर्वाग्रहों से जुड़ा रहा है। ज़्यादातर पूर्वाग्रह मातृत्व को महिमा मंडित करते हैं। पर बीसवीं सदी के उग्र नारीवाद ने मातृत्व को स्त्री की पांव की बेड़ी बतलाकर एकदम विपरीत पूर्वाग्रह को जन्म दिया। गर्भपात के अधिकार को नारी स्वातंत्र्य का एक घटक मान लिया गया। विडंबना देखिए कि लड़ाई छिड़ी पश्चिम के संपन्न देशों में और अधिकार मिला ग़रीब हिंदुस्तानी औरत को, जिसके पास अपने निर्णय स्वयं लेने का न आर्थिक आधार था, न संस्कृति। परिवार के दबाव के नीचे गर्भपात के तथाकथित अधिकार के उपयोग का जो नतीजा हो सकता था, वही हुआ। भ्रूण में मादा की हत्या का बहाना मिल गया। यानी सामर्थ्य को असमर्थता बना दिया गया। नई बात नहीं थी। उस संस्कृति की परिणिति भर थी जो स्त्री को, सदियों से मातृत्व के विषय में स्वयं निर्णय लेने के अधिकार से वंचित किए रही थी। आज नारीवाद के उत्तर युग में मातृत्व को फिर से शक्ति के रूप में पहचाना जा रहा है। उसके कारण भी हम सांस्कृतिक, ऐतिहासिक व प्रौद्योगिक परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं।

पुराने ज़माने में स्त्री के लिए संभोग का आह्लाद अनचाहे गर्भ धारण की आशंका से आक्रांत रहता था। अनचाहा इसलिए क्योंकि पुरुष सत्तात्मक समाज ने मातृत्व को महिमा मंडित ज़रूर किया था पर केवल उसी को जो पुरुष से विवाह के बाद प्राप्त हो। विवाह पूर्व या विवाहेत्तर प्रेम से ठहरे गर्भ को कलंकित माना जाता था। यानी स्त्री की गरिमा मां बनने में नहीं, पुरुष को विधिवत् पिता बनाने में थी। स्त्री की अनन्य सामर्थ्य से जो सत्ता जन्म ले सकती थी उसके भय से उबरने का पुरुष के पास यही उपाय था कि उसे अपने संरक्षण और प्रभुत्व में ले ले। उसके बिना स्त्री मां बनने से डरे। मां बनने से डरेगी तो संभोग से, प्रेम से, अपनी प्रकृति से डरेगी। डरेगी तो उस आह्लाद को नकारने लगेगी जो केवल शिशु प्राप्ति में नहीं, प्रेम, संभोग व शिशु जन्म तीनों में निहित है। धीरे-धीरे मां बनने की सहज इच्छा को औरत ने चादर, बुर्के, घूंघट की तरह अपने अस्तित्व पर ओढ़ लिया। शिशु जन्म नैसर्गिक न रहकर सामाजिक कर्म बन गया। पहरेदारी पर पुरुष सत्ता बैठ गई।

फिर वह समय आया जब स्त्री के हाथों में वह प्रौद्योगिक क्षमता आई जिसने संभोग से अनचाहे गर्भ धारण का डर मिटा दिया। इसलिए यही वह समय है जब हम मातृत्व के जटिल प्राकृतिक और वैयक्तिक पक्ष को समझने की कोशिश कर सकते हैं। पर उसे व्यापक अर्थ देकर उसे शिशु जन्म तक सीमित न रख कर पोषक तत्व की तरह पहचान कर, जो सिर्फ़ बच्चे का नहीं, किसी भी ज़रूरतमंद प्राणी, संस्था, पर्यावरण व परिवेश का पोषक हो सकता है। निहितार्थ यह कि यह तत्व केवल स्त्री में नहीं पुरुष में भी पाया जाता है। आज स्त्री की रचनात्मक उर्जा स्वतंत्र महसूस करके अपने इस एकान्तिक अनुभव को शब्द दे सकती है।

लंबे समय तक अनेक पुरुष और कुछ स्त्री लेखक भी प्रसव को तिलिस्म से मढ़ कर अपने कथा साहित्य में उसका चित्रण करते आए हैं। पर अपने रोज़मर्रा के जीवन के हिस्से की तरह उसके धरती पकड़ रूप को हर मुमकिन कोण से देखकर उसका बहुआयामी चित्रण स्त्रियों ने ही किया है। टेनी मारिसन (विलवड), नाद्या तेसिच (आख़िरी बयान की तलाश में), मंजुल भगत (नागपाश), निकोल वार्ड जोव (फ़ोर्सेप वर्थ) आदि अलग देशों की स्त्री लेखकों की वे कहानियां हैं जो इस विषय को अनेक कोणों से देखती हैं। बिला तिलिस्म की रेत में सिर घुसाने की ज़रूरत महसूसे उसे हास्य व्यंग से लेकर भय और करुणा के साथ देखती हैं। 1950 में प्रकाशित मेरी कहानी 'वह मैं ही थी' शायद प्रसव पर लिखी पहली कहानियों में से हो।

हिंदी साहित्य में मातृत्व के व्यापक रूप का चित्रण सभी महिला कथाकारों ने किया है। चाहे वे मन्नू भंडारी (आपका बंटी), मंजुल भगत (नालायक़ बहू), राजी सेठ (मार्था के देश में व गणित ज्ञान), सुधा अरोड़ा (महानगर की मैथिली), ममता कालिया, चंद्रकांता, कमल कुमार जैसी वरिष्ठ लेखिकाएं हों या अस्सी के दशक के बाद की अलका सरावगी, गीतांजलीश्री, सारा राय जैसी लेखिकाएं या नीलाक्षी सिंह, महुआ माझी, अल्पना मिश्र, जैसी नई लेखिकाएं।

इस सच्चाई से भी हम मुंह नहीं मोड़ सकते कि हज़ार अन्य उपलब्धियों के बावजूद अधिकतर प्रज्ञावान से प्रज्ञावान स्त्री अच्छी मां बनने का आदर्श मन में संजोए रखती है। अपने लंबे अनुभव में मैंने सफल से सफल स्त्री को माहवारी बंद होने की बाद की वय में उस बच्चे के लिए ललकते देखा है,

जो युवावस्था में कामकाजी सफलता और व्यस्तता के मद में डंके की चोट पर उसे नहीं चाहिए था। उसी वय में बच्चों वाली स्त्रियां उनके पालन-पोषण में अपनी प्रतिभा के उत्सर्ग को याद करके वे वैसे ही कलपती हैं जैसे उनकी सफल सहोदरा अजन्मे बच्चे के लिए। उन दोनों से अच्छी हालत तो उस औरत की होती है जो बच्चों और नौकरी दोनों को संभालते हुए अपराधबोध से ग्रस्त रही थी कि कहीं उसकी महत्वाकांक्षा बच्चों की उपेक्षा तो नहीं करवा रही? या बच्चों की परवरिश कामकाज के आड़े तो नहीं आ रही? कम अज़ कम उसे तनी रस्सी पर चलने का रोमांच तो मिला था। भविष्य की स्त्री के लिए मेरी मनोकामना है कि वह कसी रस्सी पर चलने के रोमांच का कभी त्याग न करे।

मातृत्व के अनेक आयाम हैं और हर आयाम पूर्वाग्रहों से जुड़ा रहा है। ज़्यादातर पूर्वाग्रह मातृत्व को महिमा मंडित करते हैं। पर बीसवीं सदी के उग्र नारीवाद ने मातृत्व को स्त्री की पांव की बेड़ी बतलाकर एकदम विपरीत पूर्वाग्रह को जन्म दिया।

यानी मातृत्व उस सामर्थ्य और असमर्थता के घालमेल का नाम है जिसका सम्मोहन गर्भ धारण के नौ माह बाद चुकता नहीं; स्त्री के पूरे भावबोध व अस्मिता को प्रभावित करता है। स्त्री के ही नहीं पुरुष की अस्मिता और भावबोध को भी परिभाषित करता है क्योंकि पितृत्व की चाह रखने वाले पुरुष के लिए वह ईर्ष्या का विषय होता है। मुझे विश्वास है कि जिस दिन पुरुष अपने भीतर बसे मातृत्व या पोषक तत्व को पहचान लेगा, स्त्री-पुरुष के बीच की लड़ाई दो असमान जाति घटकों के बीच न होकर बराबरी पर खड़े व्यक्तियों के बीच होगी। दोनों आपसी आकर्षण-विकर्षण, प्रेम-द्वेष को स्वीकार करके हर संबंध को वैयक्तिक स्तर पर सुलटा पाएंगे।

स्त्री की दूसरी एकांतिक सच्चाई है, दैहिक व मानसिक बलात्कार की आशंका। उसका संबंध स्त्री के प्रति समाज के रवैये और नज़रिये से है। सामान्यतः बलात्कार की विकृत हिंसा स्त्रियों को अपना शिकार बनाती है। यद्यपि आजकल नर बालक भी यौन विकृति जन्य बलात्कार के शिकार बन रहे हैं।

बलात्कार का चित्रण साहित्य में शुरू से होता आया है पर उसे देखने की दृष्टि में ज़बरदस्त गुणात्मक अंतर आया है। और वह साहित्य में स्त्री की बदलती छवि और स्त्री विमर्श के बदलते रूपकों के कारण आया है। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अधिकतर कृतियों में बलात्कार को सती-च्युत होने या इज़्ज़त लुटने का पर्याय माना जाता था। इज़्ज़त जाना न मानकर उसे हिंसा माना जाए तो अन्य हिंसा के शिकार की तरह, बलात्कृत स्त्री में आक्रोश या रोष होगा पर अपराधबोध नहीं। पर उसके साथ हमें यह याद रखना होगा कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बलात्कार की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि उस पर कोई एकांगी तर्क लागू नहीं किया जा सकता। बलात्कार, स्त्री के स्त्री होने की अस्मिता का ही हनन नहीं करता, समाज में उसके स्तर, हैसियत व छवि पर भी प्रश्नचिह्न लगाता है। साथ ही उसके मन में अपने भावात्मक व मानवीय संबंधों के बारे में संशय पैदा करता है। उसे उन पर दुबारा सोच-विचार करने पर बाध्य करता है। ज़ाहिरी तौर पर स्त्री में रोष और प्रतिशोध की चाह हो तब भी भीतर-भीतर वह द्वंद्व की स्थिति में रहती है। अपनी योग्यता और उत्कृष्टता से उसका विश्वास न भी हटे पर साथी मर्दों पर संदेह और अविश्वास की भावना ज़रूर प्रबल होती है। समस्या तब और जटिल हो जाती है जब समाज में इतना भी परिवर्तन नज़र न आए, जहां कम से कम उसके तथाकथित प्रगतिशील सदस्य, बलात्कार को इज़्ज़त लुटना न मान कर हिंसा मानने को तैयार हों।

स्वयं बलात्कार का अनुभव न करने पर भी उसकी आशंका स्त्री रचनाकारों को त्रस्त करती आई है, इसीलिए वह उनके लिखे साहित्य का अंग रहा है। समाज भले अब भी न बदला हो पर उसका पथ प्रदर्शन करने वाली ऐसी कहानियां ज़रूर लिखी जाने लगी हैं, जो बलात्कृत स्त्री को अपराधबोध मुक्त रहने की छूट देती हैं। चंद्रकांता की 'आवाज़', चित्रा मुद्गल की 'प्रेतयोनी', मंजुल भगत की 'काली लड़की का करतब', ममता कालिया की 'जांच अभी जारी है', नासिरा शर्मा की 'बिलाव', सिम्मी हर्षिता की 'ठहरी हुई बूंदें', कमल कुमार की 'नहीं बाबूजी नहीं', राजी सेठ की 'परतें', नमिता सिंह की 'जंगलगाथा' बलात्कार की जटिल प्रक्रिया और प्रकृति की सूक्ष्म छानबीन करती हैं, साथ ही समाज में व्याप्त विषमता को उसके लिए ज़िम्मेवार भी ठहराती हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे आलोचक व बुद्धिजीवी भी ऐसी मुद्रा अपनाते हैं जैसे बलात्कार का चित्रण और यौनेच्छा का चित्रण एक ही बात हो। फिल्मों में यह प्रवृत्ति बरसों से हावी रही है। हमारे चारों तरफ़ के दूषित और विकृत वातावरण का एक कारण यह प्रवृत्ति रही है।

यह याद रखना ज़रूरी है कि बलात्कार की पूर्व पीठिका यौनिक अनाचार तैयार करता है। स्त्री की यौनिकता से ताल्लुक रखने वाली तमाम हरकतें, फब्तियां, इशारे आदि, व्यवहार में प्रकट हों या बातचीत में, स्त्री को असुरक्षित महसूस करवाते हैं। उसके स्वाभिमान व अस्मिता का हनन करते हैं। उस अवमाननापूर्ण वातावरण में वह अपनी सर्वोत्तम कार्यदक्षता पर नहीं पहुंच पाती। यह असुरक्षा का वातावरण हमारे हर शहर और कस्बे में हर जगह व्याप्त है। दफ़्तर में, यातायात में, सड़क पर, हर उस जगह जहां स्त्री-पुरुष का आमना-सामना होता है। इस असुरक्षा के वातावरण पर बराबर उंगली रखी जाती रही है। न जाने कितने स्त्री-पुरुष लेखकों ने इस विषय पर उल्लेखनीय कहानियां लिखी हैं।

पर तमाम जागरूकता के बावजूद उन सामाजिक स्थितियों में बदलाव आता दिखलाई नहीं देता जो स्त्री को बलात्कार का शिकार बनाती हैं। बल्कि त्रासद सच्चाई यह है कि उसकी घटनाएं बढ़ रही हैं। हमारी विषम और विकारपूर्ण प्रगति में कुछ प्रतिशत स्त्रियां तो हर क्षेत्र में काम करने के लिए घर से बाहर निकलने लगी हैं पर अधिकांश, चारदीवारी में बंद रहकर ही कड़ी मेहनत करती हैं, जिसका ऋण कोई नहीं स्वीकारता। वे ख़ुद को दोयम दर्जे का प्राणी मानती रही हैं और आज भी मान रही हैं। दिक्कत यह है कि जो स्त्रियां काम करने बाहर निकलती हैं, उनकी प्रतिस्पर्धा हमारे शिक्षित पुरुषों को स्वीकार्य नहीं है। कार्य क्षेत्र में कोई स्त्री पुरुषों से आगे निकल जाए; उनसे बेहतर काम करे तो अधिकतर पुरुष उसे बर्दाश्त नहीं कर पाते। मुझे लगता है, बरसोंबरस, हर तर्क और अनुभूति के विपरीत जाकर, ज़बरन स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी मानने के कारण, भारतीय पुरुष के भीतर एक असुरक्षा की भावना घर कर गई है। स्त्री की सफलता उसके भीतर हीन भाव पैदा करती है। और वह उसका प्रतिकार यौनिक अनाचार और अत्याचार द्वारा करता है। उसी की निकृष्ठ व लज्जाजनक परिणति, हिंसक बलात्कार में होती है। उसका सबसे घृणित स्वरूप है, सामूहिक बलात्कार। कह सकते हैं कि वह हीन भावना की पराकाष्ठा है, जब एक अकेली स्त्री को प्रताड़ित करने के

पृष्ठ 19 पर जारी

स्त्री-विमर्श और वस्तु स्थिति

भारत में स्वतंत्रता के बाद कई कानून पास हुए, पैतृक संपत्ति में अधिकार दिलाने के लिए, घरेलू हिंसा और दहेज देने और लेने तथा बलात्कार के विरुद्ध बनाए गए कानूनों के बावजूद क्या वस्तु-स्थिति में कोई विशेष सुधार हुआ, इस पर विचार-विश्लेषण करने की आवश्यकता है, बता रही हैं ***कानन झींगन***

आज का स्त्री-विमर्श, 'नारीवाद' के सीमित दायरे से निकलकर व्यापक धरातल पर आ गया है। 17वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ शब्द 'नारीवाद' बदनाम था। पुरुष से घृणा करने के लिए, घर-परिवार को तोड़ने, अंतर्वस्त्र जलाने और गुलाबी गैंग जैसे कारनामों के लिए। इसके पीछे वे शक्तियां हैं जो स्त्री मुक्ति को समाज की संरचना के लिए चुनौती मानती हैं। भारत के बदलते समाज में पुरुषों के साथ बराबरी का जीवन जीने की चेष्ठा-स्त्री के प्रति हिंसा का मूल कारण है।

'स्त्री-विमर्श' में समानता, अपने जीवन पर नियंत्राण, काम करने की स्वतंत्राता, असामाजिक तत्वों से सुरक्षा जैसे विषयों पर बल दिया गया है। इसके साथ-साथ स्त्री-पुरुष दोनों के लिए न्यायसंगत समाज निर्माण के प्रयास भी सम्मिलित हैं।

इस संघर्ष का प्रारंभ 19वीं और 20वीं शताब्दी में हुआ। विदेशी राज्य, स्थानीय सामंतवाद के विरुद्ध उठी आवाज़ों में एक प्रखर आवाज़ स्त्री की पराधीनता के अस्वीकार की भी थी। इसने आकार लिया सती-प्रथा, पर्दा और बहु-विवाह के निषेध की मांग के रूप में। इसके अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, स्त्री-मुक्ति के लिए भी समाज सुधारकों ने जागरूकता लाने के प्रयत्न किए। इस प्रकार की प्रवृत्ति के सूत्र छठी शताब्दी ई.पू. बौद्ध धर्म से जोड़े जा सकते हैं। अपने शिष्यों में भिक्षुणी के रूप में स्त्री को स्वीकार करने पर महात्मा बुद्ध ने विचार किया था। 12वीं शताब्दी में संत स्त्रियों में महादेवी अक्का ने परिवार और समाज के विरुद्ध जाकर सामाजिक रूढ़ियों में बाल-विवाह, जातिवाद और लैंगिक भेदभाव का विरोध किया। पुरुष की सत्ता को नकारा और शैव-भक्ति साधना की।

14वीं शती में उत्तर भारत में कश्मीर की संत ललदेद्द शिक्षित थी। शिव चेतना में लीन वह पति और सास की प्रिया न बन पाई। उस पर हुए अत्याचार एक उक्ति से सिद्ध होते हैं-'चाहे बकरा कटे या भेड़, बहू को तो छिछड़े ही मिलेंगे।' उसकी यह उक्ति कश्मीरी भाषा का मुहावरा बन गई। परिवार तथा समाज का तिरस्कार और बदनामी सहकर भी वह अपने लक्ष्य से पीछे नहीं हटी। अपने एक 'वाख' में उसने अपनी स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया-

काठ के धनुष पर रखा
घास का तीर हूं मैं,
अनाड़ी बढ़ई के हाथ
में है मेरा महल,
बीच बाज़ार में हूं मैं
दुकान बिना ताले की,
कौन समझेगा मेरी पीड़ा।

राजस्थान में मीराबाई ने 16वीं शताब्दी में राजसी मर्यादाओं को तोड़कर महलों के ऐश्वर्य का त्याग किया। परिवार के मारक प्रहारों को सह कर भी अपने आराध्य कृष्ण की धुन में मेवाड़ छोड़कर मेड़ता आ गई। इकतारा हाथ में लिए साधु-संतों के साथ नृत्य-कीर्तन करती हुई वृंदावन और फिर द्वारका पहुंच गई।

आधुनिक युग में इस दिशा में लिखने वाली महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, आशापूर्णा देवी आदि लेखिकाओं की लंबी सूची है।

कोलंबो में हुए एक अध्ययन में स्त्रियों के अधिकारों के लिए एशिया के बहुत से देशों में काम करने वालों का उल्लेख है। 18वीं शताब्दी में चीनी विद्वान 'चैन हुंग मॉऊ' ने लड़कों और लड़कियों में शिक्षा के समान अवसरों पर प्रश्न उठाया था। कन्याओं की शिक्षा घर में रहकर कशीदा काढ़ने और रसोई में दक्षता प्राप्त करने तक क्यों सीमित थी? चीन में लड़कियों के पैरों में, बचपन से ही ऐसे जूते पहनाए जाते थे ताकि उनके पैर बड़े होने तक बढ़े ही न। वे तेज़ी से चल ही नहीं पाती थीं। 'कैंग यू वी' ने इस क्रूर, दुखद प्रथा को समाप्त करवाने का बीड़ा उठाया। ईजिप्त में 1855 में 'अहमद फेरस एल शिदायक' ने स्त्रियों की स्थिति में सुधार के प्रति जागरूक करने के लिए 'वन लैग क्रॉस ओवर दी अदर' शीर्षक पुस्तक लिखी। कासिम आमिन ने 'द न्यू वोमन' में इसी विषय पर लिखा। भारत में राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, रवींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सर सैयद अहमद के स्त्री मुक्ति के लिए किए गए प्रयासों से सब परिचित हैं।

पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों ने भी प्रशंसनीय कार्य किए। पंडित रमाबाई ने उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दू-धर्म की रूढ़ियों पर कठोर प्रहार किया। उनका कहना था कि इन रूढ़ियों के कारण स्त्री स्वतंत्रता छिन गई। इंडोनेशिया की 'कार्टिनी' ने कन्याओं को शिक्षित करने के लिए स्कूल खोला। चीन की 'जियुजिन' ने गृह-त्याग कर स्त्रियों की दशा में सुधार लाने के लिए राजनीति में बदलाव के लिए संघर्ष किया। उसी ने कहा था कि समानता के लिए क्रांति की शुरुआत घरों से होनी चाहिए। उसे बाद में कैद कर के प्राणदंड दिया गया था। लंका की 'सुगाला' आर गजामान नोना का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार विश्व-स्तर पर स्त्री-विमर्श जारी रहा।

भारत में भी स्वतंत्रता के बाद कई कानून पास हुए, पैतृक संपत्ति में अधिकार दिलाने के लिए, घरेलू हिंसा और दहेज देने-लेने तथा बलात्कार के विरुद्ध बनाए गए कानूनों के बावजूद क्या वस्तु-स्थिति में कोई विशेष सुधार हुआ, इस पर विचार-विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

पैतृक संपत्ति में जब भी कोई स्त्री अपना दावा दायर करती है तब

प्रायः परिवारों में शत्रुता का वातावरण बन जाता है। इसीलिए अधिकतर स्त्रियां ममतावश भाइयों के पक्ष में हस्ताक्षर कर देती हैं। अक्सर माता-पिता वसीयत में बेटों का ही नाम लेते हैं और स्पष्ट कर देते हैं कि बेटियों को उनका दाय विवाह में दिया जा चुका है। संपन्न परिवारों में ब्याही गई बेटियों को कोई फर्क नहीं पड़ता परंतु जब विवाह टूट जाते हैं तो उनके लिए न कोई छत होती है न जीवन-यापन का कोई और साधन।

कई बार गृहणी को नौकरी पेशा स्त्री से कमतर आंका जाता है। 'मैं हाऊस वाईफ हूं' कहते हुए स्त्रियों की वाणी फुसफुसाहट में बदल जाती है। वास्तव में गृहस्थी चलाना किसी 'मैनेजमेंट' से कम नहीं। इसीलिए अब गृहणी को 'होममेकर' कहना अधिक उचित माना जा रहा है। उसके काम का मूल्यांकन करने की भी आवश्यकता है।

घरेलू हिंसा घर की चारदीवारी में ढकी-छुपी रहती है। उजागर तब होती है जब हालात जानलेवा बन जाते हैं। इस अंतिम सीमा तक पहुंचने से पहले पत्नी इसी उम्मीद में रहती है कि पति सुधर जाएगा। मारपीट करने वाला पति कभी अपनी आदत से बाज़ नहीं आता। इसीलिए यदि पहले आक्रामक हाथ को रोका न जाए तो वह बार-बार उठता ही रहता है। समाचार पत्रों में चौथाई वारदातों की रिपोर्ट ही आ पाती है, हिंसा के ऐसे प्रसंगों में स्त्री का शिक्षित होना, कमाऊ होना पति के लिए कोई मायने नहीं रखता।

दहेज एक सीमा तक किसी नव-विवाहित जोड़े को गृहस्थी बसाने के लिए आवश्यक सहायता के रूप में दिया जाए तो जायज़ लगता है। परंतु इसकी सीमा निर्धारित नहीं है। धनाढय करोड़ों का खर्चा करते हैं और अर्थहीन लोगों के मन में लोभ पैदा कर देते हैं। वर की तत्काल धनी होने की महत्त्वाकांक्षा लड़की के गले का फंदा बन जाती है। जब तक इन कानूनों को सख्ती से लागू नहीं किया जाएगा स्थिति जस की तस रहेगी। विवाह पर खर्चे की सीमा, बारात की निश्चित संख्या, सामूहिक विवाह और स्कूल-कॉलेज के स्तर पर छात्रा-छात्राओं में इस समाज विरोधी रिवाज के प्रति जागरूकता और आत्म-सम्मान की प्रवृत्ति उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है।

स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार कुछ हद तक रंग लाया है परंतु इसका लाभ नगर की स्त्रियों को अधिक मिला है। गांव की महिलाएं अब भी वंचित हैं। प्रत्येक वर्ष स्कूलों के परिणामों में लड़कियों की अपेक्षाकृत अधिक सफलता उनकी कुशाग्र बुद्धि सिद्ध करती है। बाद में उच्च शिक्षा प्राप्त करके वे ऊंची से ऊंची नौकरी पाती हैं और अपनी क्षमता का सौ प्रतिशत देकर योग्यता प्रमाणित करती हैं। वे आत्म संतोष प्राप्त करती हैं और आर्थिक स्वतंत्रता भी। दूसरी ओर घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियां उनके बढ़ते कदमों पर रोक लगाती रहती हैं। बच्चों को समय न दे पाने का अपराध-बोध सताता रहता है। उनका व्यक्तित्व कई दिशाओं में बंट जाता है और बाज़ीगरनी की तरह घर और ऑफिस के बीच बंधी रस्सी पर संतुलन बनाए रखना तलवार की धार पर चलने का उपक्रम बन जाता है।

शिक्षित और कामकाजी महिलाओं में एक वर्ग ऐसा भी है जो अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के चलते दंभी हो जाता है। परिवार की समरसता के लिए आवश्यक शील, विनय और संवेदना से वे दूर हो जाती हैं। आत्मकेंद्रित ये स्त्रियां अपने अधिकारों के प्रति सजग होती हैं परंतु कर्त्तव्यों की ओर से आंख मूंद लेती हैं। इनमें नारीवाद अपने कट्टर रूप में दिखाई पड़ता है।

कई बार गृहणी को नौकरी पेशा स्त्री से कमतर आंका जाता है। 'मैं हाऊस वाईफ़ हूं' कहते हुए स्त्रियों की वाणी फुसफुसाहट में बदल जाती है। वास्तव में गृहस्थी चलाना किसी 'मैनेजमेंट' से कम नहीं। इसीलिए अब गृहणी को 'होममेकर' कहना अधिक उचित माना जा रहा है। उसके काम का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। उच्च-शिक्षित स्त्री को यदि आर्थिक दृष्टि से कोई कमी नहीं है तो केवल प्रतिष्ठा के लिए नौकरी करने की ज़रूरत नहीं समझनी चाहिए। बच्चों की देखरेख और पूरे परिवार में समरसता लाने का कार्य कम आनंददायक नहीं होता।

आज की स्त्री के लिए सुरक्षा का आश्वासन परिवार, समाज और राज्य के लिए चुनौती बन चुका है। भरी भीड़ के सामने खड़ी लड़की को खींचकर कार में घसीट लेना आम बात हो गई। लोग मूक दर्शक बने रह जाते हैं। आज लगता है स्त्री का सबसे बड़ा भय स्त्री होना है। बलात्कारी के भय से परिवार आतंकित हैं। कुछ लोग स्त्री की वेशभूषा को दोष देते हैं। उनका कहना है कि वे पुरुष को अपराध करने के लिए उकसाती हैं। अभी हाल ही में आदिवासी लड़की को वहां की पंचायत ने दूसरे गांव के लड़के के प्रति आकर्षित होने के कारण सज़ा सुनाई कि तेरह पुरुष उसका बलात्कार करें। गांव के पुरुषों में उसकी देह को क्षत-विक्षत करने की होड़ लग गई। ऐसे लोग मानसिक रोगी हैं। ये सड़कों और बियाबानों में ही नहीं, अपने परिवारों में, निकट संबंधियों में भी विद्यमान हैं। इनकी हवस के पीछे नारी के प्रति अनादर की भावना है। इन्हें ज़रूरत है घर में ही शिक्षित करने की, नारी की अस्मिता को कुचलने वाली मानसिकता को ध्वंस करने की। ❑

संपर्क : 48, स्वस्तिक कुंज, सैक्टर-13, रोहिणी, दिल्ली-110085

स्त्री की रचनात्मकता ...

पृष्ठ 17 से आगे

लिए, पुरुष को साथियों की भीड़ जुटानी पड़ती है। हम इस प्रवृत्ति से तभी लड़ सकते हैं जब हम अपने बच्चों को शुरू से यह शिक्षा दें कि पुरुष और स्त्री समकक्ष है। कि हर लड़के को लड़की की इज़्ज़त इसलिए करनी चाहिए क्योंकि वह एक इंसान है, इसलिए नहीं कि वह मां, बहिन, बेटी आदि है। बचपन से शिक्षा पाने पर ही पुरुष स्त्री की बढ़ोतरी से ख़ौफ़ खाना बंद कर पाएगा; उसे सामान्य मानकर ग्रहण कर पाएगा। अब तक तो पुरुष क्या, खुद को जागरूक मानने वाली स्त्रियां भी स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी मानने की मानसिकता से उबर नहीं पाई हैं। विवाह की अनिवार्यता, तयशुदा विवाह, दहेज-प्रथा और विवाह के समय किया जाने वाला आडंबर आदि उसी मानसिकता के प्रतीक हैं। इस मानसिकता को निरस्त करने की दिशा में रचनाकर्म काफ़ी पहले से हो रहा है, इस पर और गहराई से विचार होगा तभी स्त्री-विमर्श सही मायनों में स्त्री अनुभव और रचनाकर्म से जुड़ पाएगा।

कल क्या होगा, काफ़ी हद तक इस पर निर्भर है कि हमारे पुरुष स्त्री की प्रतिस्पर्धा को स्वीकार कर पाएंगे या नहीं। करेंगे तभी आगामी कल की स्त्री सही मायनों में खुल कर सांस ले पाएगी और अपने विवेक का इस्तेमाल करके, नए मूल्यों की स्थापना करने वाला साहित्य रच पाएगी। ❑

संपर्क : ई-42 (भूतल), ग्रेटर कैलाश-II, नई दिल्ली-110048

— आलेख —

नारी चेतना के विविध पक्ष और कथा साहित्य

विपुल मात्रा में रचा जा रहा स्त्री-लेखन इस बात का प्रमाण है कि आज की नारी बदल रहे समय, समाज और उसके विद्रूपों, चुनौतियों के प्रति सजग-सचेत है। जहां देह मुक्ति की आवाज़ उठी है, वहीं स्त्री-पुरुष संबंधों में मैत्री और सौहार्द के लिए संघर्ष भी है। स्त्री शोषण, बलात्कार की समस्या, आतंकवाद से उपजे विस्थापन, ग्रामीण स्त्रियों की समस्याओं और स्वचेतना, रूढ़ियों-बेड़ियों और व्यवस्था की अड़चनों से भिड़ती आज की चेतना-संपन्न लेखिकाएं, स्व से पर की यात्राएं कर रही हैं। घरेलू से लेकर वैश्विक समस्याओं के प्रति सचेत लेखिकाएं अपनी समृद्ध सोच से साहित्य में अपनी भागीदारी निभा रही हैं, बता रही हैं वरिष्ठ साहित्यकार और कथाकार **चंद्रकांता**

नारी चेतना को स्त्री-विमर्श का पर्यायवाची न मानकर, दोनों के बीच के अंतर को समझने की जरूरत है। स्त्री-विमर्श, मूल रूप से, नारी चेतना से जुड़ी अवधारणा होने के साथ, स्त्री की प्रखर पक्षधर एक सामूहिक चेतना है, जिस पर पाश्चात्य 'फ़ेमिनिज़्म' और सीमोन द बोआर की पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' का प्रभाव है। सीमोन कहती हैं कि धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों ने स्त्री को समाज में दोयम दर्जे का बना दिया है। मार्क्स और एंगिल्ज़ ने स्त्री की स्थिति का वर्णन, सर्वहारा के खाते में रखकर किया है। नारी चेतना नारी की अस्मिता से जुड़ा ऐसा अहसास है, जो न किसी आंदोलन का मुहताज है और न किसी सामूहिक क्रांति का। वह स्त्री के निजी विवेक और निर्णय से जुड़ा उसका आत्मबोध है। उसमें घर-परिवार, समाजनीति, अर्थनीति और राजनीति में नारी की स्थिति, उसके अधिकार और उन अधिकारों की प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष की चेतना है। दोनों पक्ष नारी अस्मिता से जुड़े हैं। नारी चेतना में सामाजिक-धार्मिक अंधरूढ़ियों में दबी-पिसी नारी की आहें-कराहें ही नहीं हैं, शोषक व्यवस्था के विरुद्ध, उसका व्यक्तिगत विरोध भी है, और समाज में अपना स्पेस पाकर अपनी गरिमापूर्ण छवि गढ़ने का रचनात्मक प्रयास भी।

देखा जाए तो भारतीय नारी हर युग में सचेत रही है और अपने क्षमता-संपन्न अस्तित्व को प्रमाणित भी करती रही है। वेदों-पुराणों ने उसके मातृत्व और स्त्रित्व को मानव जाति की महान थाती मान, उसे पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठतर रचना कहा। मां, देवी, प्राण जैसे संबोधन दिए, लेकिन कालांतर में मानव प्रजाति के केंद्र में नारी की स्थिति कमज़ोर क्यों होती गई, यह शोध का विषय है। इसका एक कारण कबीलाई समाज में हो सकता है जब जैविक कारणों से, गर्भावस्था की स्थिति में वह पुरुष की तरह शिकार करने में सक्षम न रही हो, और उसे घर-परिवार के पालन-पोषण का दायित्व दे दिया गया हो। एक तरह से वह ज़िम्मेदारी का बंटवारा था, पर हो सकता है पुरुष के दंभ को परिवार के पालनहार होने का गुमान हुआ हो और स्त्री की सीमाएं यहीं से आरंभ हुई हों, जो आगे नारी-शोषण का कारण बन गईं। यों भौतिक विज्ञान मानता है, श्रम की शक्ति स्त्री में पुरुष से कम नहीं, न ही बौद्धिक क्षमता। हमारे यहां चेतना संपन्न विदुषी नारियों की कमी कहां रही? मैत्रेयी, कात्यायनी, विद्योत्तमा व उन तमाम ऋषिकाओं को कौन नहीं जानता, जिन्होंने वेदों की ऋचाएं रचीं। ऋषि याज्ञवलक्य से शास्त्रार्थ करने वाली गार्गी के नाम से तो सभी परिचित हैं। कालिदास की पत्नी विद्योत्तमा के विषय में तो कहा जाता है कि कालिदास के महान् कालजयी साहित्य में संभवतः विद्योत्तमा की बौद्धिक एवं रचनात्मक संपन्नता का सहयोग रहा हो। यह बात विवादास्पद हो सकती है, परंतु स्त्री की रचनात्मक क्षमता और वैदुष्य की सहमति और पक्षधरता तो इस विश्वास में झलकती ही है। साहित्य की वाचिक परंपरा में, लोक कथाओं एवं ग्राम्य गीतों में स्त्रियों ने अपने सुख-दुखों, संघर्षों और आकांक्षाओं को बेबाक अभिव्यक्ति दी है। गार्गी को तो अति प्रश्न पूछने के लिए चुप कराया गया था, पर गाथाओं में और ग्राम्य गीतों में ग्राम्य वधुएं खुलकर बोली हैं। मृणाल पांडे 'ओ उब्बीरी' पुस्तक में देवी गाथाओं में संकलित कुछ मुक्तकों के माध्यम से स्त्री के अनकहे दुखों की पड़ताल करती हैं। बौद्ध-भिक्षुणियों द्वारा रचित इन मुक्तकों में एक स्त्री कहती है, "ओ उब्बीरी! वन में कौन बिलख रहा है? ओ जीवा, प्यारी बेटी, होश में आ। इस कसाईघर में अनगिनत बेटियां हैं, किस-किस के लिए बिलखेगी तू?" यह कसाईघर क्या स्त्री के लिए आज भी बरकरार नहीं है?

उड़ीसा में पारिपुद की कालिजई की लोककथा विख्यात है। यहां ससुराल के लिए विदा होती कालिजई अपने पिता से कहती हैं, कालि बनस्तकु छांडि छु एका'। 'मुझे कालवन में अकेली क्यों छोड़ रहे हो'। बेटियों के लिए कसाईघरों और कालवनों के दुखों का हृदय विदारक वर्णन इन लोक कथाओं में दर्ज है। बौद्ध-भिक्षुणियां, 'चूल्हे, चौके और टेढ़े पति से' मुक्ति क्यों चाहती हैं, इसके कारण तो तत्कालीन समाज में ही रहे होंगे लेकिन लोक कथाओं में मात्र रुदन ही नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित ग्राम्य गीतों में, ग्रामवधु साहूकार के शोषण को अस्वीकार कर, अपनी अलग सत्ता बनाए रखना चाहती है। लगान न दे पा सकने के कारण, हर्जाने के लिए साहूकार उसे अपने घर बुलाता है, पर ग्रामवधु उसकी नियत जान इंकार करती है। वह जानती है, उसका गांव-घर उससे छूट जाएगा, साहूकार उसे दंड देगा। तो क्या? वह चांद पर खेती करेगी, सूरज पर खलिहान बनाएगी, यौवन को बैल बनाएगी- पति से कहती है तुम खेतों की देखभाल करो, फ़सल को पानी तो सावन-भादो की बरखा से मिल ही जाएगा। यानी कि धरती पर यदि उसे जगह नहीं मिलती, तो भी क्या फ़र्क़ पड़ेगा। पूरा ब्रह्मांड तो उसका है। कश्मीर की लोककथा, सोनकिसरी घर में हुए अपमान से आहत हो घर छोड़ देती है, अपमान सहती नहीं। अंततः अपने संघर्ष और आत्मविश्वास से मनचाहा जीवन जी लेती है।

पुरुष सत्ताक समाज के दिए दुख, अपमान वह चुप रहकर नहीं सहती,

समाज को अपनी अस्मिता का अहसास बराबर कराती रही है।

हमारे इतिहास, पुराणों, महाकाव्यों में तेजस्वी नारियों ने पुरुषवर्चस्व प्रधान समाज के दबावों के बीच जीते हुए भी, गहरे स्वाभिमान और शोषण के विरोध की अद्भुत मिसालें रची हैं। रामायण की सीता बार-बार दी गई शुचिता की परीक्षाओं से क्षुब्ध धरती की गोद में समाकर क्या अपना ख़ामोश विरोध नहीं दर्शाती? और द्रौपदी? भरी सभा में पति द्वारा दांव पर लगा दी गई! क्या उसका क्षोभ महाभारत के युद्ध में हुए भीषण नरसंहार का प्रकारांतर से कारण नहीं?

अपनी अस्मिता के प्रति सचेत इन स्त्रियों के ख़ामोश और सशक्त विरोध की एक बानगी क्या कुंती के उस निर्णय में नहीं है, जब युद्ध-समाप्ति के बाद, वह अपने बेटों के साथ न जाकर, गांधारी का हाथ थाम जंगल के लिए प्रस्थान करती है? युद्ध के महाविनाश में अपने पुत्रों को खोया है- गांधारी-धृतराष्ट्र ने! कुंती का स्त्री मन करुणा और ममता से उद्वेलित, उस पुत्र शोक से विह्वल मां का साथ देता है। कितनी बड़ी हो जाती है नारी तब!

भक्तिकाल के साहित्य में जिन स्वतंत्रचेता नारियों ने वैयक्तिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक चिंतन के लिए, सामंती परिवारों की जकड़नों से मुक्त होकर अपनी अलग जगह बनाई, उनमें मीराबाई पहली स्त्री विमर्शकार के रूप में उभकर आती हैं। मीरा ने 'छांड़ि दई कुल की कानि' कहकर गिरिधर गोपाल को अपना लिया। राणा ने विष का प्याला भेजा, वह तो उसे पीकर मगन हो गई। इन स्वतंत्रचेता नारियों में दक्षिण भारत की अक्का महादेवी, कश्मीर की ललध्यद, दया बाई, सहजोबाई भी हैं और पंजाब की संत मां पीरो भी। ऐसी अनेक भक्त कवयित्रियों के नाम इतिहास में दर्ज हैं, जिन्होंने पुरुष सत्ताक समाज की रूढ़ियों से मुक्त होकर अपना एक अलग और मनचाहा रास्ता चुना।

औपनिवेशिक भारत में, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, स्त्री चेतना का एक अलग किस्म का भव्य रूप हमारे सामने आया। घर की चारदीवारें लांघ, पुरुषों के साथ खड़े होकर, जिन नारियों ने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भागीदारी निभाकर अपने समर्पण, संकल्प और त्याग का भरपूर परिचय दिया, उनमें दुर्गाबाई देशमुख, सरोजनी नायडू, अरुणा आसफ़अली व तमाम नामी और गुमनाम स्त्रियां शामिल हैं। सुभद्राकुमारी चौहान आज़ादी के पहले की ऐसी नारी हैं जिन्होंने न केवल स्त्री सरोकारों से जुड़ी, 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी' आदि कहानियां लिखीं, बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन में भी भागीदारी की। 'झांसी की रानी' कविता में जहां भारतीय इतिहास की शौर्यगाथा में रानी लक्ष्मीबाई का नाम अमर कर दिया, वहीं, 'मैं बचपन को भुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी/नंदन बन सी फूल उठी वह छोटी सी कुटिया मेरी', जैसी मां के अंतःकरण से फूटते शिशु प्रेम से सराबोर वत्सल रचनाएं भी लिखीं, उनकी मृत्यु पर स्मारक बनाने की बात पर महादेवी वर्मा ने कहा, "नदियों का कोई स्मारक नहीं होता, दीपक की लौ को सोने से नहीं मढ़ा जाता। अच्छा यही है कि हम उनके संदेश को दूर-दूर तक पहुंचाएं"।

महादेवी वर्मा ने स्वयं समाज की लौह शृंखलाओं में क़ैद स्त्री को दयनीय दासता की स्थिति से उबरने की प्रेरणा दी। सामाजिक कुप्रथाओं और महिलाओं की समस्याओं को सुलझाने के रास्ते भी सुझाए। केवल उपदेश नहीं दिए। 'शृंखला की कड़ियां' पुस्तक में वे पुरुष की रूढ़ मानसिकता का विरोध करती हैं। महादेवी कहती हैं-बड़े से बड़ा दुराचारी व्यक्ति भी परम सती का आलोचक ही नहीं, न्यायकर्ता भी होता है। इस अन्याय से स्त्री की मुक्ति जरूरी है। महादेवी वर्मा को रहस्यवादी कवयित्री मानकर उनके सामाजिक अवदान को प्रायः नज़रअंदाज़ किया जाता है, जबकि उन्होंने स्त्री को आत्मविश्वासी व आत्मनिर्भर बनने की सलाह दी और पुरुष की निरंकुश सत्ता का विरोध करने की प्रेरणा भी। वे स्वयं भी समाज की रूढ़ अवधारणाओं और परंपरागत लक्ष्मण रेखाओं से ऊपर उठकर, अपने संघर्ष और आत्मविश्वास से एक क़द्दावर स्त्री बन गई थीं।

यह भी सच है कि उन्नीसवीं शती के भारतीय नवजागरण काल में कई महापुरुषों ने नारी की क्षमताओं को पहचान दी। उनकी अस्मिता को मान देकर उन्हें अमानवीय स्थितियों से उबरने की वकालत की। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद्र विद्यासागर इत्यादि स्त्री के हित चिंतकों ने स्त्री उद्धार के प्रयास किए। उनके प्रयासों से न सिर्फ सती प्रथा, बाल विवाह जैसी स्त्री विरोधी कुप्रथाओं का अंत हुआ, विधवाओं को जीवन साथी चुनने के अधिकार भी दिए गए। स्त्री शिक्षा की पक्षधर पंडिता रमाबाई ने लड़कियों की समुचित शिक्षा पर ज़ोर दिया और स्त्रियों की पारिवारिक-सामाजिक समस्याओं के निदान की खोज की। महात्मा गांधी और नेहरू ने तो स्त्री मुक्ति को स्वराज आंदोलन का हिस्सा बना दिया। वे स्त्रियों की शक्ति, संकल्प और कार्यक्षमताओं के प्रशंसक रहे।

हिंदी साहित्य में प्रेमचंद, प्रसाद, मैथलीशरण गुप्त ने स्त्री को अनावश्यक बंधनों से मुक्त करने के लिए कलम उठाई और पुरुषों को आत्मविश्लेषण के लिए टहोका। 'कामायनी' में प्रसाद मनु से कहते हैं-"मनु! तुम श्रद्धा को भूल गए/ तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में/ कुछ सत्ता है नारी की"। गुप्त जी 'पंचवटी' में कहते हैं, "नर कृत सब शास्त्रों के बंधन हैं, नारी को ही लेकर, अपने लिए सभी सुविधाएं, पहले ही कर बैठे नर..."!

प्रेमचंद ने 'गोदान' में मेहता और मालती प्रसंग में, विवाह संस्था की विसंगतियों पर जो चर्चा की है, उसमें स्त्री-पुरुष के संबंधों में पुरुषवर्चस्व की प्रधानता के कारण, मालती विवाह न कर, मेहता के साथ आत्मीय मित्र बनकर रहना पसंद करती है। संबंधों में समानता और सौहार्द न हो तो उलझनें पैदा होना स्वाभाविक है, जिसका ख़ामियाजा स्त्री-पुरुष दोनों को भुगतना पड़ता है।

आज जो लेखिकाएं स्त्री-विमर्श और नारी मुक्ति की बातें करती हैं, तो इस विमर्श की ज़मीन हमारे कुछ पुरुष रचनाकारों और स्त्री लेखिकाओं ने पहले ही तैयार की है। यशपाल ने 'दिव्या' उपन्यास और भगवती चरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में, स्त्री की, दी गई संहिताओं और रूढ़ नैतिकताओं को उलांघ कर, अपने नियम आप बनाने वाले सशक्त स्त्री चरित्र रचे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उम्मीद जगी थी कि एक स्वतंत्र और स्वस्थ समाज का निर्माण होगा। हमारा संविधान बना, स्त्री-पुरुष को बराबर अधिकार दिए गए। पश्चिम में स्त्रियों को मताधिकार और लैंगिग समानता एक लंबे संघर्ष के बाद मिली। हमें ज़्यादा संघर्ष भी नहीं करना पड़ा, लेकिन तमाम संवैधानिक अधिकार प्राप्त करने के बाद भी न स्त्री शोषण में कमी आई न समाज ने स्त्री को वे अधिकार दिए जो संविधान में शामिल किए गए हैं।

स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ, जिससे स्त्री आर्थिक रूप से कुछ हद तक स्वतंत्र जरूर हुई। उसने घर-बाहर के दुहरे दायित्व निभाए। वह चारदीवारों से बाहर आकर नई स्थितियों के अनुरूप खुद को बदलने लगी लेकिन पूरी तरह पुरुष मानसिकता में बदलाव नहीं आया या अगर आया भी तो बहुत सतही।

लेखिकाएं स्त्री जीवन और समय के जटिल प्रश्नों के उत्तर साहित्य में

तलाशने लगीं। ऐसे समय में साहित्य में कई सशक्त, स्त्री स्वर उभरकर आए। इनमें कृष्णा सोबती का स्वर काफी बुलंद रहा। 'मित्रो मरजानी' और 'सूरजमुखी अंधेरे के' उपन्यासों में दैहिक शोषण के विरुद्ध नायिकाएं खुलकर सामने आईं। मित्रो ने ऐलान सा कर दिया कि पति की अक्षमता का आरोप आप उसकी पत्नी पर नहीं लगा सकते। 'दिलोदानिश' की महक बानो, घर में पत्नी और बाहर रखैल को पालने वाले रुतबेदार वकील के दोगलेपन पर प्रहार कर एक मुखर संदेश देती है कि 'रखैल' भी एक नारी है, उसके भी कुछ अधिकार हैं, इसे भूलिए मत! साठ के दौर के आसपास ही नारी चेतना और स्त्री-विमर्श की अवधारणाएं एक होती नज़र आने लगीं। उषा प्रियंवदा ने 'पचपन खंभे लाल दीवारें' उपन्यास में घर-बाहर काम करती स्त्रियों के कटु अनुभवों, अंतर्द्वंद्वों और रिश्तों में आते तनावों को संवेदी स्वर दिया, तो दिनेश नंदिनी डालमिया ने, 'मुझे माफ़ करना' उपन्यास में, सामंती परिवारों में मुक्ति के लिए छटपटाती स्त्रियों की यातना, जकड़नों और उन पर थोपे गए बंधनों की अवहेलना कर, पुरुष की स्वार्थकेंद्रित मानसिकता पर प्रहार किया। तमाम दबावों के बीच, उनकी स्त्री हार नहीं मानती। वह कहती है-"मैं दिवास्वप्न नहीं देख सकती/प्रेम करने का अधिकार मुझे नहीं/ फिर भी सृजन कर रही हूं मैं/ईश्वर की तरह/एक मां के रूप में।"

आज जो लेखिकाएं स्त्री-विमर्श और नारी मुक्ति की बातें करती हैं, तो इस विमर्श की ज़मीन हमारे कुछ पुरुष रचनाकारों और स्त्री लेखिकाओं ने पहले ही तैयार की है। यशपाल ने 'दिव्या' उपन्यास और भगवती चरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में, स्त्री की, दी गई संहिताओं और रूढ़ नैतिकताओं को उलांघ कर, अपने नियम आप बनाने वाले सशक्त स्त्री चरित्र रचे।

स्त्रियों के घर से बाहर क़दम रखते, पारिवारिक-आर्थिक दायित्व संभालने के साथ उनमें आत्मविश्वास भरता गया, पर साथ ही परिवारों में तनाव भी बढ़ने लगे। स्त्री-पुरुष संबंधों के घात-प्रतिघात ने दांपत्य संबंधों में दरारें डालनी शुरू कर दीं। नतीजन, समाज में तलाक की स्थितियां आने लगीं। मन्नू भंडारी ने इसी स्थिति पर 'आपका बंटी' उपन्यास लिखा, जहां दांपत्य संबंधों में शोषक नीति का विरोध कर तलाक को प्रश्रय दिया गया है लेकिन स्त्री क्या सचमुच तलाक के बाद मुक्त हो जाती है? एक प्रश्न उठता है यहां, पति-पत्नी के आपसी झगड़ों और तलाक के बाद नए पिता के साथ बच्चों के रिश्तों की परिणति अकसर तकलीफ़देह समस्याएं पैदा करती हैं। बच्चों की मानसिकता में असुरक्षा और अकेलापन, न मां को सुख से जीने देता है, न बच्चों को। 'आपका बंटी' की शकुन की त्रासदी है मातृत्व और स्त्रीत्व के बीच द्वंद्व एवं तनाव। वह न पूरी मां बन पाती है और न पत्नी। बंटी की टूटन भी कम त्रासद नहीं।

राजी सेठ के उपन्यास 'तत्सम' की वसुधा जीवन के प्रति अधिक सकारात्मक रवैया अपनाती है। वैधव्य के दुख से उबर कर वह नए सिरे से जीवन जीने का संकल्प लेती है। वह न दया की पात्र बनकर जीना चाहती है, न जल्दबाज़ी के फ़ैसलों पर भरोसा करती है। मनोनुकूल साथी चुनने में जिस धैर्य, आत्मशक्ति और विवेकशीलता का परिचय वसुधा देती है, वह स्त्री समाज के लिए एक मिसाल बन जाता है।

नई सदी से करीब दो दशक पहले भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने हमें तकनीकी करिश्मों, संचार क्रांति और प्रौद्योगिकी का जाल बिछाकर पूरे विश्व से जोड़ दिया। हमारे लिए ज्ञान की नई खिड़कियां खुलीं पर साथ ही वैश्वीकरण के हवनकुंड में हमारी संस्कृतियां होम होती गईं। उदारीकरण के साथ भोगवादी प्रवृत्तियां हम पर हावी होती गईं, जिसने नई विकृतियों से हमारी जीवन शैली और मूल्यबोध को प्रभावित किया। अर्थ केंद्रित इस समय में इंसानी तिजारत की प्रवृत्तियां बढ़ने लगीं और स्त्री भोग की वस्तु बनती गई। मीडिया और विज्ञापनी संस्कृति ने नए ढंग से स्त्री का शोषण किया। सांप्रदायिक उन्माद और आतंकवाद समय का सच होता गया, ज़ाहिर है नारी चेतना पर भी इसका प्रभाव पड़ने लगा। इस सांस्कृतिक संक्रमण की परिणतियों को रचनाकारों ने कथा साहित्य और कविताओं में दर्ज किया। स्त्री-स्वर बुलंद और बेलौस होता गया।

यों तो पचास के दशक में यूरोप में जो नारीवाद का नारा उठा था और सिमोन द बोआर ने 'सेकेंड सेक्स' लिखकर इस विचारधारा को क्रांति का रूप दिया था, उस वक्त भी भारतीय लेखिकाओं पर नारीवाद का प्रभाव पड़ा था। सिमोन ने कहा था, "नारी पैदा नहीं होती, बनाई जाती है", इस तथ्य को स्त्रियों ने तिखाई से महसूस किया और न्याय के लिए आवाज़ उठाई।

लेकिन आज का समय ज्यादा जटिल और क्रूर होता जा रहा है। लेखिकाएं इस समय की जटिलताओं को साहित्य में परीक्षित करने लगी हैं। 'एक ज़मीन अपनी' उपन्यास में चित्रा मुद्गल विज्ञापन जगत में स्त्री के शोषण का जीवंत विश्लेषण कर, उसकी मुक्ति के रास्ते तलाशती हैं। बाज़ारवादी संस्कृति ने स्त्री की मातृशक्ति को भी आज दांव पर लगाया है। भोगवादी समय स्त्री की कोख का व्यापार करने लगा है। 'आवां' उपन्यास स्त्री को देहमात्र समझने की पुरुष प्रवृत्ति को अनावृत कर, उसके मंसूबों पर पानी फेर देता है। बाज़ार की चकाचौंध स्त्री को भटका देती है, पर उसकी चेतना उसे संभलने का विवेक भी देती है। मृदुला गर्ग 'कठगुलाब' उपन्यास में स्त्री के मानसिक-दैहिक शोषण के भयंकर परिणामों से समाज को चेताती हैं। पुरुष की हिंसक नीतियां स्त्री मन के तरल स्रोत सुखाकर उसे बंजर बना सकते हैं। स्त्री संतानोत्पत्ति से इंकार कर सकती है। कुछ वैसी ही स्थितियां समाज में उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे पर्यावरण के दोहन से सूखा, बाढ़ जैसी विनाशकारी स्थितियां। मृदुला गर्ग विवाह संस्था का विरोध नहीं करतीं। पुरुष और स्त्री को समान धरातल पर लाकर, पुरुष को अर्धनारीश्वर बनाने की सलाह देती हैं। मृदुला सिन्हा पौराणिक पात्रों का समयानुसार पुनर्परीक्षण कर स्त्री चेतना की नई अवधारणाएं स्थापित करती हैं, वह उनका उपन्यास, 'सीता पुनि बोली' हो या 'अहल्या का पुनर्पाठ'!

नारी चेतना की प्रखर लेखिका प्रभा खेतान, 'छिन्नमस्ता', 'आओ पेपे घर चलें' आदि उपन्यासों में स्त्री की संघर्ष गाथा कहती, उसे रूढ़ी भंजन के त्रास से गुज़र, अपने-आप से ऊपर उठकर, वृहत्तर पुरुष समाज में अपनी अलग पहचान बनाती दिखाती हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया परिवार के शोषण से जूझती, आर्थिक आत्मनिर्भरता से संपन्न स्त्री बन जाती है और स्त्री के संकल्प और जीवन की अनूठी मिसाल रचती है। धर्म के नाम पर आज भी स्त्री-शोषण जारी है। कुसुम अंसल 'तापसी' उपन्यास में, वृंदावन के आश्रम में रहती विधवाओं की शोचनीय दशा का वर्णन कर, धार्मिक पाखंड का सशक्त विरोध करती हैं। धर्म जब जीवन-शैली न रहकर सत्तापीठ बन जाता है, उसमें आई विकृतियों का शिकार स्त्री ही बनती है। मधु कांकरिया भी 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में धर्म के नाम पर शोषित होती स्त्री की व्यथा-कथा

कहती हैं। देह व्यापार में धकेली गई मासूम लड़कियों की यातनाएं और उनसे छुटकारा पाने की मुहिम पर उषा यादव 'काहे री नलिनी' और मधु कांकरिया 'सलाम आख़िरी' जैसी सशक्त रचनाएं करती हैं।

आज स्त्री व्यवस्था के किसी भी अनुषंग को नज़रअंदाज़ नहीं करती। आम आदमी की पीड़ा को मृणाल पांडे, 'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास में परत-दर-परत उचेलती हैं। एक मासूम बच्चे की हत्या, फिर राजनीतिक षड्यंत्र में फंसाई गई उसकी मां का क़त्ल। लेखिका न्याय की तलाश में भटकती है। राजधानी की रहस्यमय चुप्पी और व्यवस्था के दुष्चक्र को अनावृत्त करती है। संवेदनहीन होते समय की त्रासद कथा।

नासिरा शर्मा 'शाल्मली' और 'ठीकरे की मंगनी' में पारिवारिक समस्याओं से जूझती स्त्रियों के आत्मविश्वास और आत्मनिर्णय को संवेदी स्वर देती हैं। सुशीला टाकभोरे, कौशल्या बैसन्ती, अनीता भारती, दलित स्त्री की पीड़ा और संघर्ष का करुण आख्यान रचती हैं, तो महाश्वेता देवी आदिवासियों के अधिकारों के लिए रचनात्मक संघर्ष करती हैं।

आज साहित्य में स्त्री-लेखकों की चार पीढ़ियां रचना रत हैं। आज के इस जटिल समय में लेखिकाएं जहां स्त्री को नए सिरे से परिभाषित कर-देह शोषण और बलात्कार जैसे घृणित कांडों पर स्त्री की बदली सोच पर 'प्रेतयोनि', 'आवाज़' जैसी मुखर कथाएं रचती हैं, तो बलात्कार जैसी अमानवीय स्थितियों को हिंसा का ही एक रूप समझ, उसे स्त्री के शील के साथ जोड़ना ग़लत समझती हैं।

संबंधों की आइरनी और मूल्य विघटन आज की एक बड़ी चिंता है। प्रेम के विकृत स्वरूप पर कविता 'मेरा पता कोई और है' उपन्यास लिखती है, मनीषा कुलश्रेष्ठ 'शालभंजिका' उपन्यास में देह तक सीमित वक़्ती प्रेम का ख़ाका खींचती हैं। जहां स्त्री महज़ इस्तेमाल की वस्तु है और प्रेम का अर्थ शारीरिक भोग मात्र!

आज की लेखिकाओं ने अपनी दृष्टि को काफ़ी विस्तार भी दिया है, स्त्री-समस्याओं से आगे, वे व्यवस्थाजन्य विद्रूपों, सांप्रदायिकता और आतंकवाद से उपजी भयावह परिणतियों पर भी महत्त्वपूर्ण रचनाएं दे रही हैं। गीतांजलिश्री का 'हमारा शहर-उस बरस', संजना कौल का 'पाषाण युग' और इस लेखिका का 'कथा सतीसर' उपन्यास देह विमर्श से आगे की रचनाएं हैं, जो समय की ज्वलंत समस्याओं का परीक्षण करती मनुष्य की यातनाओं से मुक्ति की प्रार्थनाएं हैं। ऐसी रचनाएं नारी चेतना के विस्तार का नया साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। स्त्री पक्ष में खड़ी मुक्ता, 'काठलूम अपने-अपने' कहानी में बनारस के बुनकरों के बहुरंगी शोषण से उत्पन्न अभावग्रस्तता का जीवंत वर्णन कर कारीगरों के शोषण का विरोध करती हैं। नासिरा शर्मा, 'कुंइयाजान' में घटते जल और पर्यावरण प्रदूषण पर चिंता ही नहीं करतीं, स्थितियों की बेहतरी के लिए रचनात्मक सुझाव भी देती हैं। समय की नई समस्याओं में, इकोनोमिक बूम और अर्थ के लिए अंधाधुंध दौड़ पर 'एक ब्रेक के बाद' (अलका सरावगी) और 'दौड़' (ममता कालिया) जैसे उपन्यासों को रचकर लेखिकाएं समय की नब्ज़ टटोलती हैं। एक तरफ़ अपार धन, दूसरी ओर भूख-बेरोज़गारी। समय का यह सच कथा साहित्य में तमाम विद्रूपों सहित, उकेरा गया है। नई संस्कृति 'लिव इन रिलेशनशिप' का फ़ार्मूला लेकर आई है, जिसे शरद सिंह, 'क़स्बाई सिमोन' में परीक्षित करती हैं। यहां सिर्फ भटकन है, शायद विवाह संस्था में आई विकृतियों का प्रकारांतर से विरोध भी!

विपुल मात्रा में रचा जा रहा स्त्री-लेखन इस बात का प्रमाण है कि आज की नारी बदल रहे समय, समाज और उसके विद्रूपों, चुनौतियों के प्रति सजग-सचेत है। जहां देह मुक्ति की आवाज़ उठी है, वहीं स्त्री-पुरुष संबंधों में मैत्री और सौहार्द के लिए संघर्ष भी है। स्त्री शोषण, बलात्कार की समस्या, आतंकवाद से उपजे विस्थापन, ग्रामीण स्त्रियों की समस्याओं और स्वचेतना, रूढ़ियों-बेड़ियों और व्यवस्था की अड़चनों से भिड़ती आज की चेतना-संपन्न लेखिकाएं, स्व से पर की यात्राएं कर रही हैं। घरेलू से लेकर वैश्विक समस्याओं के प्रति सचेत लेखिकाएं अपनी समृद्ध सोच से साहित्य में अपनी भागीदारी निभा रही हैं। अपने भीतर झांककर, आत्ममंथन भी करती हैं कि इस मूल्यखिन्न समय में वह कौन सी स्त्री बनना चाहती है? उसके सामने नई चुनौतियां तो हैं ही। ❑

संपर्क : 3020, सेक्टर-23, गुड़गांव-122017 (हरियाणा)

लेखकों से अनुरोध

(1) 'आजकल' साहित्य और संस्कृति की मासिक पत्रिका है। इसमें साहित्य, संस्कृति के साथ-साथ कला, इतिहास एवं लोक जीवन से संबंधित रचनाएं-आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। लेखकों से अनुरोध है कि प्रकाशन हेतु पत्रिका की श्रेणी के अनुसार ही रचनाएं भेजें।

(2) रचनाएं भेजते समय रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। सामान्यतः रचनाएं वापस नहीं भेजी जातीं। रचना की वापसी के लिए यथाउचित मूल्य के टिकट और पता लिखा लिफाफा भेजें। प्राप्ति की सूचना, स्वीकृति-अस्वीकृति के लिए पोस्टकार्ड लगा सकते हैं। रचना के संबंध में फोन पर जानकारी देना संभव नहीं है।

(3) भारतीय और विदेशी भाषाओं से अनुवादित रचना के साथ रचनाकार की अनुमति, मूल रचना का शीर्षक-प्रकाशन वर्ष और रचनाकार एवं अनुवादक का परिचय अवश्य भेजें।

(4) ई-मेल से भेजी जाने वाली रचनाएं Microsoft Word में Shiva-Medium और Kruti Dev Font 010 में टाइप करके ई-मेल : ajkalhindi@gmail.com पर भेजी जा सकती हैं। हस्तलिखित रचनाओं का भी स्वागत है।

संपादकीय पत्र व्यवहार का पता है :

संपादक (आजकल)
प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स
लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 011-24362915

सदी संधि पर स्त्री और हिंदी उपन्यास

हिंदी साहित्य में बीसवीं शती के अंतिम दौर में लिखे गए उपन्यास स्त्री-विमर्श को पूरी सार्थकता और निष्ठा के साथ तीव्रता और तीक्ष्णता प्रदान करने वाले सिद्ध होते हैं, जिनमें परंपरागत रूप से भिन्न, अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग और विकास की आकांक्षाओं को संजोने वाली स्त्री का रूप सामने आता है। रूढ़िवादी संस्कारों में लिपटी, पारंपरिक सामाजिक नियमों से घिरी नारी का रोने-धोने वाला, अपनी नियति को कोसने वाला रूप इनमें प्रायः नहीं दिखता है और उसके स्थान पर अधिकारों के लिए लड़ती, अपने अस्तित्व को तराशती और केवल दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी अपना जीवन जीने वाली स्त्री आकार लेती देखी जा सकती है, बता रहे हैं **जितेन्द्र वीर कालरा**

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1967 में 'दिनमान' में एक लेख लिखा था-'सन् 2000 में हिंदी साहित्य', जिसमें वे किसी कार्य के प्रत्यक्ष घटित होने के गीता में उल्लिखित पांच कारणों की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, "ईसवी सन् 2000 में हिंदी साहित्य की क्या स्थिति होगी, उसका भी अंदाज़ा इन्हीं पांच बातों को ध्यान में रखकर लगाया जाना चाहिए। अब से लगभग एक तिहाई शताब्दी में क्या कुछ होने वाला है, पिछली 2/3 शताब्दी में जो कुछ हुआ है, उसके आधार पर ही अनुमान का विषय बनाया जा सकता है।"

आज जब सदी की संधि पर हिंदी उपन्यास पर विचार करने का प्रसंग आया तो आचार्य जी के इस लेख का स्मरण सहज ही हो आया। अब पिछली दो तिहाई सदी की घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ या नहीं, यह तो अलग से विचारणीय विषय है, किंतु यह तो सत्य है कि बीसवीं सदी के अंतिम 25-30 वर्षों में भारत में जो स्त्री-चेतना गतिशील हुई, इक्कीसवीं सदी की संधि तक पहुंचते-पहुंचते एक विमर्षों के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। इस समय में हिंदी उपन्यास भी अपनी विधागत शक्ति को पहचानते हुए और इस दिशा में सक्रिय उपस्थिति दर्ज कराते हुए इस स्त्री-चेतना को स्वर प्रदान करने में अपनी भूमिका के निर्वाह में पीछे नहीं रहा।

स्त्री चेतना का उदय

बीसवीं शती के अंतिम दौर में हिंदी साहित्य में हम जिस नारी चेतना का प्रस्फुटन देखते हैं, वह आकस्मिक नहीं अपितु क्रमिक रूप से विकसित हुई है। हिंदी साहित्य में यह जागृति औपन्यासिक परिदृश्य में यह चेतना अपनी पूरी सार्थकता के साथ परिलक्षित होती है। स्त्री अधिकारों के लिए प्रारंभिक प्रयास करने वालों में सबसे पहला नाम मेरी वाल्स्टॉनक्राफ्ट का ध्यान आता है। पेशे से अध्यापिका मेरी ने कई उपन्यासों और स्त्री शिक्षा पर कई पुस्तकों का सृजन किया किंतु 1792 में स्त्री-विमर्श के संदर्भ में आई उनकी पुस्तक 'स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन' ने इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस सहित पूरे यूरोप को झकझोर कर रख दिया। वाल्स्टॉनक्राफ्ट की यह पुस्तक आगे चलकर 'स्त्री अधिकारों की बाइबिल' के रूप में प्रसिद्ध हुई। 1949 में प्रकाशित (मूल फ्रेंच, अंग्रेजी अनुवाद 1953 में प्रकाशित) सीमोन द बोउवार की पुस्तक 'दि सेकंड सेक्स' विश्व भर की नारियों के विविध आयामों को प्रस्तुत करते हुए स्त्री की स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन की ज़रूरत को बतलाती है। नारी मुक्ति के इस प्रमुख ग्रंथ का सूत्र वाक्य है कि 'औरत जन्म से औरत नहीं होती, उसे औरत बनाया जाता है।' यहां इसकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित नहीं, बस इतना ही कहा जा सकता है कि स्त्री और पुरुष में लैंगिक भिन्नता के अलावा शेष सभी प्रकार की असमानता पितृसत्तात्मक समाज की चाल होती है, जिसमें स्त्री स्वयं ही स्वयं को एक दोयम दर्जे का नागरिक मानने को विवश होती चली जाती है। इस क्रम में अमरीकी नारीवाद की जन्मदात्री बेट्टी फ्रीडन का नाम भी उल्लेखनीय है, जिनकी पुस्तक 'द फेमिनिस्ट मिस्टीक' (1963) ने नारी मुक्ति के आंदोलन को और अधिक तीव्र कर दिया।

1975 में मैक्सिको में आयोजित विश्व महिला सम्मेलनों की जो शुरुआत हुई, उसने विश्व भर की नारियों को अपनी आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक भागीदारी में महत्वपूर्ण भूमिका के प्रति जागृत किया। इस कड़ी में बीस वर्ष पश्चात् 1995 में बीजिंग में आयोजित होने वाले चौथे विश्व महिला सम्मेलन में 185 देशों तथा लगभग तीन हज़ार गैर सरकारी संस्थाओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन की उद्घोषणा में जो बातें मुख्य रूप में उभरकर सामने आई उनमें 'महिला अधिकार मानवीय अधिकार है। प्रमुख थी और यह भी उच्च स्वर से स्वीकार किया गया कि 'निर्णय लेने के अधिकार के सभी स्तरों पर स्त्री की सहभागिता के बिना विकास व शांति के लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता'। 1975 से 1985 तक के कालखण्ड को 'अंतरराष्ट्रीय महिला दशक' घोषित किया गया। इसी पृष्ठभूमि में हिंदी साहित्य में भी नारी विमर्श का प्रस्फुटन होता है, जिसकी सुंदर अभिव्यक्ति बीसवीं शती के अंतिम दौर के उपन्यासों, विशेष रूप से महिला रचनाकारों द्वारा लिखे जाने वाले उपन्यासों में मिलती है।

बीसवीं शताब्दी के अंत में लिखे जाने वाले उपन्यासों में अभिव्यक्त नारी चेतना को ज्योतिष जोशी के इस वाक्य के माध्यम से देखा जा सकता है-"इन उपन्यासों का महत्व इस बात में नहीं है कि यहां स्त्री के संघर्ष को नई जमीन मिली और वे समाज को ललकार उठी हैं बल्कि इस बात में है कि यहां जीवन का संपूर्ण जगत मुखरित हो उठा है।" (उपन्यास की समकालीनता, ज्योतिष जोशी, पृ. 113)

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर के उपन्यासों में नारी परिवार की संस्था को चुनौती देती हुई, महत्वाकांक्षा के सपनों को संजोती हुई, अपने नैसर्गिक विकास को अवरुद्ध करने वाली सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ती, आर्थिक रूप से स्वतंत्रा प्राप्त करती तथा स्त्रियों की पारंपरिक भूमिका से भिन्न खड़ी अपनी अलग ज़मीन तलाशती स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। ये उपन्यास स्त्रियों की पारंपरिक भूमिका से इतर एक व्यक्ति नारी की प्रतिष्ठा करते हैं, जो अपने व्यक्तित्व से अथाह प्रेम करती है और उसे कहीं कुंठित नहीं होने देती।

1997 में प्रकाशित होने वाला मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' ग्रामीण परिवेश में स्त्री चेतना के प्रसार को आख्यायित करता है। उपन्यास की नायिका सारंग की फुफेरी बहन रेशम की हत्या कर दी जाती है, क्योंकि उसने युवावस्था में विधवा होने के पश्चात अपने मानव और परिणामतः अपने शरीर की ज़रूरतों को पूरा करने के प्रयास में गर्भ धारण कर लिया, जबकि ग्रामीण समाज में विधवा के लिए तो आज भी बंधन इतने कड़े हैं कि उसे पाशविक जीवन जीने को विवश होना पड़ता है। सारंग भी उसकी हत्या के पश्चात् उसे इंसाफ़ दिलाने का जो संघर्ष प्रारंभ करती है वह आगे और गति पाता हुआ उसके अपने व्यक्तित्व को भी तराशता है। लेखिका इन शब्दों में युवा विधवा को लेकर समाज की सोच पर सवाल खड़ा करती है-"रेशम विधवा थी-ज़माने के लिए, रीति-रिवाजों के लिए, शास्त्र-पुराणों के चलते घर-गांव के लिए। विधवा सिर्फ विधवा होती है। वह औरत नहीं रहती फिर। यह बात पता नहीं उसे किसी ने समझाई कि नहीं? किसी ने कहा कि इच्छाओं के रेशमी तार में आग लगा दे रेशम? उसने तो केवल इतना माना कि पेड़ हरा-भरा रहे तो फूल-फल क्यों नहीं लगेंगे? ऐसा हो सकता है कि ऋतु आए और बल्लरी लता फूले नहीं? औरत ऋतुमती हो और दहके नहीं?" ('चाक', मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 18)

पति का साथ निभाने की अपेक्षा पत्नी से हर स्थिति में की जाती है और पति का विरोध करके समाज में नारी की स्थिति क्या हो जाती है या क्या हो जाने वाली है, इस संदर्भ में श्रीधर का चिंतन समाज के यथार्थ से रूबरू कराता है-"सारंग, पुरानी रीतियों, कुरीतियों, रूढ़ियों से लड़ती तो शायद इतना टकराव न होता, उसका रास्ता दूसरा है, जो बेहद टेढ़ा और शूलों भरा है क्योंकि वह पति से लड़ना चाहती है। कई बार मन में आता है, समझाया जाए उसे कि देखो परंपराओं में रहकर, रीतियों को मानकर तुम सुखी और सुरक्षित रहोगी। तुम ऐसी सत्ता से लड़ना चाहती हो, जिससे अब तक तो कोई जीता नहीं। रंजीत का विरोध करके खुद ही चूर-चूर हो जाओगी।" ('चाक', मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 183) पति और परिवार समाज की ऐसी सशक्त संस्थाएं हैं, जिनसे विद्रोह करना अपने व्यक्तित्व को ही दांव पर लगा देने के समान है किंतु सारंग इस चुनौती को स्वीकारने के लिए सहर्ष तैयार है क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व से समझौता नहीं कर सकती।

चित्रा मुद्गल का सन् 2000 में प्रकाशित उपन्यास 'आवां' भी नायिका नमिता के माध्यम से एक महत्वाकांक्षी लड़की के संघर्ष को वाणी प्रदान करते हुए नारी चेतना को स्वर प्रदान करता है। उपन्यास की एक पात्र सुनंदा की अपने धर्म के बाहर विवाह करने के कारण हत्या कर दी जाती है। महिला अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष करने वाली विमला बेन सुनंदा की मैयत को न केवल कंधा देती है, अपितु उस पूरी सामाजिक व्यवस्था को ही ललकारते हुए चुनौती देती है, जिसमें निश्छल प्रेम करने वाली स्त्री की हत्या कर दी जाती है। मैयत को कंधा देते हुए पाटील शास्त्रों का हवाला देते हुए उन्हें चेताते हैं-"बाई साहब! ये आप क्या कर रहीं? आपको मालूम नहीं, औरत के लिए मैयत को कंधा देना शास्त्र सम्मत नहीं?" तो वह परंपरा और शास्त्रों आदि को भी ललकारने से चूकती नहीं है -"कूपमंडूक पुरुषों से हमें सीखना होगा कि स्त्रियों के लिए क्या शास्त्र-सम्मत है, क्या नहीं? निर्दोष स्त्री की नृशंस हत्या करना शास्त्र-सम्मत है, पाटील? नहीं, तो पूछो अपने हृदय से कि क्यों हमसे किसी ने उसके प्राण ले लिए ? मैं कंधा किसी औरत की मैयत को नहीं दे रही, उस स्त्री-चेतना को दे रही हूं, जिसका गला घोंटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है! मैं हर जाति, धर्म, वर्ण की स्त्रियों का आह्वान करती हूं कि वे सबकी सब श्मशान चलें और बारी-बारी से सुनंदा की मैयत को कंधा दें।"('आवां', चित्रा मुद्गल , पृ. 153) इस प्रकार की चुनौती देती स्त्री की स्थिति का यथार्थ चित्रण पहली बार इस दौर के इन उपन्यासों में ही इतने मुखर रूप में हुआ है।

प्रभा खेतान का आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास 'छिन्नमस्ता' एक उच्च वर्गीय, सुशिक्षित, स्वाभिमानी व आत्मनिर्भर नारी की भारतीय परिवार में पारंपरिक दशा को सामने रखते हुए उच्च वर्गीय स्त्री की जिजीविषा शक्ति को आख्यायित करता है। ससुराल में प्रिया को केवल एक आदर्श (पारंपरिक अर्थों में आदर्श) बहू के रूप में देखा जाता है, जिसे घर के सज्जा के अन्य सामानों की भांति एक वस्तु से अधिक नहीं समझा जाता। पति नरेंद्र भी उसके व्यक्तित्व को अपनी इच्छानुसार नियंत्रित करना अथवा दिशा प्रदान करना चाहता है। प्रिया की व्यावसायिक व्यस्तता भी उसके पति के अहं को ठेस पहुंचाने वाली ही एक घटना है।

प्रिया प्रारंभ से ही समाज द्वारा थोपे गए मानदंडों को स्वीकार करने में यकीन नहीं करती है। वह पारंपरिक अर्थों में औरत नहीं बनना चाहती थी, अथवा ऐसी औरत नहीं बनना चाहती थी, जिसके लिए सीमोन ने कहा है कि 'औरत जन्म से औरत नहीं होती, औरत को औरत बनाया जाता है'। उसका स्पष्ट कथन है, "मुझे अपने औरतपने से चिढ़ थी। औरतपना? इसकी परिभाषा थी लड़कों की ओर क्लास में ताक-झांक, उनकी चर्चा, रूमानी कल्पनाएं और फिर शादी के सपने। सब बकवास है।" ('छिन्नमस्ता', प्रभा खेतान, पृ. 109)

जब एक उद्योगपति परिवार में प्रिया के रिश्ते की बात चलती है तो बचपन से शोषण देखती चली आती प्रिया विवाह के प्रति आशावादी हो उठती है और विवाह के लिए तैयार हो जाती है व विवाह के बाद एक सुखद जीवन की कामना पालती है, किंतु वह इस विडंबना को विवाह के बाद के कटु अनुभवों से ही समझ पाती है कि धनाढ्य परिवार में विवाह होने पर भी स्त्री के जीवन की विद्रूपताएं समाप्त नहीं हो जातीं, केवल उनका रूप बदल जाता है।

प्रिया अपना अलग व्यवसाय प्रारंभ करती है किंतु पति तो पत्नी को पराश्रित रूप में ही देखना चाहता है। वह स्पष्ट रूप में प्रिया को उसकी नारी होने की हैसियत दिखा देता है-"और देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था - काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की मां हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।" ('छिन्नमस्ता' - प्रभा खेतान , पृ. 11) अर्थात् स्त्री का अपना तो जैसे कहीं कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल किसी की मां है, किसी की पत्नी और किसी की बहू।

किंतु स्त्री के लिए व्यवसाय करना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना उसकी अस्मिता से भी जुड़ता है, जिसके प्रति आज की नारी सजग है। प्रिया भी पति को प्रत्युत्तर देते हुए इस बात को स्पष्ट कर देती है, "नरेन्द्र, मैं व्यवसाय रुपये के लिए नहीं कर रही। हां, चार साल पहले जब मैंने पहले-पहल काम शुरू किया था, मुझे रुपयों की भी ज़रूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान... यह मेरी ज़िंदगी के कैनवास को बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन के कार्य को समझना। मुझे ज़िंदगी उद्देश्यहीन नहीं लगती।" ('छिन्नमस्ता', प्रभा खेतान, पृ. 10-11) प्रिया पितृसत्तात्मक समाज में धनोपार्जन के पुरुष अधिकार को चुनौती देती है और स्वयं अपना व्यवसाय स्थापित कर अपने

व्यक्तित्व को और अधिक व्यापक बनाती है और यह सब करती है वह डंके की चोट पर। किसी से भय खाते हुए अथवा किसी की कृपा दृष्टि के आधार पर नहीं। प्रिया पति से अलग होती है क्योंकि फिलिप के शब्दों में, "वास्तव में विवाह की सारी व्यवस्था ही इस भाव (पत्नी पर पति के मालिकाना भाव) पर आधारित है और जहां स्त्री की चेतना विकसित होने लगती है, वहीं यह व्यवस्था चरमराने लगती है।" ('वही', पृ. 203)

महिलाओं को पुरुषवादी वर्चस्व से बाहर निकालने के निरंतर प्रयत्नों के बावजूद भी भारतीय समाज में अभी तक नारी का अपना निज का स्वरूप स्थापित नहीं हो पाया है। कथालोचक मधुरेश का यह कथन 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया के संदर्भ में पूरी तरह लागू होता है, "भारतीय समाज की संरचना में, स्त्री की सारी घोषित समानता एवं स्वतंत्रता के बावजूद, कुछ ऐसी मूलभूत विसंगतियां हैं, जो उसके अनुभव विस्तार की संभावनाओं को बाधित करती हैं। ... पढ़ी-लिखी, नौकरीपेशा और अभिजातवर्गीय स्त्रियां भी एक ऐसी अंधी सुरंग में बंद हैं, जिससे बाहर आने की कसमसाहट और जद्दोजहद ही उनके जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता है।" ('हिंदी उपन्यास : सार्थक की पहचान'-मधुरेश, पृ. 155) केवल स्त्री के शिक्षित होने या आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनने से ही उसकी स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन आने वाला नहीं। आवश्यकता तो समाज में इस मानसिकता को बदलने की है, जिसके तहत स्त्री को उसकी नैसर्गिक शारीरिक भिन्नता के अलावा पुरुष से भिन्न समझा जाता है और एक निधारित यौनिक-नैतिक मानदंडों के अनुरूप चलने में ही उसके जीवन की सफलता को रूपायित किया जाता है।

सुरेन्द्र वर्मा का 1993 में प्रकाशित उपन्यास ' मुझे चांद चाहिए' एक महत्वाकांक्षी स्त्री की कथा है, जिसने प्रारंभ से ही घरवालों की उक्ति 'हमारे वंश में कभी नहीं हुआ' को चुनौती देते हुए अपनी समकालीन स्त्रियों के द्वंद्व को वह सब भी करने की छूट प्रदान कर करती है जो आज तक नहीं हुआ था।

वर्षा का परिवार द्वारा दिया गया नाम 'सिलबिल' है। नाम ही परिवार में बच्ची की स्थिति की ओर संकेत करने वाला है, परंतु 'सिलबिल' अपनी सिलबिली पहचान को नहीं स्वीकारती। वह अपना नाम बदलती है और यहीं से उसका अपनी पहचान हासिल करने का संघर्ष शुरू होता है। पर वर्षा ने 'सिलबिल' वाला ढुलमुल व्यक्तित्व नोंच फेंकती है। 'आर्थिक स्वावलंबन को जीवन की धुरी' समझ लेने वाली वर्षा अपने कैरियर को संवारने की कोशिश में परिवार और परंपराओं की मान्यताओं के साथ टकराती चलती है। विवाह संस्था को भी वह चुनौती देती है।

किंतु वर्षा आज की युवा नारी की प्रतीक पात्र कही जा सकती है जो अपने घर-परिवार, समाज-परिवेश, मूल्य-मान्यताओं, परिचितों-मित्रों आदि से अपने-आप को काटकर सफलता के उच्च शिखर को पाना चाहती है। ऐसा करने में वह जहां सबसे टकराती है, वहीं अपनी महत्वाकांक्षा की मूल्यधर्मिता में स्वयं भी कटती-छीजती चलती जाती है। सफलता-असफलता के कुचक्र में वह संवेदना नहीं एक देह या वस्तु मात्र बनकर रह जाती है। समाज का सिरे से नकार और नितांत स्वच्छंद आचरण व्यक्ति को एक-दूसरे ही बंधन में जकड़ देता है यानि व्यक्ति एक बंद समाज से निकलकर अपने-आप में बंद बिल्कुल अकेला, असहाय और संवेदनाशून्य हो जाता है। वर्षा का द्वंद्व उसे इसी अंजाम तक ले जाता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास स्त्री-विमर्श का उपन्यास होते हुए भी नारी मुक्ति की कोई सार्थक दिशा की ओर इंगित करता नहीं दिखलाई पड़ता।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'एक ज़मीन अपनी' स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम प्रदान करता है। नायिका अंकिता सुधांशु से अपनी इच्छानुसार प्रेम विवाह करती है किंतु विवाह के तीन साल बीतते न बीतते उसे सुधांशु के हावी होते जाने का आभास होने लगता है जिसमें उसका अपना व्यक्तित्व छीजता चला जाता है।

"और...धर्मशाला की तख्ती आज से मेरे दरवाज़े पर नहीं टंगेगी...मैं सिर्फ गृहिणी ही नहीं हूं...एक स्त्री भी हूं...आखिर सुबह से रात के बीच कोई एक क्षण ऐसा नहीं हो सकता जिसे मैं नितांत अपने लिए जी सकूं...कागज कलम लेकर बैठ सकूं। जो पढ़ना चाहती हूं पढ़ सकूं....लिखना चाहती हूं लिख सकूं?"

"यह मेरा घर है... और यहां तख्ती वही लटकेगी जैसी मैं चाहूंगा... इसका फैसला तुम कैसे कर सकती हो?"

"मैं ही करूंगी...क्योंकि इस घर के लिए मैंने अपना सब कुछ होम कर दिया है...मुझे हक है यह फैसला करने का..."

('एक ज़मीन अपनी'-चित्रा मुद्गल, पृ. 177)

अंकिता स्त्री-स्वातंत्र्य की तो हिमायती है किंतु यह भी सत्य है कि कोई भी विकास अपनी ज़मीन से कटकर नहीं हो सकता। पेड़ कभी-भी अपनी जड़ से अलग होकर ऊपर की ओर नहीं उठ सकता। अस्मिता और अहं की लड़ाई में बिल्कुल अकेली रह जाने वाली अंकिता समाज के महत्व एवं उसकी जरूरत को गंभीरता से महसूस करती है।

अपनी मित्र नीता से बातचीत करते हुए वह अपनी इस सोच को स्पष्ट करती है-"सोचती हूं, इस देश की स्त्री को यहीं का खुला हवा पानी चाहिए। ... यहां की मिट्टी का पौध यहीं के मौसम के अनुशासन में जी सकता है। बाहरी और उधार लिया हवा-पानी उसे पचा नहीं सकता।" ('एक ज़मीन अपनी'-चित्रा मुद्गल, पृ. 162) नारी मुक्ति की भारतीय सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने की सोच अपनी जड़ों की गहनता की स्वीकृति है। "पुरुष वह आत्मसम्मान नहीं देना चाहता तो उसे ठेंगे पर रखिए, लेकिन उपचार यह नहीं है, जो तुम सोच रही हो...मैं 'वैवाहिक' व्यवस्था को दो व्यक्तियों के साथ और आत्मसम्मानपूर्ण साझेदारी के रूप में देखती हूं। ये स्त्री स्वतंत्रता के पश्चिमी मापदंड हैं...हमारी संस्कृति हमारे सामाजिक परिवेश के लिए सर्वथा अनुपयुक्त! ... मैं तो विशेष रूप से इस बात को रेखांकित करना चाहती हूं कि स्त्री मर्द बनकर समाज में समानता चाहती है, स्त्री बने रहकर क्यों नहीं?...स्त्रीत्व के गुणों को बरकरार रखते हुए ... संघर्ष का यह गलत मोड़ नहीं है नीतू! चेतने की जरूरत है...स्त्री को स्त्रीत्व से मुक्ति नहीं चाहिए। उन रूढ़ियों से मुक्ति नहीं चाहिए जिन्होंने उसे वस्तु बना रखा है।" ('एक ज़मीन अपनी', पृ. 162) यही वह चिंतन है जो चित्रा मुद्गल के स्त्री-विमर्श को एक भिन्न भूमि प्रदान करता है। 'स्त्री-मुक्ति' केवल एक फैशन और एक नारा भर बनकर नहीं रह जाता बल्कि स्त्री को वास्तव में अपनी ज़मीन के अनुरूप स्वायत्ता प्रदान करने का आधार बनता है।

क़िस्सागोई की शैली में लिखा गया वर्ष 1996 में प्रकाशित मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' पांच कथावाचकों के माध्यम से एक भिन्न रूप में आधुनिक नारी के संघर्षों और उसकी जिजीविषा को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श की एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होता है। इन वाचकों में चार महिला पात्र हैं, जो भिन्न पृष्ठभूमि से संबंध रखते हुए भी स्त्री चेतना की जागृति की भूमि पर एक ही धरातल पर सिद्ध होती हैं। कथा

पृष्ठ 72 पर जारी

सुनाओ अब ऐसी कहानी शरज़ाद!

नासिरा शर्मा

बग़दाद जाना दरअसल अपने बचपन में फिर से लौट जाना जैसा था। चंदामामा की वे तस्वीरें पूरा बचपन रंगीन बना बैठी थीं। कहानी से ज्यादा कहानी के लिए बने चित्र आकर्षित करते थे जिन्हें घंटों देखने के बाद भी दिल नहीं भरता था।

आज का बग़दाद जंग में डूबा है।

मुझे याद आ रहा है उस दिन बग़दाद में पहली बार मरजीना का स्टैचू देखकर मैं किसी बच्ची की तरह खुशी से खिलखिला पड़ी थी। इस किरदार के साथ कितला लंबा समय मैंने गुज़ारा है। मेरी कहानी 'सबीना के चालीस चोर' की वह बच्ची जो मैं ख़ुद थी वह तेल के पीपों से गर्म खौलते तेल डालने की जगह यहां घड़े से झर-झर करके गिरता पानी देख रही थी।

"मीटिंग में जाना है।" मेरा गाइड अदब से कहता है और मैं अपने अंदर की बच्ची से उंगली नहीं छुड़ा पाती हूं। दिल है कि मरजीना के साथ बहे जा रहा है।

"कार इस रास्ते पर ज्यादा नहीं रुक सकती। ड्राइवर धीरे से कहता है। मेरे कानों में कोई आवाज़ वहीं पहुंची। लटकी लगाए में उस मुजस्समे को तेज़ हवा के झोकों के बीच खड़ी देखे जा रही हूं।

"मैम! चेहरा इधर करें तो आपको एक फोटोग्राफ़ लूं।' मेरा कैमरा कार से निकाल सूचना गाइड तंग आकर बोल उठा।

तेज़ धूप में चेहरा घुमाया तो आंखें बंद। किरणों में नेज़े की तपिश। हवा में हल्की खून की। साड़ी का पल्लू कसकर पकड़ा। हवा का बहाव आती-जाती रफ़्तार पकड़ी कारों से बढ़ चुका था। मैं भी ख़्वाब से चौंककर जाग चुकी थी। एक मीठी मुस्कान से मरजीना को बाय...बाय कहकर मैं कार में बैठी, मगर मेरे अंदर फ़्राक पहने लड़की ने ठुमकना नहीं बंद किया और न सबीना ने चाकू की जगह चमचे को घुमा-घुमाकर नाचना बंद किया था। तारीख़ के तहख़ाने से गुज़रती महल, खंडहर, बाग़, पुस्तकालय और म्यूज़ियम देखती हुई मैं वर्तमान में बम के धमाके सुनती, सेमिनार में बैठी युद्ध विगम की कोशिशों का हिस्सा बनी थी। बसरा की हूरों और मोतियों के क़िस्से और शहर के हुस्न के बीच ईरान से आती शेलिंग को देख रही थी। ज़हनी पर्तों के बीच से निकल कर बहुत-कुछ दिमाग़ के किताबख़ाने का बंद दरवाज़ा खुल रहा था। पेरामिड्स की शान के बाद बेबिलान का वैभव जो खंडहर में बदलकर भी अपने बुढ़ापे पर शर्मिंदा न था।

यह कौन सी धरती है?

यह मैं कहां आ गई हूं?

मानव सभ्यता का यह गहवारा मेरे ज्ञान के परे क्यों रहा अब तक?

क्या मैं अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति पर इतराई हुई थी?

अपने अलावा कुछ जानती न थी?

या फिर जानना नहीं चाहती थी?

यह सब-कुछ हम इंसानों का ही तो करिश्मा है?

आदम और हव्वा।

आदम और हव्वा जन्नत से निकाले गए तो आसमान से गिरे श्रीलंका के पहाड़ पर और दफ़न हुए फ़ैजाबाद में जहां उनकी लंबी क़ब्र मौजूद है। कहते हैं आदम का क़द नब्बे ग़ज़ का था।

शायद आदमी चलते-चलते घिस गया है या फिर ...

अपनी हरकतों से बौना बनता जा रहा है।

क़रना के 'आदम बाग़' में खड़ी हूं। बसरा से 74 किलोमीटर की दूरी पर जहां दजला और फ़रात मिलकर शत-अल-अरब में तब्दील हो जाती हैं, जहां पाम की सघनता का हुस्न बेजोड़ है।

इस बाग़ में उम्र रसीदा दरख़्त तन्हा खड़ा है।

जो 'आदम' वृक्ष कहलाता है।

तो क्या मैं यहां अपने पूर्वजों से मिलने आई हूं!

मस्जिदों, गिरजाघरों की कला से चकाचौंध नज़रें निनवेह, निमरूद की अट्टालिकाओं में अटक जाती है जहां पर इंसानी चेहरे वाला भैंसा या फिर गिद्ध के पंखोंवाला शेर दरवाज़े पर दोनों तरफ़ दीवार पर मौजूद है। निमरूद अपने पंखों, दाढ़ी, टोपी और हाथ में पकड़े किसी अनाज या फूलों के गुलदस्ते के साथ खड़े हैं।

720 ई. पू. का तराशा एक संगमरमर से बनाया औरत का चेहरा जो 'मोनालीज़ा आफ़ निमरूद' कहलाती है। उसकी आंखों में हैरत और परेशानी एक साथ झलक रही है। महसूस होता यह तो मेरा चेहरा है?

विदेशी लूटने वाले बहुत-कुछ लूटकर ले गए।

जहां मरम्मत हो सकती थी मरम्मत हुई।

जहां उसका डुप्लीकेट रखा जा सकता था रखा हुआ था।

सोचती हूं 'हमुराबी' का पहला लिखित क़ानून यहां वजूद में आया।

मगर रखा है फ्रांस के म्यूज़ियम में?

आज हमुराबी ज़िंदा होता तो वह आज की घटनाओं पर कौन-सा क़ानून बनाता?

यह क्या? मैं चौंकती हूं।

रात के गहरे नीलेपन में जलते लैम्पपोस्ट के नीचे यह कौन है?

एक मर्द बैठा है और कुछ दूरी पर एक औरत खड़ी है।

उसके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए हैं।

पास जाती हूं वहां लिखा पढ़ती हूं।

सारा बदन गिनगिना जाता है।

वह कोई और नहीं ...

शाह शहरयार और शहरज़ाद हैं।

1975 में मोहम्मद ग़नी द्वारा बनाया मुजस्समा मेरे सामने है।

क़िस्सागाई की मलिका का चेहरा देखती हूं।

अलिफ़ लैला के पन्ने नज़रों के सामने फड़फड़ाते हैं।

किरदार, हज़ारों की संख्या में चरित्र और चेहरे।

ज़हन में घूमते आंखों के सामने से गुजरते हैं।

पृष्ठ 72 पर जारी

— कहानी —

डेथ विल नॉट पार्ट अस

उषा वर्मा

अस्पताल के वार्ड नंबर बारह में बैठते ही जिम ने कहा-"एलिस मेरा मन होता है यहां से बाहर चलो, देखो सब किस तरह भाग-दौड़ कर रहे हैं। मेरा मन घबड़ा रहा है।"

एलिस ने कहा-"हां बात तो ठीक है पर यह सुबह का समय है, शायद इसीलिए सब अफ़रातफ़री में हैं। जल्दी-जल्दी अपना काम पूरा करना चाह रहे हैं, लेकिन जिम मैं तो तुम्हारे साथ हूं न।" इतना कहकर उसने जिम का हाथ अपने हाथों में ले लिया और बोली-"जिम परेशान क्यों हो रहे हो? ये सब तो बस टेस्ट हो रहे हैं। सब ठीक होगा, डाक्टर तो हमारी तसल्ली के लिए ही सब कुछ कर रहे हैं"।

नर्स की परेशान निगाहें बार-बार दरवाज़े की तरफ़ उठ जाती थीं और बड़बड़ाती जा रही थीं, "सुबह ही फोन कर दिया था मरीज़ की छुट्टी कर दी है। दस बजे के पहले ही आकर ले जाओ लेकिन घरवालों को क्या जल्दी है जो समय पर आ जाएं। अभी जो बेड ख़ाली होने वाला है उस मरीज़ को लेने उसके घर से कोई नहीं आया है। जब तक बेड ख़ाली न हो मैं कैसे सारी तैयारी कर सकती हूं"।

उसी समय वार्ड-ब्वाय आ गया। जिम को एम. आई. आर. (ब्रेन स्कैन) के लिए ले जाने। नर्स ने जिम के हाथ पर उसके नाम की पट्टी बांध दी और उसको वार्ड-ब्वाय के साथ भेजकर आराम की सांस ली।

फिर सोचने लगी "मरीज़ को करीब एक घंटा एम. आई. आर. रूम से आते-आते तो अवश्य ही लगेंगे"।

उसी समय उसने देखा कि मरीज़ को लेने उसके घरवाले आ गए हैं। वह जल्दी से उधर गई और मरीज़ को पूरी हिदायतें देकर चली आई।

नर्स ने बेड को हर तरह की ज़रूरी सहूलियत से लैस कर दिया। ब्लड ट्रांसफ्यूजन वग़ैरह का इंतज़ाम कर जिम के नाम की तख़्ती लटकाकर वहां से चली गई।



जिम जब कमरे में पहुंचा तो इतनी बड़ी ताबूत की तरह मशीन देखकर घबड़ा गया। क्या सचमुच मुझे कुछ हो गया है। एक बार उसके मन में आया वह मना कर दे फिर हिम्मत बांधकर स्ट्रेचर पर लेट गया। उसकी गर्दन के दोनों तरफ़ एक तरह का ब्रैकेट लगाकर फिक्स कर दिया। पूरा बदन अच्छी तरह ढक दिया और कहा कि वह स्थिर होकर लेटा रहे, हाथ में एक स्विच दे दी और कहा अगर उसे कुछ परेशानी हो तो स्विच दबाने पर वह मशीन बंद कर अंदर कमरे में आ जाएगा। जिम को यह भी बता दिया कि उसे तरह-तरह की आवाज़ें सुनाई पड़ेगी, कभी-कभी हथौड़े चलने की, कील ठोंकने या हवाई जहाज़ की घरघराहट लेकिन यह सब स्वाभाविक है, वह घबड़ाए नहीं।

जिम को लगा उसे जीते जी क़ब्र में उतारा जा रहा है। और एलिस आराम से नर्स के साथ बातें कर रही है। बीस मिनट जिम के लिए बीस घंटे से भी ज्यादा लंबे हो गए। स्कैन के लिए गया था, लौटा तो डाक्टर ने कहा-"आपको दो दिन यहां और रुकना होगा कुछ और टेस्ट करने हैं।"

जिम एलिस का मुंह देखने लगा जैसे कह रहा हो तुम्हारी बात में कितनी सच्चाई है, यह तुम जानती हो फिर मुझे धोखा क्यों दे रही हो। एलिस उसके पीछे खड़ी हो गई और धीरे-धीरे उसके कंधों को दबाने लगी। जिम का सामना करने की हिम्मत नहीं हुई।

जिम मॉरगन लंबा कसा हुआ बदन। ऊंचाई छह फीट दो इंच। हल्के सुनहरे बाल। सब मिला कर आकर्षक व्यक्तित्व का धनी। उम्र यही कोई पचपन से ऊपर। घर से आते समय न जाने क्यों विचलित-सा हो रहा था। हंसमुख विटी जिम को ऑफिस के लोग मानते थे। एलिस शांत, कुछ चुप-चुप रहने वाली लेकिन जिम से शादी होने के बाद वह काफी बदल गई थी।

एलिस ग़ज़ब की खूबसूरत थी। लेकिन जिम अक्सर ही कहता, "एलिस तुम ख़ूबसूरत नहीं भी होती तो भी मैं तुमसे इतना ही प्यार करता। मैं चाहता हूं तुम मुझसे अलग न हो, हम हमेशा साथ रहें। ओनली डेथ डू अस पार्ट"। एलिस मुस्करा देती, कहती-"नॉट ईवेन डेथ विल पार्ट अस"।

तरह-तरह के टेस्ट से तो जिम परेशान था ही पर कुछ और भी था जो उसे सुकून नहीं लेने देता था। पसलियों में लगता था कुछ फंस गया है, कभी लगता गले में गोले हैं जो निगले नहीं जा रहे हैं।

डाक्टर के जाने के बाद जिम ने एलिस से कहा-"एलिस कल मेरी पासबुक ले आना"। तो क्या मुझे पैसों की चिंता है, नहीं मेरे पास तो इतने पैसे हैं कि मैं बड़े आराम से सारा जीवन बिता सकता हूं। फिर मैंने एलिस से पासबुक लाने को क्यों कहा? क्या सोचेगी एलिस। जिम को कुछ समझ में नहीं आ रहा है। एक ऐसी उलझन है जिसे जिम समझ नहीं पा रहा है।

दो दिन जिम ने जैसे-तैसे करके बिताए। डाक्टर ने एलिस से कहा-"अब आप इन्हें घर ले जाइए। एक हफ्ते बाद टेस्ट के रिज़ल्ट आने के

बाद आपको चिट्ठी जाएगी।''

जिम खुशी-खुशी घर आया, गार्डन में जाकर घूम-घूमकर सारे फूलों को पानी देता रहा। फिर स्लग फ्लेट्स लाकर डालने चला तो न जाने क्यों उसके हाथ एकाएक रुक गए। फिर सोचने लगा इन्हें मार दूं क्या। क्या पता शायद मेग ही जीवन समाप्त हो जाए।

जिम किसी मल्टीनेशनल कंपनी में डाइरेक्टर था। पैसा और पोज़ीशन दोनों ही उसके पास थे। पिता का छोड़ा हुआ मकान हाईलैंड्स में था जिसमें जिम कभी-कभी छुट्टियां बिताने के लिए जाया करता था। यहां शहर की चहल-पहल से दूर एक गांव में उसका बहुत बड़ा घर था। उसी से लगा हुआ स्वीमिंग पूल। घर की डिसप्ले यूनिट में दुनिया की एक से एक खूबसूरत क्रिस्टल की चीज़ें थीं। कहीं ऊंचे-ऊंचे हाथी-आइवरी की खूबसूरत मूर्तियां, नक्काशी किए हुए दरवाज़े, जापान से लाई हुई बड़ी ऊंची कांसे की गौतम बुद्ध की मूर्ति। लेकिन जिम को हर चीज़ से एक अरुचि-सी हो चली थी, मेरे लिए सब बेकार है मन में एक दहशत छाई रहती थी।

जिम ने शादी बहुत देर से की। एलिस उससे पंद्रह साल छोटी थी। क्यों उसने एलिस से चेकबुक मांगी? जिम अपनी निगाह में ही जैसे गिर गया। एलिस से बोला मेरा दिमाग़ कैसा है? मैं यहां चेकबुक लेकर क्या करूंगा पर तुम कुछ पैसा रखना। क्या पता कोई ज़रूरत ही पड़ जाए।

जिम चाहता था कहीं घूमने जाए एलिस के साथ दूर-दूर। ऐसी जगह जहां उसे सुकून मिले पर सुकून तो दरकिनार एक अनजाना डर उसकी शिराओं में खून को जमा देता है। क्या होगा कहीं जाकर एलिस इतनी छोटी है एकदम जवान आज मैं न रहूं तो। यदि आज मैं मर जाऊं तो मेरी लाश मॉरचरी में रखी जाएगी। एलिस बहुत दुःख करेगी, फ्यूनरल तक रोज मेरी लाश देखने जाएगी। रोएगी तो जरूर पर 'धूप का चश्मा' पहन लेगी जिससे कोई यह न समझे कि वह कमज़ोर है। शायद छह महीने तक मेरी याद करती रहेगी फिर धीरे-धीरे कोशिश करेगी कि मुझे भूल जाए। कहेगी लाइफ़ गोज़ ऑन।

आसपास के लोग ख़ासकर उसके दोस्त भी उसे कहेंगे, ''एलिस बी स्ट्रांग, अपने भविष्य को देखो। बाहर निकलो। देखो दुनिया कितनी अच्छी है।'' और फिर वह शादी कर लेगी।

दुनिया उसे अच्छी लगने लगेगी। मेरे मरने पर एलिस ज्यादा से ज्यादा छह महीने अफ़सोस करेगी हो सकता है साल भर। इसके बाद जिम का सारा जिस्म कांपने लगा। उसे दिखा कि कोई और है जो बैठा है उसकी कुर्सी पर, यही नहीं, वह उसका सिगार पी रहा है। और एलिस वहीं बैठी हंस रही है। बेहद खुश है।

एलिस की उम्र भी तो बहुत कम लगती है, जिम को यह अहसास होने लगा कि सचमुच कोई उसे हटाकर उसकी जगह लेता जा रहा है कि मुझे भूल जाए। धीरे-धीरे पैर बढ़ाकर उसने जिम की नई स्लिपर भी पहन ली है। मैं तो यह सब छोड़कर चला जाऊंगा। एलिस इतने बड़े घर को, मेरे तमाम बैंक बैलेंस को, इतने क़ीमती सामान को किसी और के साथ भोगेगी।

जिम एक आवेश में उठा और अपने वार्डरोब को खोला। अपने सारे सूट को एक बार ललचाई आंखों से देखा। सिल्क की नरम टाइयों पर हाथ फेरा और एकदम आक्रोश से भरा उन्हें खींच-खींचकर फेंकने लगा।

उसी समय एलिस कमरे में आ गई। वह एकदम सांस रोककर देखने लगी, फिर धीरे से बोली ''जिम क्या चाहिए? कौन-सी टाई चाहिए, मैं निकाल देती हूं।''

एलिस को देखकर जिम चुपचाप चारपाई पर बैठ गया। एलिस को कुछ आभास होने लगा, कहीं कुछ गड़बड़ है। पर ठीक से कुछ भी समझ नहीं पा रही थी।

जिम का माथा फटा जा रहा था, अल्मारी से विस्की की बॉटल निकाली और एक क़ीमती क्रिस्टल के गिलास में विस्की डाल पीने के लिए गिलास ऊपर उठाया झिलमिलाती क्रिस्टल की चमक ने उसे फिर बेहाल कर दिया। जिम को लगा कि उसने बहुत से फ़ैसले ग़लत लिए अगर एलिस उससे इतनी छोटी न होती तो शायद अच्छा होता। एलिस और उसने मिलकर एक फ़ैसला और किया था कि उन्हें बच्चे नहीं चाहिए

यद्यपि एलिस ने एक-दो बार कहा था-''जिम हमें बच्चों को पालने में क्या परेशानी है? सारा काम तो नैनी करेगी पर वही टाल गया था।'' शायद कुछ सोचकर एलिस भी चुप रह गई और अब एलिस शादी भी करेगी, उसके बच्चे भी होंगे, पर वे मेरे बच्चे नहीं किसी और के। लेकिन उसका कोई वश नहीं है, हर बात उसके कंट्रोल से बाहर है।

एलिस क्या करे, उसकी समझ में आया कि कहीं दूर हॉलीडे पर चले जाने से कुछ फायदा होगा। जिम को एक चेंज की जरूरत है।

शाम होते ही एलिस जिम से बोली-''जिम हम कहीं घूमने चलें, कहीं ...।''

जिम ने कहा-''देखता हूं, सोचूंगा''।

दूसरे दिन जिम ने सोचा शायद जाने से मेरे मन को कुछ तसल्ली होगी। तब तक मेरी रिपोर्ट भी आ जाएगी। शायद मेरी बेवजह की तक़लीफ़ें भी ठीक हो जाएं। पर कहां जाना अच्छा होगा। कई जगह के नाम उसके दिमाग़ में आए पर वह कुछ भी निश्चय न कर सका, और एलिस के पास जाकर उससे कहा ''वह जहां चाहे वहीं वह जाने को तैयार है।''

बहुत सोच-विचार के बाद एलिस ने सोचा सिंगापुर अच्छा रहेगा। धूप जिम के लिए अच्छी रहेगी। फिर वहां शॉपिंग में भी मज़ा आएगा।

एलिस ने अपने जी.पी. से पूछा-क्या इस समय जिम के लिए कहीं जाना ठीक रहेगा। डाक्टर का कहना था कि जिम के लिए ही तो बेहद ज़रूरी है। फिर एलिस में दुगुना उत्साह आ गया, उसने सोचा जाने से पहले कुछ ज़रूरी सामान यहीं से ख़रीदकर साथ ले जाना ठीक रहेगा। मच्छरों की दवा, कुछ दवाइयां वग़ैरह। पर जिम का मन थोड़ा उचाट होने लगा। क्यों जाए वह, उसने अपने से पूछा क्या बदल जाएगा हमारी परिस्थितियां तो वही रहेगी। फिर भी मन मारकर उठा। अटैची ऊपर से उतारी। कुछ नए कपड़े जो ईस्टर पर ख़रीदे थे, उन्हें निकाला। शेविंग का सामान, एक बड़ा अच्छा-सा परफ़्यूम जो उसे एलिस ने जन्मदिन पर दिया था, कपड़ों के बीच से निकला। लगा जैसे हाथ बिजली के नंगे तारों पर पड़ गया हो।

मैं न रहूं तो यह परफ्यूम भी, यही नहीं इस जैसे जाने कितने परफ्यूम एलिस ख़रीदेगी। अच्छा तो क्या मैं एलिस को खुश नहीं देखना चाहता हूं, क्या मैं इतना नीच हो गया हूं। यह आत्म-विश्लेषण भी उसे कुछ ख़ास संतोष नहीं दे सका। टिकट बुक करवाने के लिए वह जाने लगा फिर सोचा एलिस को भी साथ लेना ठीक रहेगा। इसी समय एलिस शॉपिंग करके लौटी थी, थकी थी, फिर भी वह साथ जाने को तैयार हो गई। दोनों बुकिंग कराकर लौट आए। सारी तैयारी हो गई, दो दिन बाद वह सिंगापुर पहुंच जाएंगे।

लंबा सफ़र था, एलिस जिम को तरह-तरह से खुश रखने की कोशिश करती रहती। खुद भी खुश रहती थी, जिम की पसंद की वाइन मंगवाती और बड़े ही उत्साह से जिम को देती। जिम के चेहरे पर थोड़ी देर को एक चमक आती लेकिन फिर वही

उदास अनमना चेहरा, सिंगापुर पहुंचकर शायद सब ठीक हो जाएगा।

रात हो रही थी। रात का खाना ख़त्म हो गया था, बत्तियां बुझा दी गईं। जिम को झपकी आ गई। परिचारिका ने उसको धीरे से शाल उढ़ा दिया और कुर्सी को पीछे कर आरामदेह बना दिया। एलिस ने शाल से अपना पैर ढक लिया और जिम के कंधों पर सर डालकर सोने का प्रयास करने लगी। सोते में ही जिम ने एलिस के हाथों को अपने सीने पर खींचकर रख लिया। बीच में जिम की नींद टूटी लेकिन वह फिर सो गया।

सुबह जब नींद टूटी तो एलिस को लगा जैसे जिम उसे लगातार देखता जा रहा है। एलिस थोड़ा असहज हो रही थी। उसने पूछा-"जिम कैसे हो"?

"मैं ठीक हूं। शायद सिंगापुर आ रहा है।"। इसी समय घोषणा हुई। हम सिंगापुर आधे घंटे में लैंड करेंगे। कुर्सियां सीधी कर लें और बेल्ट बांध लें। और सिंगापुर आ गया। उतरते ही टैक्सी लेकर वह होटल पहुंच गए। सामान रखकर चाय पीकर दोनों घूमने निकल गए। गर्मी होने पर भी ताज़ी हवा ने जिम के मन का अवसाद धो दिया। वह एलिस से हंसी मज़ाक करता हुआ बाहर घूमता रहा। एलिस ने सोचा काश। हम पहले ही आ गए होते। एक हफ्ता अच्छा गुज़रा। एलिस ने सोचा क्यों न हम मलेशिया भी चले जाएं पर जिम ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। धीरे-धीरे जिम को फिर वही उदासी घेरने लगी, खाने-पीने से अरुचि होने लगी।

बातें भी बेमन से करने लगा, कभी-कभी एलिस को लगता जिम कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पा रहा है। जिम धीरे-धीरे टुकड़ों में बोलता, "एलिस तुमने कहा था..." लेकिन इसके आगे कुछ न कहकर चुप हो जाता। दूसरा सप्ताह अजीब से घबराहट के माहौल में बीता। अब लौटने का वक्त भी आ रहा था। आते ही एलिस ने जिम को डाक्टर को दिखाया।

डाक्टर ने कहा जिम की सभी रिपोर्ट ठीक है, उसे कोई मानसिक चिंता है। कुछ वहम कोई डर। जिम का वज़न काफ़ी तेज़ी से घट रहा था, वह बैठे-बैठे सोचता रहता 'मैं एलिस से वादा लूंगा कि मेरे मरने के बाद वह शादी नहीं करेगी'। फिर अपने पागलपन पर और खीझता। क्या मैं देखने आऊंगा, वह वादा करने के बाद भी मेरे मरने पर जो चाहे वही करेगी। वह सोचता रहा क्या मैं पागल हो रहा हूं। एलिस की लाख कोशिशों के बाद भी जिम का चेहरा पीला पड़ता जा रहा था। उदासीनता का यह आलम था कि वह चुपचाप बिस्तर में पड़ा रहता। डाक्टर का कहना था कि वह डीप डिप्रेशन में है कभी-कभी धीरे-धीरे एलिस को पुकारता किंतु पास आने पर चुप हो जाता। एलिस जान ही नहीं पा रही थी कि जिम को क्या दुःख है।

उस दिन सुबह से ही शिद्दत की सर्दी पड़ रही थी। कोहरे से चारों तरफ़ अंधेरा छाया था। फिर भी एलिस डॉक्टर के पास गई, उसे अपनी रिपोर्ट लेनी थी। मन-ही-मन एलिस सोच रही थी कि अगर उसका टेस्ट पॉजिटिव होगा तो वह जिम को सरप्राइज़ देगी। रिपोर्ट लेकर वह बेहद खुश जिम के पास आई, पर यह क्या जिम अपनी आख़िरी सांस ले रहा था, उसने एलिस का हाथ पकड़ लिया और उखड़ती आवाज़ में बोला, "एलिस तुमने कहा था ईवन डेथ विल नॉट पार्ट अस"।

एलिस जल्दी से फोन के पास दौड़ी एम्बुलेंस को फोन किया। इससे पहले कि एलिस जिम को कुछ बताती जिम का सिर एक तरफ़ लुढ़क गया।

एलिस एकदम स्तब्ध रह गई फिर फूट-फूटकर रोने लगी "जिम तुम मेरे पास हो। हां मैंने तो कहा था-ईवेन डेथ विल नॉट पार्ट अस"।

वह रिपोर्ट वहीं पड़ी अंगीठी की रोशनी में चमक रही थी। ❑

दो कविताएं : **श्रीनाथ सहाय**

अकेली बेटी

तेरे टिमटिमाते चिराग़ से घर रौशन है,
पापा
तेरे लब की धीमी रोशनी ही
काफ़ी है मेरे लिए
तुम्हें रखे सलामत
मैं मांग कर आई हूं दुआ
बड़ी आरजू-मिन्नत से
लो खा लो यह प्रसाद
अभी चढ़ा कर आई हूं।

पापा नहीं खोलते मुंह
बेटी देखकर हताश
गिरता हाथ से, बिखर जाता प्रसाद
और टूटता, बिखर जाता
बेटी का अंतिम आस भी
साथ-साथ
अब दुनियां वीरान
अंधकार सर्वत्र
बेटी अकेली है।

संपर्क : 5/598, विराम खंड, गोमती नगर, लखनऊ-226010 (उ.प्र.)

बड़ी होती बेटी

बेटी कहती
देखो मां, मैं कितनी छोटी हूं
मां देखती, निहारती इसे
समझ जाती इसके मन की बात
नहीं-नहीं, सोचती
बेटी तो छोटी ही मानती, स्वयं को सर्वथा
क़द छोटा, पद छोटा, सब छोटा, सहज भाव से
समझ लेती 'छोटी' का सच
बढ़ जाती इसके दिल की धड़कन
आंखें होतीं सजल, मन ग़मग़ीन।

बेटी समझ जाती मां की बेचैनी
पढ़ लेती माथे पर खिंची लकीर
झट कपड़े से छिपाती बढ़ती उम्र

फ़िक्र न करो मां
होने दो थोड़ी और बड़ी
बनूंगी तेरी मज़बूत कड़ी
बहाओ न तुम आंसू
पोंछ डालो इसे, दूंगी तुझे बेटी होने का
सबल, सुखद अहसास

फ़िक्र न करो मां
न करो फ़िक्र
मां की अश्रुधारा बढ़ जाती है।

स्त्री-विमर्श के पुरोधा चलम्

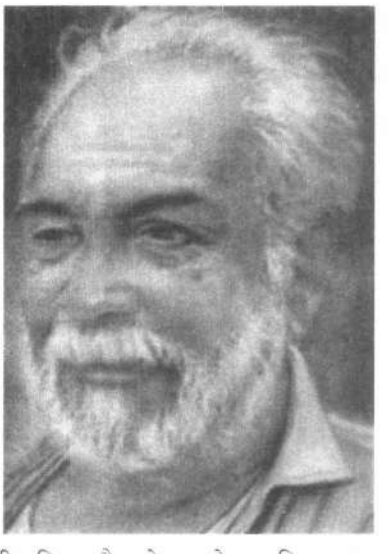
चलम् के समस्त साहित्य के केंद्र में है, स्त्री-विमुक्ति। वे स्त्री का पक्ष लेकर पुराणपंथी समाज पर आक्रमण का शंखनाद करने वाले क़लम के महारथी थे। यह सब उन्होंने यश या सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए नहीं किया था। दुनिया जिसका अनुमोदन नहीं करती, जिसे छिपाना चाहती है, उसे वे खुलकर प्रकट करना चाहते थे। स्त्री की ही समस्या इनको सदा क्षुब्ध-व्यग्र और उद्वेलित करती रही, बता रहे हैं **जे.एल. रेड्डी**

''स्त्री का भी शरीर है; उसे व्यायाम देना चाहिए। स्त्री का भी मस्तिष्क है, उसे ज्ञान देना चाहिए। स्त्री का भी हृदय है उसे अनुभूति देनी चाहिए'' का रणनाद करते हुए और ''किसी भी तरह का अंधविश्वास नहीं करना चाहिए, जांति-पांति को नहीं मानना चाहिए और इन सब से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है-स्त्री का सम्मान'' कहकर अपने जीवन के उद्देश्यों की घोषणा करने वाले गुडिपाटि वेंकट चलम् तेलुगु साहित्य में वैचारिक क्रांति के अग्रदूत, स्त्रियों की स्वतंत्रता और उनके अधिकारों की दृष्टि से समाज को नया स्वरूप और संस्कार देने वाले लेखक माने जाते हैं। समाज को जाग्रत करने के अपने प्रचंड अभियान में न वे शांति से सोए, न समाज को ही शांति से सोने दिया। उनके जितना विवादास्पद और उनसे अधिक उद्वेग से लिखने वाला लेखक तेलुगु साहित्य में दूसरा नहीं हुआ है। वे ऐसे चिंतक और प्रगतिशील रचनाकार थे जिन्होंने तेलुगु साहित्य में एक प्रभंजन की तरह प्रवेश करके उसे झकझोरा था और उसकी भाषा तथा विचारों में अपूर्व परिवर्तन ला दिया था। देश में जब सामंतवादी विचारों का प्रभुत्व था, तब इनका साहित्य-जीवन आरंभ हुआ था। 1921 से लेकर लगभग 50 वर्ष से अधिक समय तक लिखी अपनी अनेक रचनाओं में वे स्त्री-पुरुष संबंधों और विवाह व्यवस्था की सड़ांध को दूर करने को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानने वाले उद्यमशील साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं। वे प्राचीन रूढ़ियों, परंपराओं और मर्यादाओं के कट्टर विरोधी थे।

चलम् का साहित्य आधुनिक तेलुगु साहित्य में एक नए अध्याय के आरंभ का कारण बना है।

''सुखनिद्रा में पड़े मनुष्यों को न जगाया तो काग़ज़ और छपाई व्यर्थ के आयास हो जाते हैं। साहित्य को सुलाने का काम नहीं करना चाहिए। उसे तो जगाने का काम करना चाहिए।'' यही चलम् का आदर्श था। उन्होंने स्त्री की वेदना को अपनी रचनाओं का आधार बनाकर समाज को झकझोरकर जगाया है, उसकी आंखें खोली हैं। उन्होंने लिखा है-''तुम्हारे मित्र, संबंधी और तुम्हारे ईसा मसीह तुम्हारा साथ छोड़ दें, तो याद रखो, कि मित्रों, संबंधियों और यहां तक कि भगवान द्वारा भी परित्यक्त चलम् एक है और उसकी सहायता सदा तुम्हारे लिए उपलब्ध है।''

चलम् के समस्त साहित्य के केंद्र मे है, स्त्री-विमुक्ति। वे स्त्री का पक्ष लेकर पुराणपंथी समाज पर आक्रमण का शंखनाद करने वाले कलम के महारथी थे। यह सब उन्होंने यश या सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए नहीं किया था। दुनिया जिसका अनुमोदन नहीं करती, जिसे छिपाना चाहती है, उसे वे खुलकर प्रकट करना चाहते थे। स्त्री की ही समस्या इनको सदा क्षुब्ध-व्यग्र और उद्वेलित करती रही। ''समस्त महान कार्यों, प्रयत्नों और वाङ्मयों के पीछे



जो है, वह स्त्री शक्ति ही है। सारी शक्ति स्त्री शक्ति ही है। उससे परे की शक्ति यदि कोई हो, तो वह दैवीय शक्ति होगी। दैवीय शक्ति को न जानने वाला मैं स्त्री की शक्ति की ही आराधना करता रहा हूं।'' यह कहकर उन्होंने स्त्री को एक बहुत ऊंची वेदी पर प्रतिष्ठित किया है। चलम् ने ही इस बात को समझा है और प्रचारित किया है कि 'स्त्री का भी शरीर है, उसे व्यायाम देना चाहिए, उसका भी मस्तिष्क है, उसे ज्ञान देना चाहिए, उसका भी हृदय है, उसे अनुभूति देना चाहिए।'' यह महावाक्य ही चलम् के पूरे जीवन और साहित्य को संचालित करता हुआ दिखाई देता है।

स्त्री के जीवन को संकीर्ण और नीच पाकर वे उत्तेजित-उद्वेलित हुए और युगों-युगों की गहरी नींद से उसे थपथपाकर और फटकारकर जगानेवाला साहित्य-यज्ञ करने का संकल्प किया। उन्होंने असहाय स्त्री को नैतिक समर्थन और अभयदान दिया। स्त्री से अधिक आनंदमय और प्रेम से अधिक मधुर दूसरी कोई चीज नहीं है, इस खुले सत्य को न पहचानने वाले मूर्ख संसार को उन्होंने खूब फटकारा है। उन्होंने घोषणा की, ''स्त्री के प्रति मेरे अंदर अपार भक्ति है। समस्त संसार में अमूल्य और अत्युत्तम तो स्त्री का हृदय ही है।'' इन्होंने यह भी लिखा है, ''जब तक मेरे जीवन में आकर इस समस्या ने हृदय के रक्त को नहीं खौला दिया था, तब तक मैं जानता ही नहीं था कि मैं लिख सकता हूं। यह कैसे कहूं, कि आज भी उस विषय के अलावा दूसरे किसी विषय पर लिखना मुझसे नहीं होता?''

स्त्री को स्वतंत्रता और गरिमा दिलाने का उद्यम ही इनकी समस्त रचनाओं के मूल में है। आजीवन स्त्री की समस्या पर वे इतने एकाग्र रहे कि तत्कालीन परम महत्त्वपूर्ण विषयों-राष्ट्रीय आंदोलन और साम्यवादी विचारधारा के प्रति भी उदासीन ही बने रहे।

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबंधों के विषय में चलने के विचार क्रांतिकारी हैं। इन्होंने स्त्री को पुरानी रूढ़ियों तथा मर्यादाओं के बंधनों से मुक्त करके पुरुष के समान ही निर्बाध एवं स्वच्छंद रीति से समस्त सुखों को भोगने

तथा संपूर्ण आत्मतुष्टि प्राप्त करने का अधिकार दिलाने के लिए अपने साहित्य द्वारा एक उग्र आंदोलन चलाया और इस प्रकार एक तरफ अपने समय के समाज के क्रोध और बहिष्कार के शिकार हुए, तो दूसरी तरफ उसके एक वर्ग के प्रेम और आदर के पात्र बनकर अनेक लेखकों के नेता एवं मार्गदर्शक भी बने। आंध्र में इनको स्त्री स्वतंत्रता आंदोलन और स्त्रीवादी चिंतन का प्रवर्तक माना जाता है। आज यदि स्त्री की मुक्ति और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व-निर्माण के निमित्त तेलुगु स्त्रीवादी साहित्य एक प्रबल अस्त्र बन गया है, तो उसके लिए वैचारिक आधार भूमि चलम् ने ही तैयार की थी। इसमें कोई संदेह नहीं है। चलम् निश्चित रूप से भारत के आदि स्त्रीवादियों में से एक हैं।

"अपने और संसार के बीच सामंजस्य स्थापित होने तक कवि द्वारा किया जाने वाला बाह्य और आभ्यंतर युद्धनाद की कविता है।" यह चलम् ने कहा है। यह चलम् द्वारा स्त्री के पक्ष में पुरुषसत्तात्मक समाज के विरुद्ध छेड़े हुए साहित्यिक संग्राम को भी परिभाषित करता है।

स्त्रियां हजारों सालों से जो यातनाएं और तिरस्कार झेलती आई हैं, उनके कारणों की खोज करें तो ये तथ्य सामने आते हैं ... पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के दासीकरण की प्रविधि धीरे-धीरे निर्मित हुई। आचार-विचार विषयक निरर्थक धारणाओं को धर्म और परंपरा के अभिन्न अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। कालक्रम में यह निर्मिति आर्थिक और राजनीतिक शक्ति स्रोतों में प्रवेश कर गई। यह काम इस कुशलता से हुआ कि ये धारणाएं स्त्री की चेतना में-यहां तक कि उसके रक्त और जीवाणुओं में भी-व्याप्त हो गईं।

इन धारणाओं में पहली है, स्त्री और पुरुष की असमानता-अर्थात लिंग-विभेद की धारणा। विषमता की इस मान्यता की सहायता से स्त्री पितृसत्तात्मक समाज द्वारा ऐसी अधोगति में पहुंचा दी गई जहां वह अपने शरीर, मन और हृदय को भुला बैठी। वह पुरुष की दासी बन गई। जब तक स्त्री को उसकी इस अपमानजनक और यातनामय स्थिति के बारे में समझाया नहीं जाता और उसे पातिव्रत्य आदि से संबद्ध विचारों और विश्वासों के पिंजड़े से बाहर निकाला नहीं जाता, तब तक वह पुरुष के शासन से न मुक्त हो सकती है, न असमानताओं के घेरे से ही बाहर आ सकती है। गतानुगतिक समाज में स्त्री-स्वातंत्र्य और अधिकारों के लिए प्रबल प्रयास करने वाले चलम् ने इसी विश्वास से स्त्री संघर्ष को स्त्रियों से भी अधिक संवेदनशीलता और आग्रह के साथ साहित्य में चलाया है।

चलम् ने स्त्री पर पुरुष की अधिकार-भावना का निषेध किया, स्त्रियों को उद्‌बोधित किया कि वे पुरुष की इस भावना का विरोध करें, और अपने व्यक्तित्व का विकास करके स्वतंत्र जीवन जिएं। यह भी कहा कि स्त्री-पुरुषों को समान स्तर के मित्रों की तरह रहना चाहिए।

सशक्त भाषा, आवेगयुक्त शैली तथा उग्र एवं आक्रामक विचारधारा, इनके साहित्य के प्रमुख गुण हैं। चलम् के जीवन और लेखन में जितना निकट संबंध है, उतना किसी अन्य तेलुगु लेखक में दिखाई नहीं देता। चलम् ने स्वयं कहा है कि उनकी रचनाएं उनके जीवन की 'वाई प्रोडक्ट्स' हैं।

चलम् ने स्त्री की जितने प्रकार की स्वतंत्रता की वकालत की है, उनमें उसकी लैंगिक स्वतंत्रता प्रमुख है। यह चलम् की रचनाओं की शक्ति भी है और दुर्बलता भी। उन्होंने कहा, "स्त्री का प्रेम बदल सकता है। अप्रिय पति और परिवार को छोड़कर जाने का उसे अधिकार है"। स्त्री यातना का कोई शाश्वत समाधान निकालना मानो उनके जीवन का परम लक्ष्य था। स्त्री जीवन की सभी समस्याएं-व्यक्तिगत और सामाजिक-चलम् के साहित्य के इतिवृत्त हैं। लेकिन चलम् की स्त्री कोई निरीह प्राणी ही नहीं है वह प्रेम, सौंदर्य, लावण्य, लालित्य, अपूर्व अनुभव आदि की मूर्ति ही नहीं, पुरुष को जीवन की पूर्णता प्रदान करने वाली महत्तर शक्ति भी है। चलम् का साहित्य स्त्री की स्वेच्छा की समस्या से शुरू होकर आगे उसके सौंदर्य और फिर अंत में आनंद प्राप्ति तक विकास पाता हुआ दिखाई देता है। समकालीन चिंतन में आमूल परिवर्तन लाने का असाधारण प्रयास वह करता है। इसके अलावा तेलुगु गद्य रचना को भी वह एक अपूर्व शक्ति और वेग प्रदान करता है।

नैतिकता का संबंध स्त्री और पुरुष दोनों से होता है। इसी तरह अनैतिकता का भी। ऐसा न मानकर एक ही काम के लिए पुरुष को क्षमा कर देना और स्त्री को अपराधी मानकर दंडित करना कैसे हो सकता है? इन दुहरे प्रतिमानों के विरुद्ध खड्गहस्त होकर स्त्री की स्वतंत्रता के नारे को बुलंद करते हुए चलम् साहित्य क्षेत्र में आए थे। उन्होंने लिखा, "नैतिकता के नाम पर कितना स्वार्थ फैला हुआ है, यह कौन जानता है? अपने को नैतिक मान लेने वालों जैसे अंधे और स्वार्थी दूसरे कोई नहीं होते।"

1925 में रचित और 1930 में प्रकाशित स्त्रीवाद के मैनिफेस्टो कहने योग्य निबंध संकलन 'स्त्री' के आज तक अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। चलम् की सभी रचनाओं में सर्वाधिक प्रचार-प्रसार पाने वाली और चलम् के समस्त साहित्य को वैचारिक आधार प्रदान करने वाली रचना यही है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में चलम् ने लिखा है, "इस पुस्तक में मैंने समाज की जो कमियां दिखाई हैं, वे इस देश में ही नहीं, पूरी दुनिया में हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरुष स्त्री के साथ जो करता आया है, यह अन्याय ही है।"

अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण चलम् की रचनाओं में सबसे अधिक आलोचना का लक्ष्य भी यही रचना बनी है। 1930 से लेकर 1956 तक की छब्बीस वर्ष की अवधि में हुए पुनर्मुद्रणों के अवसर पर चलम् ने पांच बार इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखी है। इन वर्षों में 'स्त्री' की अनेक आलोचकों द्वारा तीव्र आलोचना हुई थी। चलम् भी जीवन में और अनुभव में बहुत दूर तक की यात्रा कर चुके थे। इतने लंबे अनुभव के प्रकाश में इस पुस्तक का उन्होंने पुनरावलोकन किया, तो उनको छापे की ग़लतियों को छोड़कर कुछ भी बदलने की जरूरत महसूस नहीं हुई।

इस रचना में व्यक्त विचारों को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है....

समाज ने स्त्री को मनुष्य या पशु न मानकर वस्तु माना है। वह किसी वस्तु की तरह पुरुष की संपत्ति बन गई है।

अपने-आप और अपने लिए जीने का अधिकार स्त्री को नहीं है। पुरुष के उपयोग में नहीं आई, तो उसका जीना और मरना दोनों बराबर है।

स्त्री के लिए पति की दासता से बचने का एक ही उपाय है, और वह है आर्थिक स्वतंत्रता। पुरुष की अनेक स्त्रियां हो सकती हैं, तो स्त्री के अनेक पुरुष क्यों नहीं हो सकते? काम भावना को दबाएं ही क्यों? एक विवाह (monogamy) आदर्श तो हो सकता है, पर नैतिकता का सामान्य नियम नहीं। पुरुष स्वेच्छा और उच्छृंखलता के साथ जी रहा है। स्त्री को भी ऐसी आज़ादी होनी चाहिए। पति को चाहिए कि वह पत्नी को अपनी और अपनी निजी संपत्ति न माने।

पुरुष पर जिस तरह स्त्री का अधिकार नहीं है, उसी तरह स्त्री पर पुरुष का अधिकार नहीं होना चाहिए। स्त्रियों को चाहिए कि पुरुष की इस अधिकार भावना का विरोध करें।

विवाह व्यवस्था को ईश्वर निर्मित बताते हुए पुरुष ने इसे विकृत बना दिया है और इसमें स्त्री को शतरंज का मोहरा बनाकर इस्तेमाल कर रहा है।

विवाह के बंधन से अधिक आसक्ति और प्रेम का बंधन दंपति के जीवन को सुखमय बनाता है। प्रेम रहित विवाह उनके जीवन को दुस्साह बना देता है।

समाज में स्त्री का अपना कोई स्थान नहीं है। पति के द्वारा उसका स्थान निर्धारित होता है। आर्थिक दृष्टि से पत्नी से वेश्या अधिक स्वतंत्र है। जहां समस्त प्राणी अपना निर्वाह स्वयं कर रहे हों, वहां पूरी सृष्टि में एक स्त्री को ही अपने निर्वाह के लिए आत्मसम्मान खोकर पुरुष पर निर्भर रहना पड़ रहा है। आर्थिक स्वतंत्रता न होने से ही स्त्री पुरुष और समाज की दासी बनी हुई है। ऐसी विवाह-व्यवस्था का अंत होना चाहिए।

मनुष्य को चाहिए कि सुख और सौंदर्य के उपभोग से वंचित रहकर जीवन को नष्ट न करे। जीवन को भोगना कम-से-कम पशुओं को देखकर ही सही, उसे सीखना चाहिए।

सौंदर्य फूल में है, फल में है, चांदनी में है, पेड़ में है, नदी के कगार में है। इन सबसे बढ़कर स्त्री-पुरुषों के अद्‌भुत शरीरों में है। इसका भोग करना चाहिए।

स्त्री हो या पुरुष काम या शृंगार भावना हमेशा एक ही के प्रति बनी नहीं रहती। चंचल स्वभाव प्रकृतिसिद्ध है। इस प्रकृतिसिद्ध कामना को पुरुष किसी तरह तुष्ट कर लेता है, पर स्त्री भी वह प्रयत्न करे, तो संघर्ष आरंभ हो जाता है। यह अनुचित है। पुरुष अपनी आधिपत्य-भावना से स्त्री को नाना यातनाएं देता है। स्त्री के लिए नैतिकता का एक प्रतिमान है तो पुरुष के लिए दूसरा। यह दुहरी नीति नहीं होनी चाहिए। अनैतिक आचरण के लिए स्वतंत्रता जब होगी; तभी सच्ची नैतिकता प्रकट होगी। स्त्री-पुरुषों को सच्चे मित्र और दंपति बनना हो, तो दोनों को संपूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। उनके बीच प्रेम का संबंध होना चाहिए, अधिकार का बंधन नहीं। मनुष्य सब एक जैसे नहीं होते। भिन्न-भिन्न लोगों की नैतिकता भी भिन्न-भिन्न होती है। सब के लिए एक ही नैतिकता नहीं हो सकती।

संयोग में योग का निवास है। समस्त कलाओं में उन्नत है रति कला। वही आध्यात्मिक आनंद है। इस महत्तर आनंद का बड़े मनोयोग से भोग करना चाहिए। किसी नित्य कर्म की तरह उसे निबटाना ठीक नहीं। यह सृष्टिकार्य अत्यंत उत्कृष्ट कार्य है।

आधुनिक स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता तो मिल गई है लेकिन सेक्स की स्वतंत्रता नहीं मिली है।

परंपराओं की शृंखलाओं में जकड़ी स्त्री विद्रोह नामक ब्रह्मास्त्र द्वारा ही अपना सही स्थान पा सकती है।

पुस्तक में स्त्री की यातनाओं और उसकी समस्याओं के निवारण के उपायों के साथ-साथ गर्भ धारण, गर्भ-निरोध, गर्भपात, यौन रोग, बांझपन, विवाह-विच्छेद, दांपत्य सुख जैसे मामलों में स्त्री हित की ऐसी अनेक बातें चलम् ने बताई हैं, जो एक मां भी नहीं बता सकती। बात-बात में कहते हैं कि कोई कठिनाई हो तो मुझे लिखो। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि स्त्री की उन्नति के लिए वे कितने चिंतित थे।

स्त्री के जीवन को यातनामय बनाए हुए पुरुष समाज की मनोवृत्ति के प्रति उनमें इतना आक्रोश था कि अनादि काल से चली आ रही स्त्री की परतंत्र स्थिति को और उसके प्रति पुरुष के दुर्व्यवहार को दर्शाने के लिए उन्होंने पौराणिक पात्रों को भी अपने तीव्र कशाघातों का लक्ष्य बनाया है। स्त्री को एक खिलौना मानने वालों को चलम् कभी क्षमा नहीं करते। भले ही वे पूज्य पुराण-पुरुष ही क्यों न हों। राम, हरिश्चंद्र, युधिष्ठिर, सब को एक ही सांचे में ढले स्वार्थी पुरुषों के रूप में और सीता, शैव्या और द्रौपदी को उनके अत्याचारों से त्रस्त स्त्रियों के रूप में उन्होंने अपनी पौराणिक नाटिकाओं में चित्रित किया है।

चलम् ने माना है कि पत्नी की सुरक्षा करने में अपनी असमर्थता पर क्षुब्ध होने के बजाय उसके चरित्र पर शंका करने वाले राम में स्त्री को हीन मानने वाले पुरुष की बद्धमूल प्रवृत्ति ही व्यक्त हुई है। चलम् यह कहना चाहते हैं कि विद्रोह न करनेवाली स्त्री का ऐसी अग्नि परीक्षाओं से बच पाना संभव नहीं है। 'सीता का अग्नि प्रवेश' नामक नाटिका में चलम् द्वारा भर्त्सना गई यह विद्रोह भावना सीता में उग्र रूप ले लेती है तो वह राम से प्रश्न करती है- "रावण ने मुझ से प्रेम किया, तो इसका दोष मेरा क्यों है? शत्रुओं से मेरी रक्षा करने का दायित्व तुम्हारा है। कोई पराया पुरुष मुझ से प्रेम करता है या मेरा अपहरण करता है, तो हमारा संबंध विच्छिन्न क्यों हो जाता है? मैं क्या कोई खाने की वस्तु हूं, कि दूसरों ने जूठी की होगी, इस शंका से दूर फेंक दी जाए? ... अरे स्वार्थी! तुम चाहते हो कि तुम्हारा राज्य, तुम्हारा यश, तुम्हारी संपत्ति सब सदा वृद्धि पाते रहें और मैं अनाथ और लांछित होकर नष्ट हो जाऊं? ... तुम धर्म चलाने वाले यंत्र हो। मैं बच्चों को जन्म देने वाला यंत्र हूं। तुम मेरा क्या परित्याग करोगे? मैं ही तुम जैसे हृदयशून्य यंत्र का, वचन भंग करनेवाले नीच का परित्याग कर रही हूं। तुम्हारे नीच नाम से अपवित्र हुए अपने हृदय को इस प्रणयधीर के रुधिर से पवित्र हुई ज्वाला से निर्मल बना लूंगी ... किसका प्रेम उन्नत है (राम का या रावण का?) इसका निर्णय कर सकने वाले बुद्धिमान लोग इस संसार में कभी पैदा नहीं होंगे क्या? और कितने दिन तक स्त्री पुरुष की यंत्र बनकर रहेगी? कभी-न-कभी आंख खोलेगा यह संसार!" यह कहकर वह रावण की जलती चिता में कूद जाती है।

सीता का यह क्रांतिकारी तेवर पारंपरिक संसार को रुचा नहीं। ऐसी सीता की सृष्टि करने के लिए चलम् को आलोचना रूपी अनेक अग्नि परीक्षाओं का सामना करना पड़ा था। पति को छोड़कर स्त्री का अपना पृथक हृदय और धर्म कोई नहीं है, लेकिन पत्नीधर्म को छोड़कर पुरुष के पास धर्म ही धर्म हैं! इस बात के आक्रोश की अभिव्यक्ति ने ही चलम् को समाज का कोपभाजन बना दिया था और थोड़े से मित्रों और अनेक शत्रुओं की सृष्टि की थी।

इसी प्रकार चलम् ने 'हरिश्चंद्र' नाटक में पत्नी और पुत्र को कांटों में घसीटने वाली हरिश्चंद्र की सत्यनिष्ठा के विकृत रूप का चित्रण किया है और 'भानुमती' नामक नाटिका में युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा किस प्रकार उसकी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति का प्रतीक है, इसका चित्रण किया है।

85 साल पहले जब इस देश में स्त्री की स्वतंत्रता की कोई स्पष्ट कल्पना तक नहीं थी तब उस स्वतंत्रता से संबद्ध वैज्ञानिक सिद्धांत को न जानने वाला एक लेखक पूरे समाज के विरोध में और स्त्रियों के पक्ष में खड़े होकर स्त्रियों को पुरुष के समान ही नहीं, उससे कहीं अधिक स्वतंत्रता देने की वकालत करते हुए जब स्त्री को यह प्रेरणा देता है-"जीवन से, समाज से पराजय स्वीकार मत करो। मृत्यु में, शिष्टाचार में, जड़ता में, साधारणता में शरण मत ढूंढो। रणभूमि में आओ। घाव हुआ है? अंग क्षत-विक्षत हुए हैं? शरीर का सारा खून ज़मीन पर बह गया है? तो भी कोई बात नहीं। उस गृहस्थी में मौत से तो यही अच्छा है।" तो उनकी सहृदयता और सदाशयता के प्रति लाख-लाख स्त्री हृदय कृतज्ञता-भाव से श्रद्धाभिभूत नहीं होंगे?

हमें स्मरण रखना होगा कि यह पुस्तक 1925 में लिखी गई थी जब स्त्री शिक्षा, स्त्री के अधिकार, स्त्री के आत्मसम्मान आदि की बात विचित्र लगती थी। इस पुस्तक में कई अव्यावहारिक और परस्पर विरोधी माने जा

सकने वाले विचार भी हमें मिलेंगे। स्त्री के प्रति अपने अतिशय सद्भाव और उसकी सामाजिक स्थिति के प्रति अतीव असहिष्णुता और स्त्री का उत्पीड़न करने वाले पुरुष सत्तात्मक समाज के प्रति तीव्र क्रोध और जुगुप्सा के कारण कई जगह उन्होंने चौंकाने वाले, अव्यावहारिक, अग्राह्य और परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए हैं। इसलिए पुस्तक में व्यक्त सभी विचारों और सुझावों से हमारा सहमत हो पाना कठिन है।

चलम् ने स्त्री पर पुरुष की अधिकार-भावना का निषेध किया, स्त्रियों को उद्बोधित किया कि वे पुरुष की इस भावना का विरोध करें, और अपने व्यक्तित्व का विकास करके स्वतंत्र जीवन जिएं। यह भी कहा कि स्त्री-पुरुषों को समान स्तर के मित्रों की तरह रहना चाहिए।

एक जगह वे कहते हैं, "विवाह के बाद पति-पत्नी में परस्पर आसक्ति पैदा होगी, यह कहना हास्यास्पद है।" जब कि विवाहोत्तर आसक्ति के उदाहरण असंख्य हैं। एक जगह स्त्री-पुरुष के संबंधों में शुचिता की बात करते हैं, तो दूसरी जगह एक ही समय में अनेक प्रेम संबंधों का भी समर्थन वे करते हैं। एक जगह विवाह के यातनामय होने पर स्त्री को घर छोड़कर जाने या विवाह-विच्छेद की सलाह देते हुए कहते हैं-"अनुपयुक्त व्यक्ति के साथ विवाह करके ग़लती की है, यह बात मालूम होते ही तुरंत उस संबंध को समाप्त कर देना चाहिए। आत्मोन्नति के लिए अदम्य साहस से युक्त प्रयोग अत्यंत आवश्यक होते हैं। चाहे जितना प्रेम करने वाला पति या पत्नी हो, उन्नत लक्ष्य के लिए, अधिकतर आत्म संतुष्टि देने वाले संबंध के लिए उसे छोड़ देना उत्कृष्ट धर्म है, कर्त्तव्य है।" तो दूसरी जगह कहते हैं-"चूंकि दूसरा संबंध इससे अधिक उत्तम और सुखद होगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है, और उसमें भी अनेक दिक्कतों के पैदा होने की संभावना है, इसलिए नब्बे प्रतिशत लोगों के लिए किसी के साथ भाग जाने से तो गृहस्थी में बने रहना ही अच्छा है। क्योंकि चाहे जितना छोटा स्थान हो, उसमें स्त्री को एक प्रकार की सुरक्षा और शांति है और वहां कुछ सीमा तक ही सही-समाज स्त्री के पक्ष में बोलेगा। एक जगह कहते हैं, 'विवाहित हों या अविवाहित एक स्त्री का एक ही पुरुष और एक पुरुष की एक ही स्त्री-यह आदर्श अत्यंत उन्नत है। और दूसरी जगह कहते हैं-"एक ही समय में एक से अधिक लोगों के साथ आसक्तिमय संबंध की आवश्यकता हो सकती है। दूसरे व्यक्ति को इसे सहानुभूति के साथ समझना चाहिए।"

शृंगार को ही सब कुछ और उसी को ब्रह्मानंद माननेवाले आवेश के वशीभूत होकर कही गई बातें और विवाह-व्यवस्था को ध्वस्त करने की वकालत निर्माणात्मक न होकर विध्वंसात्मक ही लगती हैं। हमें अपने विवेक के आधार पर उनके विचारों को ग्रहण करना चाहिए।

स्त्री की स्वतंत्रता से संबद्ध एक सीमित लक्ष्य के अलावा जीवन के किसी स्पष्ट सिद्धांत का प्रतिपादन न करने से चलम् किसी नए जीवन दर्शन का सूत्रपात नहीं कर सके। स्त्री की विमुक्ति को बहुत कुछ सेक्स की समस्याओं तक सीमित करना भी उनका अतिवाद लगता है। पातिव्रत्य की भावना पर चोट करने के लिए चलम् ने मुक्त प्रेम का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा-"इस सनातन आर्य भूमि ने, इस आध्यात्मिक देश ने, इस पवित्र भारत वर्ष ने, धर्मपत्नियों के इस देश ने पातिव्रत्य के नाम पर स्त्रियों को अनेक बंधनों में जकड़कर उनके व्यक्तित्व को नष्ट कर दिया है।"

ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं, "चलम् की सारी कहानियां एक जैसी होती हैं। उनमें वैविध्य नहीं होता।" इसके जवाब में यह कहने वाले भी हैं कि महान लेखक अपनी चालन शक्ति की प्रेरणा से एक ही कहानी को, एक ही इतिवृत्त को बार-बार लिखता है। रचना उनके लिए एक निरंतर अन्वेषण है। मनुष्य का जीवन अधिक सुखमय हो, वैवाहिक संबंध और अधिक उन्नत हों यह चाहकर कही गई बातें अत्यंत महत्त्वपूर्ण होने पर भी बातों को भालों की तरह प्रयोग करनेवाली उनकी असहिष्णुता और अतिशय आवेग के कारण चलम् के विचार कहीं-कहीं विचित्र रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इनमें सामंतवाद विरोधी विचार भी हैं और अराजक और उच्छृंखल विचार-पद्धतियां भी। आलोचनात्मक दृष्टि से इनका अनुशीलन करके हमें उनके प्रगतिशील विचारों को ही ग्रहण करना चाहिए। यानी हमें चलम् के विचारों को छानकर ग्रहण करना चाहिए। उन्होंने प्रगति का जो मार्ग दिखाया, उसके सामने उनकी ये असंगतियां निश्चित रूप से उपेक्षणीय हैं। इसके अलावा अपनी वैचारिक निष्ठा के लिए सब कुछ दांव पर लगा देने का साहस, ईमानदारी और सदाशयता रखने वाले लेखक की प्रशंसा किए बिना हम नहीं रह सकते।

85 साल पहले चलम् ने जिस उद्देश्य से लिखा था, वह उद्देश्य अभी पूरा नहीं हुआ है। चलम् ने स्त्री के लिए जिस स्वेच्छा और स्वतंत्रता की कामना की थी, वह उसे अभी नहीं मिली है। उन दिनों की सामाजिक परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन अभी नहीं आया है। स्त्री पर पुरुष का शासन अभी चल ही रहा है। दांपत्य जीवन दुखमय बना हुआ है। जब तक यह समाज बदल नहीं जाता, तब तक चलम् की इस रचना की प्रासंगिकता अक्षुण्ण है।

चलम् ने स्त्री के लिए समाज में सम्मान, पुरुष के समान अधिकार, विवाह, लैंगिक अनुभव आदि मामलों में आज़ादी, आर्थिक आत्मनिर्भरता, उसकी अवैध संतान के लिए सामाजिक और सरकार की सुरक्षा आदि चाहा है। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि स्त्री को जो स्वतंत्रता वे दिलाना चाहते हैं, उसके लिए आधुनिक स्त्री में तड़पन नहीं है। वे मानते हैं कि सास के अधिकार से और पति की अधीनता से मुक्त होकर स्वतंत्रता प्राप्त कर चुकी आधुनिक स्त्री वस्त्र धारण, विलासिता और सामाजिक प्रतिष्ठा की गुलाम बन गई है। पत्नी के रूप में एक पुरुष की छत्रछाया में रहते हुए संसार का तिरस्कार करने में समर्थ गृहिणी आज-सामाजिक प्रतिष्ठा के नाम पर, शिक्षा के नाम पर, विलासिता के नाम पर हज़ार लोगों की गुलामी कर रही है। आधुनिक स्त्री के लिए उसके चारों ओर रहने वाली सभी स्त्रियां सासें बन गई हैं। स्त्री ने एक तरह से स्वतंत्रता हासिल की है तो दूसरी तरह से उसे खोया भी है।

आगे आने वाले समाज में स्त्री का जीवन पूरी तरह बदलनेवाला है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता, समाज के कामों में भागीदारी का अधिकार, घर की चाकरी से मुक्ति, अपनी पसंद की कलाओं में प्रवीणता प्राप्त करना, मन चाहे प्रेम संबंध स्थापित करना, उनमें असंतोष भर जाने पर उन्हें तोड़ने की स्वतंत्रता, फिर स्वेच्छा से दूसरे प्रेम संबंध की स्थापना, बच्चों पर अधिकार, उनका पालन-पोषण करने की शक्ति-इस तरह अपने पुराने जीवन से, पुरुष के आधिपत्य से संपूर्ण मुक्ति स्त्री प्राप्त करने जा रही है। चलम् ने ऐसा ही परिवर्तन चाहा था। उनके बताए मार्ग में चाहे लाख ग़लतियां हों, उनकी यह मान्यता कि पुरुष के आधिपत्य से स्त्री को पूरी तरह मुक्त होना चाहिए, स्त्री के लिए महत्त्वपूर्ण है।

शैली :-वेदना जितनी तीव्र होती है, रचना भी उतनी ही वेगवान होती

है। स्त्री की वेदना को अपनी वेदना मानने वाले चलम् जब लिखते थे, तब उनके हृदय में महान उत्साह और उद्रेक की ज्वाला धधकती रही होगी, जो उनके लेखन में प्रतिफलित हुई है क्योंकि चलम् की रचनाओं और उनकी शैली के लिए स्त्रियों की वेदना ही आलंबन है। चलम् ने प्रश्न किया है, "मेरी तरह असहाय स्त्रियों को देखकर जो दुखी नहीं हुआ है, वह कई जन्म लेकर भी मेरी तरह लिख सकता है क्या? ..., मेरे लेखन ने तो शैली और शक्ति दोनों प्राप्त किए हैं यथार्थ से ही। आपको विचलित करनेवाली बातें मेरी नहीं, मेरे यथार्थ की सच्चाई की बातें हैं। मैंने वही लिखा जिसे मैंने सही माना और वही किया जो लिखा।" ऐसा कह सकने वाले लेखक कितने होंगे? वे यहां तक कहते हैं कि आवेग के अलावा उनकी कोई शैली नहीं है। वे कहते हैं, "लोग जिसे मेरी शैली कहते हैं, वह मेरे हृदय का आवेग ही है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति मैं जो वेदना अनुभव करता हूं और उनके साथ हुए अन्याय के कारण जो क्रोध मुझे आता है, वही उस आवेग की जननी है। लिखते समय मेरा हाथ कांपता है। हृदय जल उठता है। अधिक-से-अधिक तीखे शब्दों की तलाश मैं करने लगता हूं। इसी गर्मी का अनुभव करके लोग मेरी प्रशंसा करने के लिए विवश होने के कारण मेरे कथ्य पर परदा डालने के उद्देश्य से बड़प्पन मेरी शैली को देते हैं।"

"मेरी रचनाओं ने मेरे जीवन-समर को ही प्रतिबिंबित किया है...मुझ में समाज सुधार की अभिलाषा कम है। मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उन्नत हों, इसी के लिए मैं तड़पता रहा हूं।" अपने उद्यम को आगे बढ़ाने के लिए किसी समाज या कम-से-कम उसके प्रोत्साहकों या प्रशंसकों की कोई जमात भी उन्होंने इकट्ठी नहीं की। जिस तरह वे व्यक्तिवादी थे, उसी तरह उनका उद्यम भी वैयक्तिक ही था। उनकी दृष्टि में सुधार का मतलब समाज के एक-एक व्यक्ति में आनेवाला परिवर्तन था। वे मानते थे कि "समुद्र में चाहे जितनी मशालें जलाकर फेंको, वे जिस तरह बुझ जाती हैं, उसी तरह का घनघोर अंधकार इस दुनिया में फैल गया है। रूढ़िवादी लोग परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते। उनकी भक्ति मनुष्य के प्रति कम और ताड़पत्र के ग्रंथों के प्रति अधिक होती है।" चलम् साहित्य की सिद्धि केवल कला और सौंदर्य की सृष्टि में नहीं, सामाजिक क्रांति में एक उपकरण बनने में मानते थे।

आज की विवाह व्यवस्था की कृत्रिमता के संबंध में उनका तर्क है, "विवाह नाम की चीज से मेरा विरोध क्यों है? क्योंकि वह व्यभिचार में, वेश्यावृत्ति में बदल गया है, इसलिए। अनिच्छा से भी स्त्री को अपना शरीर पुरुष को सौंपकर आंखें बंद करनी पड़ती हैं। यह विवाह द्वारा स्त्री के लिए पैदा की गई दौर्भाग्यपूर्ण स्थिति है जिसके प्रति उसे अनिच्छा होती है, उसके साथ शारीरिक संपर्क के लिए वेश्या सहमत नहीं होती। पशुओं के साथ भी यही बात है। लेकिन स्त्री की स्थिति उससे भी गिरी हुई है।" इस दृष्टि से ही चलम् ने माना है कि वेश्या पत्नी से अधिक स्वतंत्र है और व्यभिचार में विवाह से अधिक नैतिकता है। इसी विचार से चलम् ने अपनी रचनाओं में विवाह व्यवस्था की कृत्रिमता को उद्घाटित किया है।

x x x x

1984 में एक तेलुगु परिवार में चलम् का जन्म हुआ था। सनातन और रूढ़िवादी आचार-विचारों की शृंखलाओं में स्त्रियां किस प्रकार यातनाएं भोग रही हैं, आंसू बहा रही हैं, आत्महत्याओं और भ्रूणहत्याओं में प्रवृत्त हो रही हैं, यह सब उन्होंने स्वयं देखा था। पिता ने इनकी दो छोटी बहनों की शादी ज़बर्दस्ती करके की थी। एक बहन की ऐसी शादी को रुकवाने में चलम् सफल हुए थे। अपने चाचा को चाची को ढोर-डंगर की तरह रात-रात भर मारते-पीटते भी देखा था।

काकिनाडा में पढ़ते समय ब्रह्म समाज के प्रभाव में आकर चलम् ने जाति और धर्म का परित्याग किया था लेकिन वहीं पहुंचकर वे नहीं रुके। कहा, "ब्रह्म समाज कहता है कि जाति पुरानी पड़ चुकी है। मैं कहता हूं कि विवाह-व्यवस्था पुरानी पड़ चुकी है।" इस नई खोज के साथ चलम् ने साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया था और अनेक कहानियां, उपन्यास, नाटक आदि लिखे थे। ट्रेनिंग स्कूल के अध्यापक के रूप में, प्रधानाध्यापक के रूप में अनेक जगहों में काम करते हुए चलम् ने मनोविज्ञान का भी अध्ययन किया। पाश्चात्य विचारधाराओं से भी वे प्रभावित हुए। केवल कहना नहीं, जो कहा वह करना भी चलम् की एक विरल विशेषता है। समाज के बहिष्कार के शिकार भी वे हुए। हर जगह बस्ती से बाहर टूटे-फूटे मकान में रहना पड़ता था। ब्राह्मणों के मोहल्लों में प्रवेश नहीं मिलता था। इनके साथ इनके परिवार के सदस्यों को भी यातनाओं भरा जीवन जीना पड़ा।

1920-30 के तेलुगु प्रांत में यह कोई छोटी बात नहीं थी। एक बहुत बड़ा साहसिक विद्रोह था। चलम् एक ऐसे लेखक थे जो अपने विचारों को पूरी ऊर्जा के साथ प्रस्तुत करते हैं। तीव्र आवेग, ईमानदारी और खरापन ये गुण चलम् में खूब हैं। इनके साथ अद्भुत शैली के भी ये स्वामी हैं।

जिन दिनों चलम् नौकरी कर रहे थे, उन दिनों एक प्रधानाचार्य होते थे। वे बहुत सिद्धांतवादी थे। सबसे बड़ी बात वे चलम् के हितैषी थे। जाति और समाज से बहिष्कृत होकर सबकी आलोचना का शिकार हुए चलम् को देखकर उनको दया आई, तो उन्होंने चलम् को 'सही मार्ग' पर लाने का विचार किया। "मनुष्य समाज रूपी घड़ी के चक्र की तरह होता है...।" अपनी बात की भूमिका बांधते हुए वे कहने लगे। उनका हित वचन पूरा होने से पहले ही चलम् बोल पड़े, "मैं किसी घड़ी-वड़ी का चक्र नहीं हूं। असल में उस घड़ी के प्रति मेरे मन में कोई सम्मान भी नहीं है। उसके अंदर जितने चक्र हैं वे सब ख़राब हैं। वह सही समय बता भी नहीं रही है। उस घड़ी को देखकर सत्य को भूले हुए लोग यह सोच रहे हैं कि समय का निर्धारण करने वाला सूर्य ही ग़लत चाल चल रहा है।"

बाद में चलम् की प्रवृत्ति आध्यात्मिक हो गई, तो वे तिरुवण्णामलै के रमणाश्रम में जाकर रहने लगे और वहां रहते हुए भी अपना लेखन जारी रखा। जीवन के अंतिम तीन दशक उन्होंने वहां के शांत वातावरण में ही गुज़ारे थे। 1979 में इनका देहावसान वहीं रहते हुए हो गया। कहते हैं कि रमणाश्रम में एक बार किसी ने उनकी रचनाओं के संबंध में पूछा, तो भोलेपन के साथ हंसते हुए उन्होंने कहा था "उनके लेखक के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है।"

उनके निधन पर 'आंध्रज्योति' नामक दैनिक समाचार पत्र ने लिखा, "चलम् की तुलना करनी हो, तो एक विक्षुब्ध महासागर से करनी होगी। एक महान जल प्रपात से करनी होगी। चलम् के निधन से मानो एक समुद्र स्तब्ध हो गया है, एक जल प्रपात निश्चित हो गया है, एक झंझानिल शांत हो गया है...एक महान लेखक के प्रवेश के बाद कोई भी साहित्य पूर्ववत बना नहीं रहता। उसका स्वरूप बदल जाता है। उसका स्वभाव बदल जाता है। साहित्य पर वह अपनी अमिट छाप अंकित करता है। चलम् ने जो किया वह यही है। तेलुगु गद्य के स्वरूप को, लेखन की प्रकृति को उन्होंने पूरी तरह बदल दिया है। समकालीन लेखकों पर और बाद की पीढ़ी पर भी उन्होंने अपना गहरा प्रभाव अंकित किया है।" ❑

संपर्क : बी-1/93, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

रशीद जहां
प्रगतिशील आंदोलन की नींव का पत्थर

प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) व इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) की स्थापना में रशीद जहां ने अग्रणी भूमिका अदा की और एक कथाकार-नाटककार के बतौर उर्दू अदब में प्रगतिशील महिला लेखन का पथ प्रशस्त किया। उर्दू साहित्य में स्त्री-केंद्रित सामाजिक यथार्थ की कहानियों का सूत्रपात किया। शुरुआत बेबाक और हंगामाख़ेज़ थी, बाद की महिला कथाकारों की राह भी वहीं से बनी, रशीद जहां की प्रगतिशील चेतना पर **सुरेश सलिल** *की विवेचना*

" ... हिंदुस्तान में मुसलमान औरतें आख़िर कौन से हक़ूक़ रखती हैं! किसी मामले में हमारी कोई आवाज़ नहीं। मैं आप और जमीला के अलावा और किसी से कहने की हिम्मत नहीं रखती कि मैं शादी करना नहीं चाहती। अगर शादी करूं भी तो किससे? लोगों ने मेरी मर्ज़ी के बारे में कब पूछा? ..."

"... सिर्फ़ मुसलमान लड़कियां ही तकलीफ़ नहीं उठातीं। शादी के मसले में खुद हम भी कुछ करने का हक़ नहीं रखते। मेरी शादी बहुत कम उम्र में ज़्यादा उम्र के एक आदमी से कर दी गई थी, जिसने एक दूसरी औरत के चक्कर में मुझे छोड़ दिया।"



एक मुस्लिम युवती और एक हिंदू लेडी डॉक्टर के बीच की यह बातचीत 16 वर्ष की एक मुस्लिम युवती की लिखी और 1923 में प्रकाशित एक कहानी से उद्धृत है। ज़रा याद कीजिए 1925 का ज़माना! उस वक़्त तक हमारे यहां इस तरह का यथार्थवादी और विद्रोही स्त्री-स्वर कल्पनातीत था। इसे संभव किया था लखनऊ के इज़ाबेला थॉबर्न (आई. टी.) कालिज की, इंटर साइंस की छात्रा रशीद जहां ने। उसकी यह पहली कहानी थी और कालेज-मैगज़ीन में छपी थी।

रशीद जहां नाम की यही युवती आगे चलकर उर्दू के अदबी और मुस्लिम समाजी हलक़ों में 'अंगारे वाली' के बतौर बदनाम-सदनाम हुई। प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) व इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) की स्थापना में उसने अग्रणी भूमिका अदा की और एक कथाकार-नाटककार के बतौर उर्दू अदब में प्रगतिशील महिला लेखन का पथ प्रशस्त किया।

रशीद जहां महज़ एक औरत का नाम नहीं है-वह मर्दवादी वर्चस्व द्वारा थोपी गई और मज़हबी चाबुक द्वारा अमल में लाई गई रूढ़ियों को चुनौती देने वाली एक मशाल है। वह हमारी तरक़्क़ीपसंद तहरीक की संगे-बुनियाद है।

रशीद जहां का जन्म 25 अगस्त 1905 को अलीगढ़ के एक आला दिमाग़ ख़ानदान में हुआ। उनके पिता शेख़ मोहम्मद अब्दुल्ला न सिर्फ़ राष्ट्रीय चेतना संपन्न एक आधुनिक शख़्सियत थे, बल्कि मुस्लिम औरतों की शिक्षा और बौद्धिक विकास के हामी भी थे। इसी इरादे से उन्होंने अलीगढ़ में मुस्लिम गर्ल्स स्कूल और वीमेंस कालेज की स्थापना की और 'ख़ातून' नाम से एक महिलापयोगी पत्रिका निकाली। इस मुहिम में उनकी पत्नी वहीद जहां बेगम ने भी कंधे से कंधा मिलाकर उनका साथ दिया। जब स्कूल बोर्डिंग का सवाल सामने आया तो वहीद जहां बेगम ने घरेलू व्यस्तता को किनारे खिसका कर बोर्डिंग की साज-संभाल का ज़िम्मा अपने सर लिया, ताकि स्कूल में तालीम पाने वाली लड़कियों के मां-बाप अपनी बेटियों को लेकर पूरी तरह चिंतामुक्त हो सकें। उस दौरान रशीद जहां की उम्र यही कोई पांच-छह साल की रही होगी। इसी हवाले से वह अक्सर कहा करती थीं-"हमने तो जब से होश संभाला, स्त्री-शिक्षा ही हमारा ओढ़ना-बिछौना रहा।"

स्त्री-शिक्षा के अलावा क़ौमी आज़ादी का जज़्बा भी रशीद जहां को जन्म-घूंटी में मिला। आए दिन उनके घर पर मीटिंगें होतीं, स्पीचें दी जातीं और उनमें मौलाना आज़ाद की बहन आबरू बेगम, बेगम अतिया फ़ैज़ी, बेगम भोपाल आदि रौशनख़्याल ख़ातून शिरकत करतीं। इस सबका असर रशीद जहां पर यह हुआ कि 14 साल की उम्र से ही उन्होंने खादी पहनना शुरू कर दिया।

हाईस्कूल का इम्तिहान अलीगढ़ से पास करने के बाद, सन् 1922 में, आगे की पढ़ाई के लिए रशीद जहां को लखनऊ भेजा गया। वहां इज़ाबेला थॉबर्न कालेज में इंटर साइंस में उन्होंने दाख़िला लिया और कालेज मैगज़ीन में अपनी पहली कहानी 'सलमा' प्रकाशित की। कालेज मैगज़ीन चूंकि अंग्रेज़ी जुबान में निकलती थी, लिहाज़ा रशीद जहां को अपनी पहली रचना अंग्रेज़ी में लिखने को मजबूर होना पड़ा। आगे चलकर, 1924 से 29 के दरमियान, लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज, दिल्ली से एम.बी.बी.एस. करते हुए एक नाटक भी उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा और मंचित किया।

रशीद जहां की ज़िंदगी की अब तक की दास्तान से यह बात तक़रीबन साफ़ हो जाती है कि उन्होंने शुरू में ही मेडिकल लाइन में जाने और एक लेडी डाक्टर का पेशा अख़्तियार करने का फ़ैसला ले लिया था। एम.बी.बी.एस. की डिग्री हासिल करने के बाद यू.पी. मेडिकल सर्विस में उनकी नियुक्ति हुई और बुलंदशहर, कानपुर, लखनऊ व बहराइच की जिला डिस्पेंसरियों में उन्होंने काम किया। एक लेडी डाक्टर के बतौर उन्होंने समाज के सबसे निचले और वंचित तबके की सेवा को अपना लक्ष्य बनाया। 1934 में फेलोट्रेवेलर और मार्क्सवादी विद्वान महमूदुज़्ज़फ़र से विवाह करने और तदुपरांत सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देने के बाद भी उन्होंने इस लक्ष्य को नज़रअंदाज़ नहीं किया। पहले

देहरादून में, अपनी ससुराल में रहते हुए फिर महमूदुज़्ज़फ़र के अमृतसर कालेज के वाइस प्रिंसिपल नियुक्त होने पर अमृतसर में और बाद में जब दोनों ने कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्त्ता बनकर लखनऊ को अपना कार्यक्षेत्र बनाया तो लखनऊ और आसपास के जिलों में रशीद जहां ने तूफ़ानी रफ़्तार से मज़दूर-किसानों के बीच काम किया और एक एक्टिविस्ट लेडी डाक्टर के बतौर अपनी पुख़्ता पहचान दर्ज की। कानपुर-उन्नाव क्षेत्र के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिवकुमार मिश्र ने अपनी आत्मकथा में लिखा-"वे मार्क्सनगर-मकूर और उन्नाव जिले के दूसरे बहुत से गांवों में अक्सर आती रहती थीं। जब वे आतीं तो घर-घर घूमतीं। मकूर की औरतें उनके आते ही घरों से निकल आतीं और उनसे अपने घर चलने का आग्रह करतीं। वे हर घर की दीदी थीं। ग़रीब किसानों का शायद ही कोई घर ऐसा हो जहां उन्होंने मोटे अनाज की सूखी रोटी और सादी दाल बड़े प्रेम से न खाई हो। हम लोग जनता से घुले-मिले थे, लेकिन अक्सर उनके घरों में बिस्तर हटाकर चारपाई पर बैठते थे और वे थीं कि गंदे से गंदे बिस्तर पर अपने स्वच्छ धवल वस्त्रों के साथ धप्प से बैठ जातीं। छोटे-छोटे नकफुसड़े बच्चों को गोद में उठा लेतीं और अपने हाथों अपने रूमाल या साड़ी के पल्लू से उनकी नाक पोछतीं। ऐसी थीं हमारी कामरेड रशीदा! ... मास्को से कामरेड रशीदा के निधन का समाचार आया तो मकूर के सभी किसान-घरों की औरतें इतना रोईं, मानो कोई घर का अपना ही न रहा हो। उनके घरों में तीन दिन तक चूल्हा न जला।

रशीद जहां कैसी समर्पित कम्युनिस्ट थीं, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि एक बार जब पार्टी के सामने गंभीर आर्थिक संकट आया, तो उन्होंने शादी में मिले अपने सारे ज़ेवरात और बैंक खाते में जमा सारी रक़म निकाल कर पार्टी को दे दी। एक बार फिर दोबारा पार्टी के सामने ऐसा ही संकट उपस्थित हुआ, तो अपने श्वसुर से अपनी शादी की 'मेहर' की रक़म मांगकर पार्टी को दी!

यू.पी. मेडिकल सर्विस के अधीन, 1931 में जब रशीद जहां का तबादला लखनऊ हुआ, तो उनका परिचय सज्जाद ज़हीर से हुआ, जिन्हें आगे चलकर प्रगतिशील लेखक संघ का बानी बनना था। वे उन दिनों महमूदुज़्ज़फ़र और अहमद अली के सहयोग से ग़ैर रिवायती अफ़सानों और ड्रामों का एक संकलन तैयार कर रहे थे। रशीद जहां से परिचय हुआ तो वह भी इस स्कीम से जुड़ गईं और इस तरह इन चारों की रचनाओं का संकलन 'अंगारे' वजूद में आया। 'अंगारे' में रशीद जहां की एक कहानी 'दिल्ली की सैर' और एक ड्रामा 'पर्दे के पीछे' शामिल किए गए थे।

'अंगारे' का प्रकाशन 1932 में हुआ। मशहूर आलोचक क़मर रईस के अनुसार-"उर्दू और मुल्क की ज़बानों में प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का विधिवत् आरंभ यूं तो 1936 में हुआ, लेकिन तथ्य यह है कि इस गौरवपूर्ण आंदोलन की बुनियाद 1932 ही में पड़ गई थी; जब चार नौजवान साहित्यकारों-सज्जाद ज़हीर, रशीद जहां, अहमद अली और महमूदुज़्ज़फ़र की कहानियों का संयुक्त संकलन 'अंगारे' के नाम से प्रकाशित हुआ। मार्च 1933 में यह संकलन यू.पी. की हुकूमत ने ज़ब्त कर लिया। उनकी कहानियों में जो साफ़गोई, गुस्सा, तीखापन और विद्रोह था वह निस्संदेह उर्दू साहित्य में एक नई नस्ल, नई चिंतन प्रणाली और नए कालबोध के आगमन का ऐलान था।" एक अन्य, अपेक्षाकृत युवा, आलोचक और पी.डब्ल्यू. ए के मौजूदा जनरल सेक्रेटरी अली जावेद के अनुसार, "...इसीलिए ज़बर्दस्त रद्देअमल हुआ और मस्जिदों में 'अंगारे' के ख़िलाफ़ जो जलसे हुए उनका सबसे बड़ा निशाना रशीद जहां बनीं, क्योंकि ये ख़ातून आने वाली नस्लों के ख़यालात में इंक़लाब की लौ को और भी तेज़ कर रही थीं और वे औरत, जो सदियों से घर की चारदीवारी में क़ैद थी उसे बग़ावत के लिए आमादा कर रही थीं।"

इस सबका नतीजा यह हुआ कि रशीद जहां को 'अंगारे वाली औरत' कहकर तरह-तरह से बदनाम किया गया, उनके ख़िलाफ़ फ़तवे जारी किए गए लेकिन रशीद जहां के चेहरे पर शिकन का नाम नहीं। वह अपनी रफ़्तार से, बल्कि और ज्यादा तेज़ क़दमों से आगे ही आगे बढ़ती गई।

1931 में, लखनऊ में, इन चारों की मुलाक़ात ने एक तरफ़ अगर, 'अंगारे' के प्रकाशन से उर्दू अदब में एक नई शुरुआत की, तो दूसरी तरफ़ रशीद जहां और महमूदुज़्ज़फ़र की ज़ाती ज़िंदगी में एक नई तरह के ताल्लुक़ात का बीज पड़ा, जो पूरी तरह अंकुरित हुआ तीन साल बाद 1934 में। उस साल 14 अक्टूबर को बहराइच में, जहां रशीद जहां तैनात थीं, बहुत सादे ढंग से दोनों विवाह-सूत्र में बंध गए। महमूद उस समय चूंकि अमृतसर कालेज में वाइस प्रिंसिपल लग चुके थे, लिहाज़ा रशीद जहां भी यू.पी. मेडिकल सर्विस से इस्तीफ़ा देकर अमृतसर चली गईं और वहां प्राइवेट प्रेक्टिस करने लगीं। उनके प्राइवेट प्रेक्टिस करने का यह शायद पहला और आख़िरी वाक़या है।

सज्जाद ज़हीर लंदन में वकालत की पढ़ाई पूरी कर 1935 के आख़िरी महीनों में जब हिंदुस्तान वापस आए तो उनके हाथ में प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणापत्र था, जिसे लंदन में ही डा. मुल्कराज आनंद, प्रमोद सेनगुप्त, डा. ज्योति बोस, डा. मोहम्मद दीन 'तासीर' और खुद सज्जाद ज़हीर ने परस्पर विचार-विमर्श से तैयार किया था। अब सवाल अमलदारी में लाने का था। स्वदेश लौटते ही सज्जाद ज़हीर ने सरगर्मियां शुरू कर दीं और इस सिलसिले में जनवरी 1936 में जब वो अमृतसर गए, तो सबसे पहले महमूद और रशीदा से ही मिले और उन्हीं के साथ ठहरे। उस वाक़ए का बयान खुद सज्जाद ज़हीर के मुंह से सुनना बेहतर होगा-

"महमूद अमृतसर में डेढ़-दो साल से थे लेकिन उनकी या रशीदा की पंजाब के लेखकों से उस समय तक मुलाक़ात नहीं हुई थी। वह पढ़ाने में बड़ी मेहनत करते थे और इसी काम में मशगूल रहते। रशीदा डाक्टरी करती या कभी-कभी कहानियां लिख लेतीं। हमने परामर्श किया कि लाहौर चलें और अपने साझे दोस्त मियां इफ़्तिख़ारउद्दीन और दूसरे दोस्तों से मदद लेकर लेखकों से मिलें।

"लेकिन इससे पहले कि हम लाहौर जाएं, हमें एक अप्रत्याशित, बल्कि दैवी, सहायता मिली। अमृतसर में मेरे एक-दो दिन के निवास के बाद एक दिन रशीदा ने (महमूद से) अचानक कहा, "वो जो तुम्हारे कालेज में एक नया लड़का आया है ना, इंग्लिश डिपार्टमेंट में, क्या नाम है उसका!" और फिर मेरी ओर मुड़कर 'मेरे ख़याल में तुम उससे मिल लो!' महमूद बहुत संजीदगी से अंग्रेज़ी में बोले, "तुम्हारा मतलब है हमारे अंग्रेज़ी के नए लेक्चरर फ़ैज़ अहमद!"

"ऊंह, होगा भई कोई भी, नाम मुझे याद नहीं रहता। वह बोला तो है ही नहीं। तुम्हारे कालेज में वही एक लड़का मुझे समझदार मालूम होता है। बन्ने को उससे मिलना चाहिए।" ...

इस तरह तीन से चार हुए। फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' भी तरक़्क़ीपसंद तहरीक के बानियों में एक हो गए और इसका सेहरा जाता है रशीद जहां के सिर। उनके एक भाई मोहसिन अब्दुल्ला के मुताबिक "उस वक़्त फ़ैज़ पर इश्क़ सवार था। मुसीबत में मुब्तिला थे। रशीदा आपा ने उन्हें डांटा-'क्या तुम छोटी-छोटी बातों में उलझे हुए हो! बड़ी बातों की तरफ़ देखो! दुनिया में बड़े-बड़े मसायल हैं, उन पर ग़ौर करो, इफ़्लास है-गुलामी है; तुम उन चीज़ों की तरफ़ जाओ।' -ये हू ब हू फ़ैज़ के जुमले हैं। वो बताते थे कि उन्हीं जुमलों में उन्होंने डांटा था। फ़ैज़ ने कई जगह लिखित रूप से स्वीकार किया है कि

उनको तरक़्क़ीपसंद तहरीक की तरफ़ लाने वालों में रशीद जहां और महमूदुज़्ज़फ़र थे। मैं समझता हूं कि ये रशीदा आपा का बहुत बड़ा कारनामा है।..."

यह कहना ग़लत नहीं होगा कि हिंदुस्तान में प्रगतिशील लेखक संघ की बुनियाद रखने में सज्जाद ज़हीर के साथ रशीद जहां की भूमिका लगभग बराबर की रही। विलायत से लौटकर सज्जाद ज़हीर ने जब इलाहाबाद में 'प्रलेस' को अमली शक्ल देने के बारे में सोचना शुरू किया-अहमद अली, फ़िराक़ गोरखपुरी, सैय्यद एज़ाज़ हुसैन, एहतिशाम हुसैन, शिवदान सिंह चौहान आदि से विचार-विमर्श किया, तो डा. ताराचंद उस दरमियान हिंदुस्तानी एकेडमी की तरफ़ से उर्दू और हिंदी के साहित्यकारों की कान्फ्रेंस आयोजित करने जा रहे थे। उसमें मुंशी प्रेमचंद, मौलवी अब्दुल हक़ और जोश मलीहाबादी भी आने वाले थे। सज्जाद ज़हीर ने 'रौशनाई' में लिखा है-"मैं इनमें से किसी से भी इससे पहले नहीं मिला था। ... रशीद जहां अमृतसर से आई थीं। हम उनसे पहले से ही प्रगतिशील आंदोलन की बाबत पत्र-व्यवहार कर चुके थे। हम चाहते थे कि इस सम्मेलन के मौक़े पर लेखकों से हमारी जो बातचीत और बहसें हों उनमें वह भी शरीक हों, ताकि फिर पंजाब जाकर वह वहां के लेखकों से हमारा संपर्क स्थापित कर सकें। ...अब मुझे वे तफ़सीलें याद नहीं कि हम, यानी रशीद जहां, अहमद अली, फ़िराक़ और मैं इस कान्फ्रेंस में आने वाले लेखकों में से किन-किन से मिले, कैसे मिले और उनसे क्या बातें हुईं, लेकिन मुंशी प्रेमचंद से पहली मुलाक़ात मेरे दिल पर नक्श है।"

रशीद जहां की अदबी या कहें कल्चरल शख़्सीयत का एक पहलू अगर कहानी है तो दूसरा नाटक और रंगमंच। दोनों विधाओं से वह अपने तालीमी दौर में ही मुतासिर हो गई थीं। 'अंगारे' में भी उनकी एक कहानी के साथ एक नाटक 'पर्दे के पीछे' था। बाद में उन्होंने डेढ़ दर्जन से ज़्यादा नाटक लिखे, जिनमें बच्चों के और रेडियो नाटक भी शामिल हैं।

उक्त कान्फ्रेंस के एक-दो दिन बाद, मौलवी अब्दुल हक़, मुंशी प्रेमचंद और जोश मलीहाबादी से ख़ासतौर पर मशविरा करने और उनसे दिशा-निर्देश लेने के इरादे से एक बैठक सज्जाद ज़हीर के घर पर बुलाई गई थी, उसकी तैयारी में भी रशीद जहां ने प्रमुख भूमिका निभाई। सज्जाद ज़हीर लिखते हैं-"जब रशीद जहां इलाहाबाद से अमृतसर वापस जाने लगीं तो उन्होंने यह तज्वीज़ की कि मैं भी उनके साथ पंजाब चलूं ताकि फिर हम वहां के लेखकों से मिलकर सीधे-सीधे बातचीत और विचार-विनिमय कर सकें।"

इस तरह बिल्कुल साफ़ हो जाता है कि हिंदुस्तान में प्रगतिशील लेखक संघ को खड़ा करने में रशीद जहां सज्जाद ज़हीर के साथ साए की तरह जुड़ी रहीं।

लखनऊ में आयोजित प्रलेस की पहली ऐतिहासिक कान्फ्रेंस की तैयारियों के लिए सज्जाद ज़हीर जब तीन-चार फाइलें लेकर लखनऊ पहुंचे तो वहां संगठन की कोई स्थानीय शाखा नहीं थी-"स्थानीय लोगों में सिवा हमारे निजी दोस्तों, रिश्तेदारों या दो-तीन यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के अलावा हमारा कोई मददगार तक न था। कैफ़ियत यह थी कि हमारे पास कांफ्रेंस के ख़र्च के लिए शायद सौ-सवा सौ रुपये से ज़्यादा न थे। और न कोई वालंटियर थे, न चपरासी, न क्लर्क। अभी तक हमें जलसा करने के लिए कोई हाल भी न मिला था।" लेकिन तभी अमृतसर से रशीद जहां और महमूदुज़्ज़फ़र आ गए। तो सज्जाद ज़हीर का हौसला बंधा और तक़रीबन इन्हीं तीन लोगों ने प्रलेस की पहली कान्फ्रेंस की सारी तैयारियां अंजाम दीं। प्रेमचंद की अध्यक्षता में हुई उस दो दिवसीय कान्फ्रेंस की पूरी कार्रवाई अन्यत्र प्रकाशित है और कई बार उसका उल्लेख हो चुका है। उसकी तफ़सील में जाने की यहां न ज़रूरत है, न गुंजाइश, लेकिन यह ग़ौरतलब है कि प्रेमचंद ने उसके साथ दिली जुड़ाव महसूस किया था और कई दूसरे निमंत्रण अस्वीकार कर अपने ख़र्चे से बनारस से लखनऊ पहुंचे थे। लखनऊ स्टेशन पर उन्हें कोई रिसीव करने भी न पहुंच पाया था। खुद तांगा करके प्रलेस के अस्थाई हेडक्वार्टर वज़ीर मंज़िल गए।

कांफ्रेंस ख़त्म होने के बाद, सब कामों से फ़ारिग़ होकर इंतिज़ामी कमेटी के लोग और कुछेक मेहमान जब थके-मांदे वज़ीर मंज़िल लौटे और खाना खाकर बातचीत करने के लिए बैठे तो, सज्जाद ज़हीर के शब्दों में-"मुंशी प्रेमचंद और रशीद जहां के अलावा हम तीन-चार आदमी (महमूदुज़्ज़फ़र, फ़ैज़, अलीम और मैं) शायद कुछ चुप-चुप थे। ...लेकिन प्रेमचंद खुश नज़र आते थे। वे रशीदा की बातों पर ज़ोर-ज़ोर से क़हक़हे लगा रहे थे, जो अपने विशिष्ट अंदाज़ में कभी मौलाना हसरत मोहानी और डा. अलीम की दाढ़ियों का मुक़ाबला कर रही थीं। कभी अहमद अली के आलेख में आए गणितीय सूत्रों पर टिप्पणी, कभी सागर निज़ामी की चुस्त शेरवानी और उससे भी चुस्त चूड़ीदार पायजामे पर तनक़ीद। जब प्रेमचंद की बारी आई तो उन्होंने हम नौजवान तरक़्क़ीपसंदों की हरकतों पर स्नेहपूर्ण ढंग से नुक़्ताचीनी शुरू की, 'भई, ये तुम लोगों का इंक़लाब करने के लिए तेज़-तेज़ चलना तो मुझे बहुत पसंद आता है, लेकिन मैं डरता हूं कि कहीं तुम बेतहाशा दौड़ने लगे तो ठोकर खाकर मुंह के बल गिर न पड़ो। और मैं ठहरा बूढ़ा आदमी, तुम्हारे साथ अगर मैं भी दौड़ा और गिरा तो मुझे बहुत ही चोट आ जाएगी..." यह कहकर उन्होंने बड़े ज़ोर से क़हक़हा लगाया और हम सब भी उनके साथ हंसने लगे। "...लेकिन कुछ भी हो, हम तो अब आपका साथ नहीं छोड़ते।" रशीदा ने हंसते-हंसते जवाब दिया।

... और सच ही, रशीद जहां ने प्रेमचंद का साथ नहीं छोड़ा। बेशक उसी साल, 1936 में, प्रेमचंद का निधन हो गया, लेकिन उर्दू-हिंदी में सामाजिक यथार्थ की कहानियों का जो रास्ता उन्होंने बनाया, रशीद जहां उसे पकड़े रहीं। लेकिन वह आत्ममुग्ध नहीं थीं। उनका विज़न बहुत व्यापक था-संस्कृति और सामाजिक प्रश्नों और विचारधारात्मक प्रतिबद्धता के साथ उन्होंने अपना रिश्ता जल और मछली का बना रखा था। यही वजह रही कि 'अंगारे' की शुरुआत के बाद, उनके जीवनकाल में उनका कुल एक कहानी-संग्रह 'औरत और दूसरे अफ़साने' (1937) प्रकाशित हो सका-वह भी मित्रों और प्रशंसकों की पहलक़दमी से। दूसरा संग्रह 'शोला और ज्वाला', उनके निधन के दशकों बाद, 1970 में डा. नईम खां के संपादन में आया। नाटकों का पुस्तकाकार प्रकाशन तो उसके भी कई साल बाद हुआ।

यह निर्विवाद तथ्य है कि उर्दू साहित्य में स्त्री-केंद्रित सामाजिक यथार्थ की कहानियों का सूत्रपात रशीद जहां ने किया। और वह शुरुआत इतनी बेबाक और हंगामाख़ेज़ थी, कि बाद की महिला कथाकारों की राह भी वहीं से बनी। 'लिहाफ़' जैसी बहुचर्चित कहानी की लेखिका इस्मत चुग़ताई के कथन से इसकी पुष्टि होती है-"मिट्टी से बनी हुई रशीदा आपा ने संगमरमर के सारे बुत मुन्हदिम (ध्वस्त) कर दिए। ज़िंदगी नंगी सामने आकर खड़ी हो गई। उनसे घंटों बातें करके भी दिल न भरता...जो रशीदा आपा से मिल चुके हैं, उन्हें अच्छी तरह से जानते हैं, अगर वह मेरी कहानियों की हीरोइन से मिलें तो दोनों जुड़वां बहनें नज़र आएं। क्योंकि अनजाने तौर पर मैंने रशीदा आपा

को ही उठाकर अफ़सानों के ताक़चे में बिठा दिया कि मेरे तसव्वुर की दुनिया की हीरोइन सिर्फ़ वही हो सकती थीं। मगर जब ग़ौर से कहानियों के बारे में सोचती हूं तो मालूम होता है कि मैंने सिर्फ़ उनकी बेबाकी और साफ़गोई को गिरफ़्त में लिया। उनकी भरपूर सीमाबी (पारे जैसी) शख़्सियत मेरे काबू में न आई। ...''

रशीद जहां की अदबी या कहें कल्चरल शख़्सीयत का एक पहलू अगर कहानी है तो दूसरा नाटक और रंगमंच। दोनों विधाओं से वह अपने तालीमी दौर में ही मुतास्सिर हो गई थीं। 'अंगारे' में भी उनकी एक कहानी के साथ एक नाटक 'पर्दे के पीछे' था। बाद में उन्होंने डेढ़ दर्जन से ऊपर नाटक लिखे, जिनमें बच्चों के और रेडियो नाटक भी शामिल हैं। 'इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन' (इप्टा) की स्थापना 1943 में हुई, किंतु रशीद जहां ने उसकी अनौपचारिक शुरुआत पहले ही लखनऊ में 'प्रोग्रेसिव कल्चरल एक्वाड' के रूप में कर दी थी। बाद में मई 1943 में जब बंबई में इप्टा की पहली कांफ्रेंस हुई तो उसमें उन्हें यू.पी. प्राविंशियल इप्टा का इंचार्ज चुना गया। उनके दो नाटक भी बंबई इप्टा ने मंचित किए। इस तरह, पी.डब्ल्यू.ए के साथ-साथ इप्टा रशीद जहां के कल्चरल वजूद का एक अवमान्य अंग बना। इप्टा आंदोलन के एक प्रमुख व्यक्तित्व राजेंद्र रघुवंशी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि रशीद जहां ने एक बार किंचित शिकायती लहजे में कहा, ''राजेंद्र, तुम्हारे नाटकों में सब पात्र फटे हुए कपड़ों में क्यों आते हैं? दर्शक मंच पर तड़क-भड़क भी देखना चाहते हैं। झमाझम ड्रेसें भी होनी चाहिए।'' मैंने अर्ज़ किया, ''आपा, अभी हमारे पास फ़ंड ही कहां है। डी.के. राय के डांस के लिए भी हमें झमाझम साड़ी उसी जगह से मांगनी पड़ती है जहां शो करना हो।'' बेगम रशीद जहां हमें अपने घर ले गईं और असली ज़री के लहंगे, दुपट्टे, चोलियां, कुरतियां और यहां तक कि अपने पति महमूदुज़्ज़फ़र की, शादी की, बहुमूल्य ज़री की शेरवानी भी दे दी।''

यह भद्रलोकीय उदारता नहीं थी-पीपुल्स कल्चर को हर तरह से प्रामाणिक, आत्मनिर्भर और समृद्ध बनाने की उनकी आकांक्षा की अभिव्यक्ति थी। और जहां तक भद्रलोक का सवाल है, रशीद जहां और महमूदुज़्ज़फ़र ने भद्रलोक स्टेटस को उसी दिन ठुकरा दिया था जब दोनों ने अपनी जमी-जमाई नौकरी छोड़कर कल्चर, फील्डवर्क और पार्टी से खुद को यकदिल कर लिया था। रशीद जहां सब कुछ वंचित, उत्पीड़ित, ग़रीब किसान-मज़दूर तबके को लेकर सोचती थीं। अमृतसर को अलविदा कहकर जब दोनों ने लखनऊ को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, तो रशीद जहां ने वहां एक ऐसा नर्सिंग होम खोला, जिसमें सिर्फ़ उन मरीज़ों को लिया जाता था, जो सरकारी अस्पतालों में नहीं लिए जाते थे और प्राइवेट डाक्टरों की मनमानी फ़ीस तथा महंगी दवाइयां जिनकी सामर्थ्य से परे थीं। सफ़ाई कर्मचारियों के बीच साक्षरता कार्यक्रम चलाने के दौरान उन्हें इस बात का भी तीखा अहसास हुआ कि कम पढ़े-लिखे किसान-मज़दूर अफ़सानों, नाविलों और थियेटरों की किलष्ट साहित्यिक भाषा ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। इस विरोधाभास को लेकर, इलाहाबाद में इप्टा की एक नाट्य प्रस्तुति के दौरान उसके निर्देशक बलराज साहनी के साथ उनकी बहस भी हुई थी। औरों की बात दीगर है लेकिन रशीद जहां और उनके पति महमूदुज़्ज़फ़र ने अपने-आप को पूरी तरह समर्पित कर लिया था। रशीद जहां पूरे वक़्त पीपुल्स कल्चर, मज़दूर और किसानों के आंदोलन में व्यस्त रहतीं और महमूद पार्टी के वैचारिक-सैद्धांतिक फ्रंट पर। लखनऊ के प्राविंशयल पार्टी आफिस में वे दो संदूकें जोड़कर उन पर दरी बिछा कर सोया करते थे।

रशीद जहां की सेहत 1942-43 से ही लगातार ख़राब चली आ रही थी। अपने-आप से पूरी तरह बेख़बर वे हर वक़्त खुद को व्यस्त रखतीं। 1949 में रेल-कर्मचारियों के आंदोलन की अगुआई करते हुए वे जेल गईं और कोई पंद्रह दिनों तक भूख-हड़ताल की। भूख-हड़ताल के कारण उनका कैंसर गंभीर शक्ल अख़्तियार कर गया। बंबई ले जाकर टाटा हास्पिटल में भरती कराया गया, लेकिन यहां कोई सुधार होता नज़र न आया। आख़िरकार महमूद ने उन्हें मास्को ले जाने का फ़ैसला किया। इस सिलसिले में रशीद जहां का कहना था, ''मैं अच्छी तरह जानती हूं कि मेरा मर्ज़ लाइलाज हो चुका है। इस सिलसिले में रूसी डाक्टर भी कुछ नहीं कर सकते। फिर भी मैं जाऊंगी, ताकि मेरे इलाज में कोई हसरत बाक़ी न रह जाए और फिर मेरे वहां जाने से रूस के डाक्टरों को मुमकिन है इससे कोई नई बात मालूम हो और इस तरह इंसानियत को फ़ायदा पहुंचे।''

उनका अनुमान सही साबित हुआ। मास्को में भी रशीद जहां के लाइलाज मर्ज़ का कोई इलाज मुमकिन न हुआ और जुलाई 1952 में उन्होंने सदा के लिए आंखें मूंद लीं। वहीं एक क़ब्रिस्तान में उन्हें सुला दिया गया।❑

संपर्क : ई-14, सादतपुर, दिल्ली-110094

बची रहेंगी मोहिनी छवि ...

पृष्ठ 9 से आगे

में कहीं हैं, यह बात ही बहुतों के लिए एक 'तसल्ली' बनी रही। उनके न रहने की आशंका बहुतों को विचलित करती थीं, ख़ासकर उस पीढ़ी को, जो उनकी फिल्मों के साथ ही अपनी जीवन-यात्रा तय करती रही थी। बंगाल और बांग्लादेश, दोनों के दर्शकों पर यह बात लागू होती थी। उनके निधन से कोलकाता और ढाका में मानो समान रूप से शोक की एक लहर दौड़ी, और बहुतों की सिने-स्मृतियों को आंदोलित-स्पंदित कर गई। सुचित्रा सेन जैसी अभिनय-प्रतिभाएं, जीवन की एक गहरी समझ अपने लिए, और अपनी कला के प्रेमियों के लिए भी बनाती चलती हैं, इस समझ में संवेदना, और गहरे मानवीय सरोकार शामिल रहते हैं।

इसे उनकी प्रतिभा का ही एक विस्तार या उसकी छाया मान सकते हैं कि उनकी बेटी मुनमुन सेन, और उनकी नातिनें रिया और राइमा सेन भी अभिनय की दुनिया में हैं। सुचित्रा सेन का विवाह 16 वर्ष की अवस्था में दिबानाथ सेन से हुआ था, उनके वैवाहिक जीवन के उतार-चढ़ाव को लेकर खबरें आती रहीं, अटकलें लगती रहीं, पर, उनके पति के सत्तर के दशक में हुए देहावसान तक यह संबंध बना रहा। एक कलाकार का निजी जीवन निश्चय ही जानने लायक होता है उससे भी कई प्रेरणाएं और अंतर्दृष्टियां मिल सकती हैं, पर, सुचित्रा सेन जैसी कलाकार को हम जितनी बार परदे पर उनकी किसी फिल्म में देखेंगे उतनी बार फिर यह याद करेंगे कि इस कलाकार ने अपने अंतरतम में कला को कितनी गहराई के साथ संजोया हुआ था। एक कलाकार अपने जीवन में बहुत कुछ मिटाकर, छिपाकर, या गठरी में बांधकर, दुनिया से ओझल भी रखता है, रख सकता है, पर अपनी कला में वह जो उभार देता है, वही तो उसकी और हमारी वास्तविक उपलब्धि होती है। ❑

संपर्क : एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सैक्टर-93 ए, नोएडा-201304

हिंदी दलित साहित्य में गूंजते नारी मुक्ति के प्रश्न

रजत रानी मीनू

हिंदी दलित साहित्य में नारी मुक्ति के प्रश्नों पर चर्चा करने से पूर्व विश्व में नारी मुक्ति से जुड़े प्रश्नों की पूर्वपीठिका पर अत्यंत संक्षेप में नजर डाल लेना समीचीन होगा। 8 मार्च महिला दिवस के रूप में पूरे विश्व में मनाया जाता है। यह स्त्री पर्व है। यह स्त्री चेतना और उसकी जाग्रति का प्रतीक भी है। इस दिन की शुरुआत 1857 को न्यूयार्क में कपड़े की मिलों की कामगार स्त्रियों ने की थी। उन्होंने अपने वेतन व काम के घंटे 15-16 से घटाकर 10 घंटे करने की मांग को लेकर एक प्रदर्शन किया था। विश्व में स्त्रियों का यह प्रथम प्रदर्शन था, जिसमें अपने समान अधिकार की बात उठाई गई थी। यह दिन स्त्रियों के अधिकार चेतना का पहला दिवस था। उनके उठाए गए इस कदम को उस समय की ट्रेड यूनियनों ने भी पसंद नहीं किया था। इस दिन की एक खास बात यह भी है कि यह ऐसी ट्रेड से जुड़ी श्रमिकाएं थीं जो न तो फैशन से जुड़ी थीं और न ही उनकी मांग देह मुक्ति की थी। नैसर्गिक रूप से लिंग आधारित विषमतावादी श्रम और उससे जुड़े गैरबराबरी पारिश्रामिक के विरोध में यह तर्कसंगत आवाज़ थी। हालांकि 19वीं सदी से पूर्व भी स्त्री से जुड़ी कुछ आवाजें मुखर हुई थीं।

स्त्रियों की आजादी का पहला पाठ संयुक्त राज्य अमेरिका के मैसाच्यूट्स राज्य में 1611 में वोट देने का अधिकार से शुरू हुआ। इसके लिए भी उन्हें संघर्ष करना पड़ा था। मगर दुर्भाग्य यह रहा कि कुछ स्त्री विरोधी विचारकों की वजह से उनका यह मताधिकार इसी राज्य में 1780 में वापस ले लिया गया था। इन निर्णयों से दुनिया में स्त्रियों के समर्थन और विरोध के स्वर एक साथ गूंजने लगे थे। जहां उदारवादी पुरुष समुदाय स्त्रियों की स्थितियां सुधारने का प्रयास कर रहा था तो अनुदारवादी वर्ग उनके कदमों को पीछे खींच रहा था। स्त्रियों के अधिकार, मताधिकार,शिक्षा जैसे बुनियादी मुद्दों की शुरुआत से उन्हें संगठित करने की मांग उठीं। किसी भी संगठन और संघर्ष को मूर्त रूपशिक्षा के पाठ से प्रारंभ होता है। यह बात भारत में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने दलितों के विकास के लिए तीन सूत्र देकर कही थी। शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो। उन्होंने शिक्षित होने की बात पहले की थी। स्त्री मुक्ति के बारे में भी यही फार्मूला लागू होता है। वे शिक्षित होंगी तो संगठित भी होएंगी और अपने हकों के लिए संघर्ष भी कर सकतीं हैं। जब 1788 में फ्रांस के राजनीतिज्ञ कांडसैंड ने महिलाओं को शिक्षा देने और नौकरी प्रदान करने साथ ही राजनीति में भाग लेने की मांग की थी। उसका असर अन्य देशों में भी दिखाई देने लगा था। यही कारण है कि पुनः संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1840 में दुक्रीशिया के नेतृत्व में 'ईक्वल राइट' यानी समान अधिकार संगठन की स्थापना करके श्वेत महिलाओं की तरह अश्वेत महिलाओं के लिए समान अधिकारों की ज़ोरदार मांग की थी।

नारी मुक्ति या नारी वादी चिंतन पश्चिमी विचारधारा के शब्द भले हों मगर पूरी दुनिया की स्त्रियां दोयम दर्जे का जीवन जीती रही हैं। अशिक्षा की मार सही, घरेलू हिंसा की शिकार रहीं। आर्थिक रूप से पराधीन रहीं। यह सत्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता। आज भी स्त्रियों की बड़ी आबादी खासकर दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग की स्त्रियां परिवार, समाज में सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ी हैं। यह बोध जिन स्त्री वर्ग ने पहले किया या उन्हें उनके समाज और देश ने कराया। उनमें ही पहले गुलामी से मुक्ति की छटपटाहट पैदा हुई और उन्हें आज़ादी भी मिली।

आज नारी मुक्ति से आशय एक वर्ग देह मुक्ति से जोड़कर देखता है न सिर्फ पुरुष बल्कि स्वयं एक समूह स्त्रियों का भी इस शब्द से अपने को दूर रखता है। बीसवीं सदी के लगभग मध्य में सीमोन द बोउवार स्त्री मुक्ति की मुख्य पैरोकार के रूप में उभरी थीं। दुनिया में उन्होंने अपना मुकाम बनाया था। उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' में 'स्त्री उपेक्षिता' ने स्त्री मुक्ति को कई नए आयामों से जोड़ा, जिसका दुनिया की उन सभी चेतनशील स्त्रियों पर प्रभाव पड़ा जो शिक्षित थीं और जो स्त्री मुक्ति के सपने देखती थीं। भारत की कुछ जागी हुए शिक्षित स्त्रियां उनके सिद्धांत को अतिवादिता से भी जोड़ती थीं। सीमोन दुनिया की औरतों से कहतीं थीं कि, 'स्त्री पैदा नहीं होती स्त्री बना दी जाती है।' यह वह विचार था जो स्त्रीत्व के बोध से मुक्ति चाहता था। लेकिन इनके चिंतन में स्त्री को आत्मनिर्भर बनाना पहली शर्त थी। तभी वह अपनी मुक्ति की वास्तविक लड़ाई लड़ सकती हैं। उन्होंने एक बात स्त्री के बारे में कही थी जो सीधे-सीधे दलित-आदिवासी और पिछड़े वर्ग की स्त्रियों से जुड़ती है। वे कहती हैं, "स्त्री अधीनस्थ जाति है। जाति का अर्थ है कि कोई उस जाति में उत्पन्न हुआ है और उससे बाहर नहीं जा सकता जबकि सिद्धांततः एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में स्थानांतरित हो सकता है। लेकिन यदि आप औरत हैं तो कभी पुरुष नहीं बन सकतीं। औरत विशुद्ध रूप से एक जाति है, वर्ग नहीं। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से औरतों के साथ होने वाला व्यवहार उन्हें एक अधीनस्थ जाति के रूप में निर्मित करता है।" भीमराव अंबेडकर ने भी भारतीय हिंदू समाज के बारे में कहा था "हिंदू समाज एक मीनार है। एक-एक जाति इस मीनार का एक-एक तल है और एक-दूसरे तल में जाने का कोई मार्ग नहीं है जो जिस तल में जन्मा है उसी तल (जाति) में मरता है।"

भारतीय संदर्भ में नारी मुक्ति आंदोलन को इसी नज़रिए से देखने की जरूरत है। द्विज स्त्रियों और दलित स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनीतिक स्थितियां भी अपने समाज जैसी ही हैं। माना कि दलित स्त्रियां भी अपने समाज में दोयम दर्जे का जीवन जीने को विवश हैं। उनकी वह लड़ाई अपने घर के भीतर जैसी ही है। उसके समाधान भी घर में ही मौजूद हैं। उसकी पुरुष से लड़ाई अलगाव की नहीं है बराबरी की है। पुरुष भी सिद्धांतः उतने संकुचित मानसिकता के नहीं हैं जितने द्विज पुरुष, मगर अपने समाज से बाहर निकलते ही उनके शोषण बहुपरतीय होने लगते हैं। दलित स्त्रियों को अपने घर के भीतर पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष करना है और साथ ही साथ उन्हें अपनी सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक, ज्ञान, विज्ञान

के क्षेत्रों में अपने प्रतिनिधित्व की मांग भी उठानी होगी। वे अभी भी देश के विकसित क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति नगण्य बनी हुई है। दलित-आदिवासी स्त्रियां जीवन जीने के मूलभूत साधनों घर, पानी बिजली, शिक्षा रोज़गार इत्यादि को भी प्राप्त नहीं कर पाई हैं।

यही कारण है कि दलित स्त्रियां अपनी जड़े ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्री फुले से जोड़कर देखती हैं। उनके जन्म दिवस 10 जनवरी को 'दलित स्त्री' मुक्ति दिवस के रूप में मनाना ज्यादा पसंद करतीं है।

हिंदुस्तान की अधिकांश बुद्धिजीवी स्त्रियां जातियों में बंटी हैं। जातियों से जुड़कर उनकी मुक्ति के द्वार खुलते हैं। दोनों की स्थितियां तभी तक समान हैं जब तक वे प्राकृतिक रूप से स्त्री हैं। वर्णीय और जाति प्रधान समाज उन्हें जातियों में बांट देता है। भारत में स्त्री मुक्ति आंदोलन के बारे में प्रसिद्ध कवयित्री अनामिका लिखती हैं-

"भारत में स्त्रीवादी आंदोलन के तीन चरण थे! उन्नीसवीं शताब्दी में पंडिता रमाबाई, ज्योतिबा फुले, सावित्री फुले, राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि ने स्त्री-शिक्षा और स्वावलंबन की मुहिम का मार्ग प्रशस्त किया। कई ऐसी रूढ़ियां तोड़ते हुए जो स्त्री-जीवन, ख़ासकर विधवाओं और अन्य एकाकी स्त्रियों का अंतरंग जीवन क्षत-विक्षत रखती थी।"

अनामिका जी ने स्त्री आंदोलन के तीन चरण बताए। इन्हीं में चौथा चरण बीसवीं शताब्दी में स्वामी अछूतानंद और पत्नी दुर्गाबाई और डॉ. अम्बेडकर का हिंदू कोड बिल के योगदान को जोड़ा जाना अनिवार्य है। इसी समय 1884 में 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात एक हिंदू लेखिका ने हिंदू स्त्रियों की मुक्ति की लड़ाई उक्त पुस्तक के द्वारा लड़ी थी। इस पुस्तक की गंभीरता इस बात से समझी जा सकती है कि लेखिका को अपना नाम तक छिपाना पड़ा था। आज भी वह गुमनामी के अंधकार में है। मगर उसकी लेखनी अभी भी प्रासंगिक बनी हुई है। इस पुस्तक के खोजने का श्रेय डॉ. धर्मवीर को जाता है, मगर उसमें दलित स्त्रियों का कुछ भी नहीं है।

दलित स्त्रियों की प्रेरणा स्रोत स्वामी अछूतानंद और उसकी पत्नी दुर्गाबाई हैं। उन्होंने दलित स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किए थे। प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार, "यहां मुझे बताना है कि अछूत शिक्षिका दुर्गाबाई-अछूतानंद हिंदी क्षेत्र की सावित्री बाई थीं। महात्मा ज्योतिबा फुले की पत्नी सावित्री बाई महाराष्ट्र में पहली स्त्री शिक्षिका मानी जाती हैं। परंतु हिंदी क्षेत्र में दलितों में भी वैसा त्याग सेवा करने वाली दलित महिलाओं की खोज की जानी चाहिए। दुर्गाबाई ने स्वामी अछूतानंद की सहायता से सिरसागंज में 1915-1922 में जो विद्यालय का संचालन किया था उसका आर्थिक आधार कोई एन. जी. ओ. या विदेशी अनुदान नहीं था। केवल समाज से लिया जाने वाला चंदा था। दुर्गाबाई ने अपने सभी गहने बेच कर विद्यालय में लगा दिया थे। शूद्रों की सावित्रीबाई और अछूतों की दुर्गाबाई की स्मृति तब प्रतीक मात्र बनकर रह जाती है जब दलित और पिछड़े वर्गों की महिलाएं शिक्षा क्षेत्र में कोई ख़ास योगदान नहीं कर पाती हैं।"

भारत में सभी वर्णों की स्त्रियों की मुक्ति की व्यवस्थित और कानूनी लड़ाई डॉ. भीमराव अंबेडकर ने 'हिंदू कोड बिल' देकर लड़ी थी। इस बिल के तहत पुत्र के समान पुत्री को भी पिता की संपत्ति में अधिकार देने की बात कही गई थी। विवाह और तलाक के अधिकारों की मांग भी थी, जिसे तत्कालीन संसद ने यह बिल पास नहीं होने दिया था जिससे निराश होकर डॉ. अंबेडकर ने कानून मंत्री पद से 10 अक्टूबर 1951 को इस्तीफा दे दिया था। इससे उन्हें बहुत दुख पहुंचा था। इस बिल का विरोध करने वाले नहीं चाहते थे कि उनकी बेटियों को आर्थिक रूप से पिता की सम्पत्ति में से कानूनी हक मिले और उनकी स्थिति सुधरे। वे आजाद भारत में भी स्त्रियों पर हिंदू वर्ण व्यवस्था के कानून को लादना चाहते थे। बाद में हिंदू कोड बिल टुकड़ों में पास हुआ था। व्यावहारिक रूप से स्त्रियों को आज भी उनका हक नहीं मिलता है। अछूत स्त्रियों पर भी वही कानून लागू होता है। डॉ. धर्मवीर ने 'मेरी पत्नी और भेड़िया' पुस्तक के द्वारा हिंदू विवाह अधिनियम के विरोध की लड़ाई लड़ी है। वे दलित स्त्रियों सहित दलितों को इस अधिनियम से अलग रखने की पहल कर रहे हैं।

दलित स्त्रियों के बारे में एक बात कही जाती है कि उन्हें सवर्ण समाज की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता मिली होती है। इस प्रश्न में यदि सच्चाई है तो इतनी सी है कि दलित समाज अपनी विधवाओं के साथ उतनी क्रूरता से पेश नहीं आता है जितना अन्य समाज आता है। दलित समाज में विधवा विवाह के बंधन भी नहीं थे। तलाक की सुविधा भी थी। उनकी अपनी जातीय पंचायत में पति-पत्नी के झगड़े हल हो जाते थे। हिंदू की तरह दलित स्त्रियों के समक्ष धर्म के नाम पर उन जैसी अनेक पाबंदियां नहीं थीं। इन खूबियों को स्वीकारते हुए एक संदेश यह जाता है कि ऐसी स्थिति में दलित लड़कियों को द्विज समाज से विवाह एकदम नहीं करने चाहिए क्योंकि जिस समाज में स्त्री गुलामी भरा जीवन जीने के लिए विवश हो तब वहां दलित लड़कियां विवाह करके क्या प्राप्त करेगी? दूसरी बात यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जब दलित विधवा पुनर्विवाह करती है तब वह अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के यह कदम नहीं उठाती हैं। वह उस विवाह के माध्यम से अपने जीवन जीने के विकल्प देखती है। उसका परिवार इतना साधन संपन्न नहीं है कि आजीवन बेटी को घर बैठा कर पाल सके और न ही उसके समाज के पास शिक्षा के उन्नत साधन थे जिससे वह अपनी बेटी को उसके पैरों पर खड़ा कर सकता था। दलित समाज में अभी भी यही संस्कृति व्यहरत है। हिन्दू समाज से अलग वातावरण में इस पुनिर्विवाह में यदि सुख के कुछ क्षण दलित स्त्री को मिलते हैं तो दुखों का पहाड़ भी कम नहीं होता है। यहां एक उदाहरण के लिए हमारे पास प्रो. श्यौराजसिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' है। उसमें लेखक की मां का उदाहरण लिया जा सकता है। वह जब अपनी युवावस्था में विधवा हो जाती हैं तब उनके मायके वाले उनका दो बार पुनर्विवाह के विकल्प तलाशते हैं। एक रामलाल नामक व्यक्ति से विवाह करते हैं। यहां यह बता देना जरूरी है कि स्त्रियों के इस तरह के पुनर्विवाह धूमधाम और रीति-रिवाजों या किसी भी प्रकार की रस्मों से परे होते थे। गांव-मोहल्ले के पांच-छह लोग बात करके लड़की को बिठा देते हैं। इस तरह पुनर्विवाह को 'बिठा देना' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। इसमें विवाह की तरह घर में न रिश्तेदार जुड़ते हैं न भोज का प्रबंध होता है और न अन्य खुशी का वातावरण होता है। यह कार्य दुखद स्थिति में किया जाता है, जिसमें लड़की के मन में भी विवाह जैसी खुशी की उमंगें नहीं उमड़ती हैं। श्यौराज सिंह की मां सूरजमुखी को भी दो बार पुनर्विवाह जैसी दुखद स्थितियों से गुजरना पड़ा था। दूसरे विवाह में रामलाल व्यक्ति ने जल्दी अपनी मशा बता दी थी कि उसे स्त्री चाहिए उसके बच्चे नहीं। यह बात एक मां को अत्यंत कष्टकारी होती है। सूरजमुखी ने तुरंत वहां जाना उचित नहीं समझा। रामलाल ग़रीब व्यक्ति था। उसकी इतनी हैसियत नहीं थी कि अपनी पत्नी के साथ आने वाली उसकी संतानों को भी पाल सके।

इसके बाद सूरजमुखी का भिकारी लाल नामक व्यक्ति से तीसरा विवाह होता है। मगर वहां भिकारी लाल रामलाल की तरह सूरजमुखी के पूर्व पति के बच्चों को पालने से इंकार तो नहीं करता, मगर उन्हें अपनी औलाद भी नहीं मानता। उनके साथ सौतेला व्यवहार करता है। ऐसी स्थिति में सूरजमुखी

अपने जीवन के सुखमय क्षणों को कैसे जिए? यह प्रश्न हमेशा उनके साथ बना रहा। इसकी सही अभिव्यक्ति तो सूरजमुखी ही कर सकती थीं। यदि इस समाज ने उन्हें पढ़ने-लिखने का अवसर दिया होता तो वह मैत्रेयी पुष्पा या उन जैसी अन्य बड़ी लेखिका बन सकती थीं। क्योंकि उनका जीवन संवेदनाओं से भरा था। 'अस्थियों के अक्षर' में आए प्रसंग में सौराज की मां अपने पति, देवर से जानवरों की तरह मार भी झेलती है तो कभी अपने बच्चों को इधर-उधर छोड़कर उन्हें जल्दी काम सिखाने की चिंता करती है। इसी चिंता का परिणाम वह दिल्ली में अपने बहनोई के पास सौराज को कुछ काम सीखने के लिए छोड़ती है। अपनी बेटी माया का बाल विवाह कर देती हैं। माया भी बाल विधवा बनती है उसका भी पुनर्विवाह होता है मगर उसे भी पति का सुख नहीं मिलता। बस जीवन को बोझ की तरह जैसे-तैसे काटती हैं ये मां-बेटी। ये अशिक्षित और ग़रीब समाज की उन स्त्रियों के उदाहरण थे जिन्हें समाज ने विवाह करने की आज़ादी दी फिर भी इनका जीवन किसी कैदी या गुलामों से कम कष्टकर नहीं बीता। ये काल्पनिक पात्र नहीं समाज के सच्चे पात्र हैं।

एक प्रश्न पितृसत्ता से जुड़ा हुआ अक्सर उठाया जाता है कि दलित समाज में पितृसत्तात्मक के लक्षण पाए जाते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में अनेक स्थान में दर्ज हुआ है कि लेखिका सुशीला टाकभौरे पति द्वारा बार-बार पीटी जाती हैं। उनके पति बहुत दिनों तक उनकी तनख्वाह अपने हाथ में रखते थे। हर वक्त उन पर किसी पराए व्यक्ति जैसा व्यवहार करते थे या अपराधी की तरह नियंत्रण में रखते थे। मकान खरीदना है तो अपने नाम से लेना इत्यादि तमाम ऐसे प्रसंग साबित कर ही देते हैं कि उनके पति की मानसिकता पित सत्तात्मकता से मुक्त नहीं है। इस तरह के अनेक प्रसंग दोहरा अभिशाप में भी आए हैं। इसी समस्या को रजनी तिलक ने अपनी आत्मकथात्मक कहानी 'वेस्ट ऑफ करवाचौथ' और 'समरगाथा' में खुलासा किया है। श्यौराजसिंह बेचैन की मां 'अस्थियों के अक्षर' में यदि पति और देवर की क्रूरता से मार खाती हैं और वे पुरुष उसको पीटते हैं तो उनको पत्नी को पीटने की ताकत कहां से मिलती है? यह पित सत्तात्मक समाज उन्हें यह अधिकार देता है कि पत्नी को नियंत्रण में रखने का अधिकार पति को मिला हुआ है। यह दलित स्त्री दमन शोषण का एक पक्ष है। उसके प्रति वर्ण जाति प्रधान समाज भी उसके प्रति संवेदनशील नहीं है। घर से ज्यादा सवर्ण समाज उसे दोहरे तरह से नियंत्रण में रखना चाहता है। उस पर दलित जाति का ठप्पा लगा है। इसलिए वह गुलाम यानी कमज़ोर जाति की स्त्री है। उस पर नियंत्रण पाना पूरे दलित समाज पर नियंत्रण में रखने के समान है। आर्थिक शक्तियों को अपने नियंत्रण में करके धर्म और पुनर्जन्म का भय दिखा कर दलित समाज और दलित स्त्रियों का दमन जारी है। यह सिलसिला थमा नहीं है। दलित साहित्य की सभी विधाओं में स्त्रियों से जुड़ी यह समस्याएं चित्रित हुई हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि दलित स्त्री के समक्ष मात्र पितृसत्तामक सामाजिक व्यवस्था की ही समस्या नहीं है। उसकी मूल समस्या वर्ण-जाति व्यवस्था भी है। कौशल्या बैसंत्री हों, सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक हों या फिर श्यौराजसिंह बेचैन की मां सूरजमुखी हों। उन सब और उन जैसी अनेक स्त्रियां शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, ज्ञान-विज्ञान मीडिया में पिछड़ी हैं तो मात्र जातिव्यवस्था इसकी जिम्मेदार पहले है। मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'अपना गांव' की छमिया उर्फ कबूतरी हो, या फिर कुसुम वियोगी की कहानी 'अंतिम बयान' की अतरो हो, या ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'जंगल की रानी' की कमली हो या फिर 'यह अंत नहीं' की विरमा हो, कुसुम मेघवाल की कहानी की मंगली की मंगली हो, जयप्रकाश कर्दम की 'सांग' की चंपा हो, सूरजपाल चौहान की 'आज की अंगूरी' हो, या फिर नैमिशराय की 'रीत' और उमेशकुमार की 'यह अंत नहीं' जैसी कहानियां यह हमारे समाज की हकीकत है। हमें मालूम है। सच्चाई को स्वीकार करने की आदत नहीं है।

'अमर उजाला' दैनिक में यूनेस्को की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उसमें कहा गया है कि भारत में सबसे अमीर युवतियों ने पहले ही वैश्विक स्तर की साक्षरता हासिल कर ली है, लेकिन सबसे गरीब युवतियों के लिए ऐसा कर पाना 2080 तक ही संभव हो सकता है।'' यूनेस्को की यह रिपोर्ट बतलाती है कि भारत में ग़रीब और अमीर स्त्रियां दो बड़े खेमों में रहतीं हैं, जिनमें ग़रीब स्त्रियों की शैक्षिक स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। रिपोर्ट में कहा गया है यह स्थिति 2080 तक सुधरेगी। इसकी भी क्या गारंटी है? क्योंकि आजादी के 66 साल बीत गए। 66 साल और इंतजार करने की बात रिपोर्ट में की गई है। इसकी क्या तैयारियां है? यह सवाल बना हुआ है।

अब एक सवाल यह है कि जिनको अमीर युवतियों में गिना गया वे किस जाति वर्ण की हैं और जिन्हें ग़रीब गिना गया वे किस जाति वर्ण की हैं? समाज में विकसित जातियों के चेहरों को देख कर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिन्हें अमीर युवतियां कहा गया है वे दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग की तो नहीं ही हैं क्योंकि जातियों के विकास यह दर्शा ही देते हैं। दूसरी तरफ जिन्हें ग़रीब कहा गया है उनमें बड़ी आबादी दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग की स्त्रियों की ही अधिक है। व्यावहारिक सच हम सबके सामने है। दलित साहित्य की रचनाओं में भी यही सच आ रहा है। हम यहां उदाहरण के लिए कुछ रचनाओं पर चर्चा करेंगे।

हिंदी दलित साहित्य में स्त्री मुक्ति और शिक्षा से जुड़े प्रश्न भी उभरते रहे हैं।

श्यौराजसिंह बेचैन की एक कहानी 'शीतल के सपने' का उदाहरण दिया जा सकता है। कहानी की मुख्य पात्र शीतल दलित चमार जाति की लड़की है जो पढ़ना चाहती है मगर उसके पिता की मौत हो चुकी है। मां निरक्षर और अल्पविकसित मस्तिष्क की है। उसके परिवार में आर्थिक उपार्जन का कोई निश्चित साधन नहीं है। उसके एक चचेरे चाचा जो दिल्ली में मास्टर हैं, कुछ दिन के लिए वे उसे अपने पास ले आते हैं। मगर वह भी ज्यादा दिन उसे अपने पास रख नहीं पाते। बच्ची शीतल पढ़ाई के प्रति रुचि रखती है। कुछ अक्षर सीखती है। वापस गांव पहुंचकर वह छोटे बहन-भाइयों को पालने के लिए स्कूल न जाकर बूढ़ी दादी के साथ मजदूरी करने जाती है। ऐसी स्थिति में उसकी पढ़ाई छूट जाती है। एक बूढ़ी दादी उसका सहारा थी। वह भी चल बसी है। लेखक ने समाज से प्रश्न किया है कि ऐसी स्थिति में शीतल ने पढ़ाई के लिए जो सपने देखे थे उनका क्या होगा? या उस जैसी बच्चियों को शिक्षा कैसे मिलेगी? इसी तरह स्त्री शिक्षा से जुड़ी एक कहानी सुशीला टाकभौरे की 'सिलिया' है। उसकी मुख्य पात्र सिलिया है। वह भंगी समाज की बच्ची है। जाति विषमतावादी समाज में पढ़ाई करने के लिए उसे अनेक विषम परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। मगर वह जैसे-तैसे हाईस्कूल की परीक्षा पास करती है और आगे की पढ़ाई करना चाहती है। मगर उसका परिवार विवाह कर देना चाहता है क्योंकि उसके परिवार की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि उसकी पढ़ाई जारी रखी जाए और न समाज में ऐसा वातावरण है कि वह भंगी जाति की बच्ची को पढ़ते देख सके। सिलिया अपने समाज के प्रति बचपन से ही गंभीर है। वह समाज में फैली जाति व्यवस्था को समाप्त करने के स्वप्न देखती है। मन ही मन दृढ़

निश्चय करती है। इस तरह यह दोनों कहानियां समाज में दलित बच्चियों की शिक्षा में आ रही रुकावटों को दर्शाती हैं। यहां एक और कहानी कौशल पवार की 'वर्दी' का भी उदाहरण दिया जा सकता है। कहानी का परिवेश हरियाणा का है। यह कहानी चूहड़ा जाति की छोटी बच्ची नेहा की है जो सरकारी स्कूल में पढ़ती है। मगर वहां उसे सब बच्चों से अलग नीले रंग की वर्दी पहनने को दी जाती है जबकि दूसरे सामान्य वर्ग के बच्चे सफेद या हल्के गुलाबी रंग की वर्दी पहनते हैं। नेहा की पहचान अलग चूहड़ा जाति से हो जाती है। साथी बच्चे उसे नाम से कम जाति सूचक शब्दों से अधिक पुकारते हैं। वह घर में इसकी शिकायत करती है। मुझे नहीं पहननी है ये वर्दी। मगर उसके मां-बाप गरीब दूसरी वर्दी नहीं बना पाते। कहानी में संवेदनशीलता उस समय आती है जब नेहा के पिता पर्दा पर पड़ा हुआ सफेद कफन उठाकर ले आते हैं। जिससे उसकी मां दुखी होती है। नेहा मां-पिता के संवादों को चुपके से सुनती है और बाद में वह उस कफन के कपड़े को उठाकर ले जाती है वर्दी सिलवाने के लिए। यह कहानी कहीं-न-कहीं यह संदेश देती है कि जातीय दंश इतने गहरे होते हैं कि उससे मुक्त होने के लिए व्यक्ति किसी भी हद तक चला जाता है। हमारे समाज में मृतक व्यक्ति के कपड़ों और कफन को इस्तेमाल करने का मानस नहीं है। मगर बहिष्कृत जातियों को मजबूरी में ऐसी त्याज्य वस्तुओं का इस्तेमाल करना पड़ता है जिसे सभ्य सभ्रांत समाज त्याग देता है। वह अपनी गरीबी से उतना दुखी नहीं होता जितना जाति के अपमान से होता है।

दलित साहित्य की अन्य विधाओं में भी दलित लड़कियों की शैक्षिक, जातीय स्थिति चिंताजनक है। कवि श्यामलाल शर्मी 'घृणित सोच' शीर्षक कविता में लिखते हैं-"घीसू की बेटी को पढ़ने/ नगर, गांव से जाना/बनूं शिक्षिका, उसने अपने मन में था यह ठाना/नगर, गांव से दूर/पिता ने साइकिल लेकर दी थी. उस पर चढ़कर चली बालिका, नव उमंग उपजी थी गूंजी गली 'बड़ों' की सबसे बड़ा दुख था माना/ मिल कर 'घीसू'/ को धमकाया/ भयवश लड़ न सका/ उनसे तो बेटी/ को समझाया, "उतर साइकिल अब पैदल/ 'उनके' द्वारे तक आना'।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 'बिटिया का बस्ता' में एक दलित छात्रा का संवेदनशील बिम्ब उभरा है-"लगा जैसे एक भीड़ है/ आसपास, बेदखल होती बदहवास चारों ओर जलते घरों से उठता धुआं

जलते दरवाज़े, खिड़कियां जिसे महंज कर रखती थी करीने से।

' मैं न पढ़ी/न मेरे बालका/ शोषन करें है /मिल मालिका/

कवि श्योराज सिंह बेचैन की उक्त पंक्तियों में अशिक्षित स्त्री की पीड़ा को शब्दबद्ध किया है। शिक्षा के अभाव में हर जगह उसका शोषण होता है। चाहे जहां काम करती है वहां मिल-मालिक, वैद्य, पुलिस, वकील, ससुराल, मायके हर जगह पर। वह मछली की तरह तड़पती रहती है। 'मैं तो हूं जैसे मछली जाल में' रूपक बांधकर परंपरागत काव्य सौंदर्य और स्वाभाविक अर्थबोध की वृद्धि हुई है। कैलाश दहिया की कविता 'घर बुहारती स्त्री' में स्त्री की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति का प्रकटन इस प्रकार हुआ है-

घर बुहारती औरत झाड़ती है कपड़े अपने/ बुहारती है खुद को/

अपने सपनों को/ औरत घर बुहारती है-कविता में एक ऐसे वर्ग की स्त्री को चित्रित किया गया है जो अपना घर स्वयं बुहारती है। उसके टूटते सपनों, अस्तित्वहीन व्यक्तित्व की ओर इशारा किया है। स्त्री का यह समर्पण रूप व्यक्तित्वहीन रूप की ऐसी कड़िया बनी हुई हैं जिससे वह मुक्त नहीं हो पा रही है।

इस तरह हिंदी दलित साहित्य में स्त्री मुक्ति के विभिन्न प्रश्न उसके जीवन से जुड़कर आ रहे हैं। ❑

संपर्क : I-122 वसुन्धरा, गाजियाबाद. (उ.प्र.)

मुक्ति की अवधारणा ...

पृष्ठ 14 से आगे

'टटा प्रोफेसर', मीडिया-पाठ पढ़कर नवपूंजीवादी समाज में नारी भक्ति-चेतना का आंदोलन खड़ा कर रहा है। 'हमज़ाद' की नायिका न पुरुष विश्वासघात से पीड़ित है न मध्ययुगीन पाप-बोध से। उसका नायक स्त्री की पुण्य-भूमि में लीला कमल खिला रहा है। एकदम उत्तर-आधुनिक नायक। सुरेंद्र वर्मा का 'दो मर्दों का गुलदस्ता' प्रौढ़ महिलाओं की शारीरिक भूख के लिए पुरुष-वेश्या का मदमस्त-रंग-दर्शन बखान रहा है। ये सभी उपन्यास स्त्री के पुराने मिथ को तोड़ते हैं। यही है नारीवादी विमर्श का उत्तर-आधुनिकवादी समय। इस समय में सब चलता है।

इस उत्तर आधुनिकतावादी समय के भीतर 'फेमनिस्ट लिट्रेरी थियरी' के चिंतन का वर्चस्व है। नारी परंपराओं की तलाश में वर्जीनिया वुल्फ, इलेन शो वाल्टर, बोनी जिमरमैन, माइकेल वेरिट, विक्टियानो फाउस्टर, हेनरी लाउमगोस्ट, नैन्सी के. मिलर, गायत्री चक्रवर्ती, स्पीवाक, जेनेट टोड, टेरेलावेल, जन आस्टिन, नेनसी आर्मस्ट्रांग, रीता फेलस्की, सुसान गुजर, कोरा कपलान, जुलिया क्रिस्टीवा, लिंडा जे. निकोलसन, जोनाथन कुलर आदि नाम कहां तक लें, नारीवाद के साहित्य और साहित्यशास्त्र को लेकर रात-दिन कार्य कर रहे हैं। कोई यह कैसे भूल सकता है कि पश्चिम में नारीवादी आंदोलन का एक बहुत बड़ा परिदृश्य है और उसके बहुत तरह के पाठ विमर्श हैं। लेकिन अब आंदोलन वहां बूढ़ा हो चला है कमज़ोर और पस्त भी। इधर हिंदी में नारी-लेखन की धकापेल मची है तथा बहुत कुछ मौखिक ढंग से सृजित हो रहा है। इसलिए स्त्रियां अब हाशिए पर नहीं हैं वे केंद्र में हैं। 'सेक्स' और 'जेंडर' के विवाद नए ढंग से 'कंस्ट्रक्ट' हो रहे हैं। विमर्श-कर्ता एक्टिविट्स भी इधर लपके हैं और फिनामिलाजिकल संघात चरम पर है। साथ ही नारीवादी आलोचना अब अंतर्विधाशास्त्रीय विमर्श है और 'फेमिनिस्ट आंदोलन की ओर भी कदम बढ़े हैं। तीसरी दुनिया की निम्नवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय स्त्रियों की समस्याओं पर भी ध्यान दिया जा रहा है और इस क्षेत्र की चुप्पी टूटी है। ग्लोरिया एजेन्दुआ तथा गायत्री स्पीवाक ने 'स्थानीयता', 'विस्थापन' तथा 'आत्मकथा' आदि विषयों का स्त्रीमन के विश्लेषण से हटा रिश्ता जोड़ा है। स्त्री समर्थक और स्त्री-विरोधी मिथकों के विश्लेषण में तेज़ी आई है।

हिंदी में इस क्षेत्र की ज्ञान-मीमांसा या एपिस्टिमोलॉजी विकसित हो रही है। मृणाल पांडे की 'परिधि पर स्त्री' तथा अनामिका की पुस्तक 'स्त्री का मानचित्र' इस क्षेत्र की अच्छी शुरुआतें हैं लेकिन अभी बहुत काम शेष है।❑

संपर्क : ए-102/3, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-110017

कविताएं : **रश्मि बड़थ्वाल**

स्त्री-1

मेरा अंग विशेष
उसका खिलौना विशेष
और उसकी निगरानी
उसका कार्य विशेष
हर पुरुष की छाया से डर
और डर से चौकीदारी गहरी
एक अंग के कारण ही बनी
मैं नज़रबंद क़ैदी।

स्त्री-2

एक सुबकती बच्ची
मेरा पीछा नहीं छोड़ती
मेरे संग-संग चलती
मेरे पीछे-पीछे दौड़ती
आंखों में आंसुओं के साथ
भरे रहती है सदा शिकायत।

स्त्री-3

रक्त ने
धर्म ने
क़ानून ने
बनाई है रिश्तों की भीड़ अपार
जो जुटी हुई है मुझे स्थगित करने में लगातार
याद नहीं
कि जब मैं दुधमुंही बच्ची थी
तब मुझसे
कैसा था किसका व्यवहार
लेकिन होश संभालने के बाद से
देखा है केवल उपेक्षा का ही व्यापार।

स्त्री-4

मैं एक फूल बनकर उगी थी
धरती पर
और शोर उठा कांटा है, कांटा है
मैं एक गीत बनकर आई थी
सृष्टि में
प्रयास हुए मुझे गाली सिद्ध करने के
मैं हूं ईश्वर की आंख का एक आंसू
और रोग प्रमाणित करना चाहते हैं मुझे
कुछ लोग
मुझमें उगते हैं फूल और गीत आज भी
क्योंकि आंसू हूं भी तो
सृष्टा की आंख का।

स्त्री-5

ये बताओ
पचास की उम्र में
पचीस जैसी चुस्ती
पाना क्यों चाहती हो
आख़िर,
ज़िंदगी का इतना बोझ
उठाना क्यों चाहती हो?

स्त्री-6

जब मैंने डूब जाना चाहा
तेरे गान में
एक सन्नाटा खिंच गया
मेरे चारों ओर
पथराई मैं प्रताड़ना से
वह फूलों और झूलों की उम्र
मेरे सख़्त तलवों पर सर पटकती
करती चली गई अनवरत विलाप
झगड़ते रहे वायु और वर्षा
आंगन में छत पर सड़कों पर
थाने, कचहरियों में सब जगह
उनके झगड़ों के धक्कों में
बेहाल हुई
मेरी बची-खुची चेतना।

स्त्री-7

इतना डाला गया पानी
आग पर
कि बुझ ही तो गई मैं
आसान हो गया
मारना
ताने, ठोकरें, डंडे
हिस्से में अपने श्रम था
रचना था
कर्म था
श्रमपूर्वक रचनाकर्म करते
लौटने लगे जो मेरे उजाले
अंधेरों के नागपाश फेंके जाने लगे
मेरे ऊपर
चुकती हुई शक्ति से
क्या तो मैं श्रम करूं
क्या तो मैं रच सकूं!

स्त्री-8

मैं वसंत का बीज थी
किंतु
पतझड़ के गले में
ढोल की तरह
लटका दी गई।

स्त्री-9

पत्नियां चली आती हैं
नित्य साथ दफ़्तर तक
लंच बॉक्स में
सुगंधि बनकर।

स्त्री-10

कुंआरी उम्र के कोष में
धैर्य था
प्रतीक्षा थी
आशा थी
और जब समय आया
प्राप्ति का
मिली घोर निराशा
हास्यास्पद सिद्ध हुई प्रतीक्षा
और निष्फल हो गया धैर्य
हिस्से में आया
तड़पना, सिसकना
घनघोर अंधकार और बेचैनी
मन के कुंआरेपन के पास

कोई आशा भी नहीं
प्रतीक्षा भी नहीं
धैर्य का आधार
केवल मृत्यु।

स्त्री-11

वह मुझसे बहुत पीछे था
और चाहता था
मैं उसके पीछे चलूं
धीमी की मैंने अपनी चाल
कि चल सकें हम साथ-साथ
साथ चलना उसे नहीं था स्वीकार
हठ था उसका
कि मुझे होना चाहिए
उससे बहुत पीछे
वह ठस्स गतिहीन
और मैं गति से ही सांस लेने वाली
कितनी देर जीती बिना सांस लिए
उसके सारे प्रयास
मुझे गतिविहीन कर देने के लिए
मेरी इच्छाओं का पुंज केवल आगे बढ़ना
बिना किसी प्रतिद्वंद्विता के
बिना किसी द्वेषभाव के
आगे बस आगे
भले ही धीमे-धीमे
उसकी शक्ति नहीं लगती
कभी नहीं लगती
अपने पांव आगे सरकाने में
केवल लगती है
मेरी गति अवरोधित करने में।

स्त्री-12

न थी आत्मा की आकुल गुहार
न था कहीं छींटा-भर प्यार
हर पत्र में भी उसके बस होता वही
केवल रूक्ष अधिकार।

स्त्री-13

'कैरम भी खेलना नहीं आता, बेचारी मम्मी!'
ठठाकर हंसते हैं मेरे बच्चे
मुस्कराती हूं उनके बचपन पर
हत्यारों के बीच से जीवित बच निकलना
किसी 'बेचारे' के बस की बात नहीं
बिना हथियार
बिना कूट-कपट
बिना छल-छद्म
बिना घुटने टेके
निकल आई मैं
हत्यारों की क़तार के मध्य से
यह क्या बच्चों का खेल है!

स्त्री-14

मैं रोई
तो तुम अभिमान से भर उठे
कि दुर्बल नहीं हो तुम मेरी तरह
अपनी शक्ति के गौरव में हंसते
तुमने बिताया
मेरे रोने का सारा समय
मैं हंसी
तो तुम उदासी से भर गए
मानो मैंने छीन लिया हो कुछ तुमसे
या कि मेरी हंसी में भी कहीं उपेक्षा हो
तुम्हारी हंसी की तरह।

स्त्री-15

अगर मैं बोलूं
तो ईर्ष्या ध्वनित होने लगती है
तुम्हारे मौन में से
तो मैं संवाद की पुस्तक बंद कर
उकसा देती हूं लौ
अपने बुद्धूपन की
और तुम घमंड से मुस्कराते हो
आश्वस्ति उतर आती है
तुम्हारे चेहरे पर
तुम्हारी यह अनुदार विजय
प्रश्नों की बरसात करती है मेरे भीतर
निःशब्द होना पड़ता है बाहर से
जबकि टूट-टूटकर
बिखरते हुए भी चीख़ता रहता है
मेरा हृदय।



स्त्री-16

इतने दबाव थे
दसों दिशाओं से
कि सिकुड़ कर बस
दसवां हिस्सा रह गया मेरा अस्तित्व
फिर मैंने रखा माथे पर
एक लाल शून्य
और फुसलाया बिखरती आत्मा को
'लो हो गई न दस गुणित'।

स्त्री-18

एक दिन
मैं बिला जाऊंगी
अनंत अंधकार में
सो जाऊंगी अखंड शून्य में
और मुझे खोजते ही रह जाएंगे मेरे बच्चे
चिता से बचे फूलों को कोंचते
परेशान होंगे कुछ दुश्मन
कि किस ठौर पाएंगे अब वे
पर पीड़न सुख का धारा प्रवाह स्वाद।

संपर्क : 21-नीलविहार, निकट सैक्टर-14, इन्दिरानगर, लखनऊ-16

जनजातियों का वसंतोत्सव है सरहुल

कुमार कृष्णन

'सरहुल' 'बा' 'बाहा'-और भी कितनी संज्ञा दी गई है प्रकृति-पर्व फूलों के पर्व को। आदिवासी समाज में प्रकृति की पूजा सदियों पूर्व से होती आ रही है। 'बा', 'बाहा' का अर्थ है-फूल। चैत्र का चांद उग आता है तो द्वितीया से पंचमी तिथि तक आदिवासी इलाका फूलों के पर्व को मनाने के लिए बौरा जाता है। बौराए क्यों नहीं, बौर की प्यारी महक मन को बौराए बिना छोड़ती नहीं। यह गदराया मौसम जब होता है हर वृक्ष, हर डाली पर फूल और कोपलें उग जाती हैं। ठूंठ में भी नाजुक कलियां फूट पड़ती हैं। सारा जंगल लहक



उठता है परास के फूलों से, महुआ की लुहलुह कत्थई पाती अलग आमंत्रण देती है। साखू की प्यारी भीनी सुगंध मन में शांति प्रदान करती है। सारा वन प्रांतर गमगमा उठता है, लताएं नई कोपलें लिए पेड़ों से लिपट जाती हैं। फूलों से तितलियों के नेह, वन पंखियों के कलरव उमंग भरते हैं। ऐसे ही मादक, मनमोहक वातावरण में आदिवासियों का वसंतोत्सव यानि 'वा-पोरोव' 'बाहा' संपन्न होता है। वन तथा वृक्ष की पूजा से संबंधित यह महत्वपूर्ण त्योहार है। ऋतुराज वसंत के आगमन के साथ ही जनजातियों का समाज इस पर्व के आगमन की प्रतीक्षा करने लगता है। जनजातीय समाज की गौरवशाली प्राकृतिक धरोहर का नाम है 'सरहुल'। यही धरोहर मानव सभ्यता-संस्कृति एवं पर्यावरण की रीढ़ भी है।

मुल्क भर में जंगल, ज़मीन को आबाद करने के लिए आदिवासियों का अपना इतिहास रहा है। जिस प्राकृतिक धरोहर को आदिवासियों ने आबाद किया, वह इस समुदाय की खूंटकटी सामुदायिक विरासत मानी गई। देश के जिस भी हिस्से में आदिवासी बसते गए, उन इलाकों में मुगलों, आर्यों एवं अंग्रेजों का क्रम से आना जारी रहा। 1700-1900 के दौर में अंग्रेज शोषक शासकों, ज़मींदारों, इज़ारेदारों द्वारा आदिवासियों के हाथों से जंगल, ज़मीन की लूट से यह क्षेत्र जलता रहा।

आदिवासी समाज की सामुदायिक विरासत को उनके हाथों से छीनकर अंग्रेजी हुकूमत ने व्यक्तिगत सम्पति बना लिया। देश के जिस भी क्षेत्र में बाहरी शक्तियां आदिवासी समाज पर हावी हुईं। आदिवासियों ने मुख़ालफ़त में आंदोलन चलाया। इस संघर्ष को आज भी आदिवासी समाज वसंत ऋतु तथा सरहुल त्योहार में गाता है। जल, जंगल, ज़मीन की लूट के ख़िलाफ़ 1855 में सिद्धो-कान्हू के नेतृत्व में हूल आंदोलन 1895-1900 तक मुंडा आदिवासियों ने मुंडा सरदार और बिरसा मुंडा की अगुवाई में उलगुलान किया। जब दामिन-ई-कोह के घने जंगल को काटकर अंग्रेज़ भागलपुर तक रेलवे लाइन बिछा रहे थे संथाली आदिवासियों ने जंगल पर्यावरण की रक्षा में हूल आंदोलन चलाया। पाकुड़ के धनूषपूजा गांव के करीब मारटिएल टावर, जिसे मारटिएल अंग्रेज इंजीनियर की देखरेख में अंग्रजों ने रातोंरात खड़ा किया था। यह टावर साल जंगल को बचाने के लिए हुल छेड़े संथालियों को मारने के लिए बनाया गया था। इसी टावर से अंग्रेजों ने सैकड़ों संथालियों को छलनी कर दिया। शहीदों के खून से धरती रंग गई। बावजूद इसके अपनी धरोहर की रक्षा के लिए सीना ताने संथालियों ने सीने पर गोली खाते टावर तक पहुंचकर टावर के भीतर से गोलियां बरसा रहे एक-एक अंग्रेज सैनिक को मार गिराया। यह संघर्ष 10 जुलाई 1956 का है। वहीं दूसरी ओर इसी दौर में खूंटकटी जंगल और ज़मीन की रक्षा के लिए बुंडु, तमार, खुंटी क्षेत्र में मुंडा आदिवासियों ने अंग्रेज शासकों, ज़मींदारों के ख़िलाफ़ उलगुलान का बिगुल फूंका। आज भी इसे सरहुल गीतों में याद करते हैं। जनजातीय क्षेत्र में विभिन्न जनजातियों की बहुरंगी सांस्कृतिक विरासत की विविधता है। यह समाज प्राकृतिक छटा के बीच, खेतों-खलिहानों, जंगलों के बीच प्रकृति की सहज अनुभूतियों से उन्मुक्त रहता है। खड़िया समाज प्रकृति के साथ आत्मीय रिश्तों को सरहुल वसंत गीतों में इस प्रकार अभिव्यक्त करता है-

आता खोंचाते जराने वेलेगाचि
टाना सहिया जरआ योंओना
नाईक दादा उमींग गारो ठोकैती
सुरी सगो मेलाय गारो टुयोब-टुयोब

अर्थात् 'कहां किस कोने में बाड़ पका हुआ है, चलिए सहियां बाड़ खाने, दादा नहीं ठग रहे हैं चलिए बाड़ खाने' सभी साथी-संघी छोड़कर चले गए।

'जाहर थान' या सरना में पुजार-पाहन पूजा संपन्न कराते हैं। पाहन अपने सहयोगी केटावारसहित उपवास में रहते हैं, अन्य श्रद्धालु भी उपवास में रहते हैं। संथाल के नाएके, कुंतुबनायके मुंडा उरांव के पाहन, कोटवार पूजा की तैयारी करते हैं-नया सूप, चाकू, सिंदुर, दीप अक्षत पूजा की इलि (हड़िया), सालूफूल, बलि के पांच रंग के मुर्गे, पाहन को सत्कार-सम्मान से कंधे पर बिठाकर लोग उनके घरों से लाते हैं सरना पूजा स्थल तक पाहन अपने

सहयोगी के साथ वहां पूजा की विधि संपन्न कराते हैं। बलि की मुर्गी के रक्त को वहां पूर्व से रखे दो घड़ों (पानी से भरा ढक्कन से ढका) पर खून गिराते हैं। इस बलि की मुर्गियों के सिर किस दिशा में गिरते हैं, इस पर सगुन का विचार किया जाता है कि इस वर्ष वर्षा कैसी होगी, फ़सल कैसी होगी, रोग, दुख तो नहीं होगा। पूजने परांत पाहन सभी को पुष्प गुच्छ आशीर्वाद स्वरूप भेंट करते हैं। यहां घर के वरिष्ठ पुरुष अपने घर जाकर बोंगा की पूजा शर के पूजा स्थल में करते हैं, बलि चढ़ाते हैं। संथाली समाज सरहुल पर चंडु उपिन दिन से (चांद निकलने के चौथे दिन) बाहा पोरोव मनाना शुरू करते हैं और पूर्णिमा के दिन अंत करते हैं। संथाली समाज प्रकृति के साथ सामाजिक तानाबाना को बाहा पोरोव में वसंत गीतों के ज़रिए प्रकट करता है-

ओकाए गीत मई से सबेआ दादों
ने सरजोम बाहा दो ओकोए। मई रे सवेआ
दादा ने मदुकम बाहा दो नाएके मई के
सवआ दादा, ने सरजोम बाहा दो, देवरी मई रे
रे सवेआ दादा ने मकदोम बाहा दो।

'दादा कौन पकड़ेगा सखुआ पुल, कौन पकड़ेगा महुआ पुल, नायक पकड़ेगा सखुआ पुल, देवरी पकड़ेगी महुआ पुल'।

संथाली समाज पानी से होली खेलते हैं। 'मारंग बुरू' और 'जहारे एरा' की अर्भ्यथना 'जाहेर-थान' में विधिपूर्वक की जाती है। पांच दिनों का बाहा उत्सव इस समाज में मनाया जाता है।

जाहेर-थान या सरना में ही बलि के मुर्गे के मांस और चावल सभी प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके बाद तो हर पांव थिरकने लगता है और सरहुल गीत कंठों से फूट पड़ते हैं, मांदर, बांसुरी और नगेड़ा की थिरकन को ताल देकर झुमाए रहते हैं। पाहन गांव टोले के हर घर में फूलखोशी करता है। सूप में साखु पुष्प लेकर बाजे-गाजे के साथ फूलखोशी में अपने दल के साथ निकलते हैं। हर घर में उनका आवभगत किया जाता है। उन पर पानी उड़ेला जाता है। उन्हें भी पुष्प गुच्छ भेंट किया जाता है। सरहुल समता का पर्व है। सभी लोग सरना जाते हैं। सरहुल पर्व पर हर घर के छप्पड़ में साखु पुष्प पाहन खोजते हैं। साखु का फूल बहुत पवित्र और सुरक्षादायक माना जाता है। आदिवासी समाज में। मुंडारी धारणा है कि प्राचीन काल में जंगल की देवी के आदेश से मुंडा सैनिकों ने साखु फूल की डाली कमर में खोंसी और उसी से अपने को छिपाया और दुश्मनों के वार से बचे और अंततः विजय हुए।



श्रीराम जन्म से संबंधित है 'बा-पोरोव'। मुंडारी लोक कथा के अनुसार रामजन्म से लेकर छठिहार तक की अवधि में लोगों से पूछकर राजा दशरथ ने कार्रवाई की थी। प्रथम दिन स्नान और सफ़ाई। 'ई कड़कोम उत्सव फिर सुड़ा संगेन उत्सव (पत्ते पर बैठकर खाना)। गोटा, रहर, उड़द दाल खाना, फूलों से बच्चों को सजाना और फिर वही फूलों की विदाई। इस क्रम को आज



भी मुंडा समाज 'बाहा पोरोब' के रूप में मनाता है। धरती की बेटी विदी, जो अति रूपवती थी, वह एक बार अकेली खेलने निकल गई। उसकी रक्षा करनेवाली धाई परेशान थी। (शाम को जब धरती माता आई, तो विदी नदारद थी। धाई से पूछने पर उसने बताया कि वह अकेली पोखर की ओर खेलने निकली थी, पोखर में फूल तोड़ने गई तो डूब गई। धरती मां अवाक रह गई। वह ज़ार-बेज़ार रोने लगी। उनकी उदासी से सारी प्रकृति उदास हो गई। लोग उदास होकर विदी की खोज में निकल गए। लोग स्वर्ग तक गए विदी वहां मजे से खेल रही थी। भगवान से सारी बातें कही गई तो उन्होंने कहा कि विदी ने यमलोक का अनाज खाया है अब धरती पर रहना संभव नहीं है। धरती और वहां के लोगो की स्थिति देखकर भगवान ने कहा कि कुछ दिनो के लिए विदी धरती पर रह सकेगी। फिर उसे वापस लाया जाएगा। इस समझौते को स्वीकार कर लोग विदी को वापस ले गए। विदी को देखभर धरती का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। धरती की सारी उदासी समाप्त हो गई। प्रकृति ने रंगीन वस्त्र धारण किया और उसके आगमन पर खुशियां मनाई गई, उसी समय से बाहा उत्सव मनाया जाने लगा। उरांव समाज की धारणा है कि धरती से सूरज का ब्याह हुआ था, उसी उपलक्ष्य में 'खद्दी' का त्योहार मनाया जाना शुरू हुआ। उरांव लोगों की धारणा है कि फ़सल कटने के बाद धरती कुंवारी होती है इसलिए बिना 'खद्द' मनाए लोग खेतों में हल नहीं उतारते। इस त्योहार में सामाजिक-धार्मिक एवं सांस्कृतिक तीनों का सामंजस्य एक साथ देखने को मिलता है, जो कि आदिवासी समुदाय को प्रकृति के और नज़दीक लाने का प्रयास करता है। 1865 में ब्रिटिश सत्ताधीशों ने आदिवासी समाज से जंगल को छीनकर अपने कब्ज़ा में करने के लिए वन अधिनियम बनाया फिर उसमें संशोधन कर जंगल लूटतंत्र को और मज़बूती दी गई। इसके तहत सुरक्षित वन, आरक्षित वन एवं ग्रामीण वन कानून बना। इसके उपरांत एक क़दम आगे बढ़कर 1927 में भारतीय वन अधिनियम बना, कानूनी हथकंडों ने आदिवासी समाज एवं प्रकृति के बीच संबंध को तार-तार कर दिया तो दूसरी ओर सरकारी तंत्र द्वारा वन संरक्षण के नाम पर यूकलिप्टस के पेड़ लगाए जा रहे हैं। इससे न केवल ग्रामीण, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आधार नष्ट हो रहा है, वरन पर्यावरण संतुलन भी बिगड़ रहा है। सरहुल की अहमियत को नए सिरे से विश्लेषित करने की जरूरत है ताकि उजड़े जंगल ठूठों में हरियाली भर सकें। ❑

संपर्क : द्वारा बनारसी ठाकुर, दशभूजी स्थान रोड, मोग़ल बाज़ार, मुंगेर (बिहार)

गांव की बेटी, सबकी बेटी

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत 'सामाजिक एकता' एक नारा बना है। सामाजिक समरसता लाने के आर्थिक प्रयास हो रहे हैं, मगर यह आने से तो रही। जब तक हम 'गांव की बेटी, सबकी बेटी' के भाव और व्यवहार को पुनः स्थापित नहीं करते, तब तक समरसता आएगी कहां से? बता रही हैं वरिष्ठ लेखिका **मृदुला सिन्हा**

भारतीय लोक संस्कृति की यह विशेषता रही है कि आचार संहिताओं के संवाहक वेद मंत्रों को लोक भाषा में अनुदित कर लोकमन को आत्मसात करते रहना। अन्यान्य रीति-रिवाजों, पर्व-त्योहारों और सोलह संस्कारों पर गाए जाने वाले गीत, वेदमंत्रों के अनुवाद ही हुआ करते थे। वे गीत इतनी बार गाए जाते थे कि बचपन से ही लोगों को आचार संहिताएं सिखा जाते थे। अन्यान्य आचार संहिताओं में एक था स्त्री का सम्मान करना। दरअसल सम्मान करने का संकल्प ले लिया तो इसी बड़ी छतरी के अंदर उसकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, स्वरोज़गार सब उसके अंदर आ गया। सम्मान देने के भाव को विभिन्न रीति-रिवाजों में प्रगट किया जाता रहा। एक गांव में विभिन्न जातियों के लोग रहते आए हैं। सभी जातियां एक-दूसरे की पूरक हुईं। किसी एक जाति की भी कमी हो तो संस्कारों के अवसर पर विधियां ही पूरी न हो। पुरुष-स्त्री, बेटे-बेटियां सब रहते थे। लेकिन बेटियां किसी एक जाति या एक मां-बाप की ही नहीं होती थीं, 'गांव की बेटी, सबकी बेटी' का सिद्धांत और व्यवहार था। क्या राजा क्या रंक, क्या मालिक क्या मज़दूर, सबकी बेटियां, गांव की बेटियां।

अपने खेत में काम करने वालों की बेटियों की शादी में मालिक लोग भी उनके दरवाज़े पर बरात आने के समय खड़े हो जाते थे। जिस गांव में अपने गांव की बेटियां ब्याही जाती थीं, उन गांवों में जाने पर लोग खाना नहीं खाते थे। किसी कारण खाना पड़े तो पैसा दे देते थे। इस रस्म अदायगी में भी जात-पात का भेद नहीं होता था। 'गांव की बेटी-सबकी बेटी' का विचार कई मायने में बेटियों का सम्मान और सुरक्षा दिखाता था। उस गांव की बेटी को ससुराल में प्रताड़ना मिलती थी तो गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति का सहारा लिया जाता था। दूसरा प्रमुख विचार स्त्री को पुरुष की 'इज़्ज़त' समझने का था। अपनी 'इज़्ज़त' (स्त्री) के रक्षार्थ पुरुष कुछ भी करने को तैयार हो जाता था। जान पर भी खेल जाता था। ध्यान देने की बात है कि पुरुष को दी जाने वाली जितनी भी गालियां हैं वे स्त्री को अपमानित करने वाली ही हैं। उसकी मां-बहन को जब वैसी गालियां दी जातीं हैं तो कोई भी पुरुष सहन नहीं कर सकता। वह मरने-मारने को तैयार हो जाता है।

स्त्री को अपनी इज़्ज़त समझने वाले समाज में उन्हें विशेष सुरक्षा भी दी जाती रही है। स्त्री और पुरुष कभी बराबरी के दंगल में नहीं आए। स्त्रियों को भले ही औपचारिक शिक्षा नहीं दी जाती थी, पर उन्हें घर चलाने, बच्चा पालने तथा मेहमानों का सम्मान करने आदी की शिक्षा अवश्य दी जाती थी। यह मानकर चला जाता था कि वह परिवार की धूरी होगी। पुरुष उसका सहयोगी होगा, पर घर की बागडोर उसी के हाथों में होगा। तभी तो कई पुरुष भी अपनी पत्नियों को 'मालकिनी' कहकर ही पुकारते थे। घर से ही लड़कों को भी स्त्री का सम्मान करने की शिक्षा मिलती थी।

ऐसा नहीं कि उन दिनों लड़कियों के साथ छेड़छाड़, बलात्कार और घरों में उत्पीड़न की घटनाएं नहीं घटती थीं, पर ऐसे दोषियों को समाज ही दंडित भी करता था। सामाजिक बंधन में बंधे लोगों के मन में समाज का भय था। इधर सारे बंधन टूट गए। यह भी कहा जाता रहा कि "ऐसा तो पहले भी होता था"। संस्कृति सूत्र एक भाव है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते', "मातृवत पर दारेषु" संस्कृति के सूत्र हैं। हमारी परंपराओं में इन सूत्रों को पिड़ो रखा था। देश, काल, पात्र के अनुसार परंपराएं बदली हैं पर संस्कृति सूत्र नहीं बदले। 'गांव की बेटी, सबकी बेटी' की धारणा बदलने से बहुत कुछ बदला-बदला सा दिख रहा है। इन दिनों हम महिलाओं पर बढ़ रहे अत्याचार की घटनाओं के कारण ढूंढ रहे हैं। स्त्री-पुरुष, समाज, सरकार एक-दूसरे को दोषी ठहरा रहे हैं। कारण का पता नहीं लग रहा है। 'रोपा पेड़ बबूल का, आम कहां से होए'। 'गांव की बेटी, सबकी बेटी' तथा 'बिटिया' जैसी धारणाओं पर अमल करना ही होगा, तभी बेटियां सुरक्षित और सम्मानित होंगी। औपचारिक शिक्षा के पाठ्यक्रम और पारिवारिक व्यवहारों में स्त्री का सम्मान करना सिखाना होगा। बेटी जन्मे भी और मान-सम्मान से जिए भी।

'जननी को जन्मने दो, जन्मी को जीने दो।'

भारतीय समाज में रोटी-बेटी का रिश्ता माना जाता रहा था, अर्थात् गांवों में सभी जातियां मिल-जुलकर रहती थीं परंतु अपनी जाति में ही बेटी ब्याहने और उनके साथ बैठकर भोज खाने का रिवाज था। इस रोटी-बेटी के रिश्ते का पालन बड़ी सख़्ती से किया जाता था। किसी दूसरी जाति के लड़के-लड़कियों के विवाह के प्रस्ताव पर जातिगत दंगे तक हो जाते थे, इसलिए कि परिवार और जाति के सम्मान की प्रतीक बेटी मानी जाती थी। किसी भी बेटी को अपनी इज़्ज़त मानकर लोग उसकी सुरक्षा के लिए जान तक पर खेल जाते थे। बेटी का अपमान होने पर पूरा समाज स्वयं को अपमानित महसूस करता था। उसके विवाह के समय गांव के विभिन्न जाति-धर्मों के लोग यथाशक्ति योगदान करते थे। मुस्लिम बेटियों के निकाह के अवसर पर आपसी भेद मिटाकर हिंदू लड़के काम करते थे। किसी भी जाति की स्त्री हो, उसके साथ बहन, भाभी, बुआ, मौसी या काकी का ही रिश्ता होता था और वह बहन, चाची, काकी और मौसी ऐसी कि संपूर्ण गांव के लिए दुआ मांगती थी; गांव की सलामती चाहती थी।

वर्तमान में छुआछूत में काफी हद तक कमी आई है, यह अच्छी बात है, परंतु उसके साथ 'गांव की बेटी' भी मिट गई है। बेटियां भी अब जातियों में बंटी हैं। हिंदू, मुस्लिम, सिख और ईसाई की ही नहीं, वे हिंदुओं में भी अगड़ी और पिछड़ी जातियों की बेटियां बन गई हैं। आज से पांच दशक पूर्व ब्राह्मण की बेटी को कहार जाति के लोग डोली में अपने कंधे पर उठाकर उसके ससुराल पहुंचाते थे। उनके साथ लड़की का पिता या भाई नहीं जाता था। रास्ते में कोई विपत्ति आने पर वे कहार जाति के लोग उस दुल्हन (बेटी) के लिए अपनी जान तक पर खेल जाते थे।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत 'सामाजिक एकता' भी एक नारा बना है। सामाजिक समरसता लाने के आर्थिक प्रयास हो रहे हैं, मगर यह आने से तो रही। जब तक हम 'गांव की बेटी, सबकी बेटी' के भाव और व्यवहार को पुनः स्थापित नहीं करते, तब तक समरसता आएगी कहां से?

पहले ज़माने में एक जाति के अभाव में गांव की समरसता बिखर जाती थी। तब सभी जातियों का महत्त्व शादी-विवाह, तीज-त्योहार आदि के अवसर पर प्रगट होता था। अब स्थितियां बदल गई हैं। पीछे तो लौटा नहीं जा सकता, मगर 'गांव की बेटी' की धारणा और भाव अवश्य लौटाया जा सकता है। इसके लिए परिश्रम करना होगा। यद्यपि देश में सामाजिक समरसता लाने की कोशिशें हो रही हैं। इन कोशिशों में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। अपने परिवार में ही तीज-त्योहारों, शादी-विवाह या ऐसे ही अन्य सामूहिक आयोजनों पर सभी जातियों और संप्रदायों की बहनों तथा बच्चों को बुलाकर और उन्हें उचित मान-सम्मान देकर ये महिलाएं इस बुनियादी बदलाव में अग्रणी भूमिका निभा सकती हैं। महिलाओं के ऐसे सद्व्यवहार तथा आचरण से बच्चे तो सीखेंगे ही, पुरुषों में भी परिवर्तन आएगा।

आज महिलाओं का कार्यक्षेत्र घर से बाहर भी विस्तृत हुआ है। पंचायती राज कानून के तहत बारह लाख महिलाएं जीत कर आती हैं। वे अपने दायित्वों का निर्वहन करके सामाजिक समरसता ला सकती हैं। यह कोई अतिश्योक्ति नहीं, बल्कि एक यथार्थ है कि वे अपने पदों पर काम करती हुई, जाति और संप्रदाय के भेदभाव कम बरतती हैं। सामाजिक समरसता लाने के लिए महिलाओं को माध्यम बनाने में कुछ विशेष पहल, जैसे-हर पंचायत में सामूहिक तीज-त्योहार मनाने, सामूहिक भोज की परंपरा की शुरुआत करने आदि की भी जरूरत है। देश-भर में महिलाओं के नौ लाख स्वयंसदस्यता समूह बने हैं। इन समूहों में ग़रीब महिलाएं ही सदस्य बनती हैं, मगर इन समूहों को बनाने में मदद करने वाली मध्यम वर्ग की महिलाएं हैं। इनके सामूहिक प्रयास से आर्थिक भेदभाव मिट रहा है। जाति और संप्रदाय का भेद भी नहीं दिखता। इन समूहों के माध्यम से समाज के उन वर्गों में भी भेदभाव मिटाकर समरसता लाई जा सकती है, जो इन समूहों से अलग हैं। सामाजिक समरसता लाने के लिए महिलाओं को माध्यम बनाने हेतु विभिन्न कारगर कार्यक्रमों की योजनाएं बनानी चाहिए। एक बार इनके मन में समरसता से अपने परिवार और बच्चों के हित-भाव जोड़ दिए जाएं, फिर देखिए, ये समरसता लाने में ही दिन-रात लगेंगी और तब फिर सामाजिक समरसता लाना इनके लिए एक नारा नहीं, बल्कि व्यवहार हो जाएगा।

यह तो है महिलाओं के लिए करणीय। परंतु पुरुष, परिवार, समाज और सरकार के लिए भी बेटी को सुरक्षा, सम्मान देने के लिए बहुत कुछ करने की जरूरत है। यदि मन बना लिया कि अपने समाज की हर बेटी अपनी बेटी है तो उन्हें सुरक्षित रखने के रास्ते अपने-आप प्रशस्त हो जाएंगे।

ऐसा सबकुछ तभी हो सकता है जब हम 'गांव की बेटी, सब की बेटी' का भाव और व्यवहार का प्रचार-प्रसार करें। जाने-अनजाने हमने स्त्री-पुरुष, जातियों और संप्रदायों के बीच भी अखाड़े खड़े कर लिए हैं। स्त्री के समुचित विकास से समाज के चतुर्दिक विकास के लिए सर्वप्रथम तो इन अखाड़ों को पाटने की जरूरत है। आज महिलाओं पर हो रहे उत्पीड़न की जड़ में पुरुष के मन में उनके प्रति प्रतिरोध का भाव भी है। दूसरी जातियों और समुदायों को नीचा दिखाने का भी। सबसे बड़ा कारण तो नौजवानों के संस्कार पर ध्यान नहीं देना और 'यार सब चलता है' का भाव है। 'महिला सुरक्षा' के वादे भी कुछ हद तक ही पूरे हो पा रहे हैं। हमें अपनी समस्याओं के निदान के लिए अपनी जड़ों में ही जाना होगा। नए परिवेश में नए स्वरूप बनाने होंगे। लेकिन नारी तो सम्मान की ही अधिकारिणी है। वह मात्र नर के बराबर नहीं, प्रकृति की विशेष देन है। इसलिए वह पुरुष के बराबर के संवैधानिक और सामाजिक अधिकार के साथ विशेष शिक्षा, विशेष सुरक्षा, विशेष स्वास्थ्य, विशेष रोज़गार और विशेष सम्मान की अधिकारिणी है। वह किसी एक पिता की नहीं, संपूर्ण गांव (देश) की बेटी है, इस भाव को समाज में जमाने की योजनाएं बननी चाहिए। ❑

संपर्क : पी.टी 62/20, कालकाजी, नई दिल्ली-110019

आजकल का ग्राहक बनें:

मैं आपकी पत्रिका *----------का ❑ एक वर्ष (100 रुपये)

❑ दो वर्ष (180 रुपये) ❑ तीन वर्ष (250 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

शुल्क का रुपये---------- डिमांड ड्राफ्ट या भारतीय पोस्टल ऑर्डर, मनीऑर्डर ----------दिनांक--------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम : ----------

पता : ----------

पिन : ❑❑❑❑❑❑

- **कृपया अपना चंदा डी.डी. या भारतीय पोस्टल ऑर्डर, मनीऑर्डर, *अपर महा निदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएं।**
- **पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।**
- **दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।**

चंदा निम्न पते पर भेजें:

विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

आत्मकथ्य

मैं क्यों और कैसे लिखती हूं?

कुर्रतुलऐन हैदर

अनुवाद : सुरजीत

जब भी मुझसे लिखने के लिए कहा जाता है, तो मुझे बड़ी सख़्त उलझन और उससे ज़्यादा हिचकिचाहट होती है। मैं अपने मुतअल्लिक (संबंध में) क्या कहूं? हर शख़्स को अपने बारे में ख़ुशफ़हमियां होती हैं। अपनी सारी कमज़ोरियों और ख़ामियों को जानते हुए भी वह ख़ुद को धोखा देना चाहता है कि वह बहुत अच्छा है। दूसरे उसे ग़लत कहते हैं, और जब मुझे अहसास होता है कि मैं इतना कुछ लिखने के बाद भी कुछ न कर सकी। मैंने अपनी सलाहियतों (योग्यताओं) के मुताबिक बहुत कोशिश की कि ज़िंदगी के भेदों को मुकम्मल तख़लीक़ (सृजन) और तजुर्बों, दौरों, जगहों और सदियों की हदों में बांध लूं। मैंने दिलों, दिमाग़ों और रूहों के अंदर झांकने की कोशिश की। मैंने उन लोगों के बारे में सोचा, जिन्होंने ज़माने और दिल की कसक और रूहानी ख़ला (शून्यता), तन्हाई, ख़ौफ़, शकों-शुबहा और दहशत की अंदरूनी मर्कज़ (केंद्र) पर ख़ुद को अकेला पाया, लेकिन चारों तरफ़ अंधेरा था और सन्नाटा और उस सन्नाटे में लाखों-करोड़ों इंसान जीते और मरते रहे। मेरे साथ और मुझसे अलाहिदा (पृथक)। मैंने ज़मीन का कारोबार निपटाए बग़ैर आसमान की तरफ़ देखा और ज़िंदगी की असीमता ने मुझे चकित कर दिया।

यह हज़ारों बार दुहराई हुई बात है कि इंसान के ख़यालात और किरदार (चरित्र) की तश्कील (पूर्णता) में उसकी परवरिश, उसके ज़ेहनी और लाशऊरी (अवचेतन) पसेते मंज़र (पृष्ठभूमि) और उसके घराने का बहुत दख़ल होता है। मेरे वालिद सय्यद सज्जाद हैदर यलदरम उर्दू के बहुत बड़े अदीब और उर्दू अफ़साना निगारी के अग्रगामियों में थे। उन्होंने उर्दू ज़बान को न सिर्फ़ फ़िक्री (चिंतक) फ़लसफ़ियाना और लतीफ़ (कोमल) अदब दिया, बल्कि उसमें इम्नकारी के नए रंग-ढंग भी पैदा किए।

तुर्की से उनको मुहब्बत थी। बहुत-से तुर्की के ड्रामे और उपन्यास उर्दू में अनुवाद करके आज से आधी सदी पहले उन्होंने उर्दू को तुर्की और यूरोपी ख़यालात और तरज़े-इज़हार से परिचित कराया। वह अदीब के अलावा एक बड़े बाकिरदार (चरित्रवान) नेक स्वभाव और बहुत ही पुरकशिश शख़्सियत के मालिक थे। मेरी वालिदा भी क़रीबन पचास-पचपन बरस से लिख-पढ़ रही हैं। वे अपने ज़माने में समाजी और इस्लाही (सुधारक) उपन्यासकार की हैसियत से बहुत ही मक़बूल रही हैं। ये गिनती की उन मुसलमान औरतों में हैं, जिन्होंने आज से चालीस साल क़ब्ल (पूर्व) उत्तरी हिंदुस्तान में परदा छोड़कर क़ौमी और तालीमी कामों में बड़ी लगन से हिस्सा लिया।

वालिद साहब के अज़ीज़ स्कूल के साथियों और क़रीबी दोस्तों में वह लोग शामिल थे, जिन्होंने मुल्क की सियासी और तहज़ीबी तारीख़ को अपनी शख़्सियतों से रौशन किया। उन सबका ज़िक्र मैं बचपन से अपने घर में सुनती आई थी। मुल्क के बहुत-से अज़ीम विद्वानों, शिक्षाविदों शायरों की धुंधली-धुंधली यादें अब भी मेरी याददाश्त में महफ़ूज़ हैं। नामवर लोग और गुमनाम सीधे-सादे इंसान, जगमगाती हुई अज़ीम शख़्सियतें, मुंकसिर (विनम्र) मिज़ाज



मर्द और औरतें। उन सबका हुजूम मेरे चारों तरफ़ रहा। बचपन में ज़ेहनी और अकेली सच्चाई तथा इंसान-दोस्ती की अहमियत मेरे वालिद ने मुझे अच्छी तरह ज़ेहन-नशीन (याद) करा दी थी। इसलिए आगे चलकर जब ज़िंदगी के चंद भयानक मोड़ मेरे सामने आए, तो मैं अपने-आप से किसी तरह का समझौता न कर सकी।

नौकरी के सिलसिले में हर तीसरे साल वालिद साहब का एक जगह से दूसरी जगह तबादला होता रहता था। उनमें से बाज़ मुक़ामात बेहद अनोखे थे। मैं अलीगढ़ में पैदा हुई और अंडमान के टापुओं में होश संभाला। चारों तरफ़ समन्दर था, नारियल के झुंड और गहरा सन्नाटा। अंडमान के टापुओं के बाद उत्तर प्रदेश के पिछड़े पूर्वी ज़िलों और ख़ामोश पहाड़ी मुक़ामात! दस-बारह साल की उम्र तक मैंने बहुत-से शहर देखे। कई समुंदरी सफ़र किए। विदेश भी गई। बचपन की यादों का एक फ़ानूस है, जो मेरी याददाश्त में झिलमिलाता रहता है।

मैं अक्सर बीमार रहती थी या वालिदा का ख़्याल था कि बीमार रहती हूं। इस वजह से बाक़ायदा तौर पर स्कूल कभी नहीं गई। बचपन ज़्यादातर अकेले गुज़रा, क्योंकि मेरे इकलौते बड़े भाई मुझसे उम्र में सात साल बड़े हैं। मैं दिन-रात बाग़ में आम के पेड़ों के नीचे झूला करती और कहानियां बुनती रहती। मेरी दिलपसंद कहानी या दिन का ख़्वाब यह था कि मैं एक बेहद ग़रीब किसान की लड़की हूं (हमारे माली की दस साल की बेटी रामदई इस बारे

में मेरा आदर्श थी) और मैं अपना छोटा-सा बुकचा संभालकर उस कोठी में आई थी, और यहां नौकर हो गई हूं। सबकी नज़र बचाकर मैं अक्सर फ़र्श पर उकड़ूं बैठ जाती और गप्पदड़ की नक़ल में एक हाथ पर रोटी रखकर खाने की कोशिश करती और इसके बाद अपने कानवेंट जाती और आइरिश टीचर से प्यानो बजाना सीखती।

तभी से मैंने कहानियां लिखनी शुरू कीं। पहली कहानी शायद सात साल की उम्र में लिखी थी, जो मुझे अब तक याद है कि इस तरह शुरू होती थी, "रात के बारह बजे थे। काठ-गोदाम के स्टेशन पर कुली लालटेन लिए इधर-उधर दौड़ते-फिरते थे!" हीरोइन शायद मेरी गुड़िया थी, जो खुद ही टिकट ख़रीदकर पांच-पांच चलकर ग़लत ट्रेन में बैठ गई थी।

मैंने शुरू में लिखा है कि मुझे सच्चाई और ईमानदारी का सबक़ बहुत शिद्दत से पढ़ाया गया है। हमारा खानदान अपनी जागीरदाराना रिवायात के बावजूद ख़ासा दकियानूसी था। यह लोग मार्क्सी भी थे और पुरानी क़द्रों से मुहब्बत करने वाले भी। ईमानदारी के सिलसिले में मुझे बचपन का एक वाक़िया याद आ गया। देहरादून में हमारे बाग़ में बेहद नफ़ीस लीचियां थीं। वालिदा साहिबा ने मना कर दिया था कि लीचियां छूना भी नहीं। खांसी हो जाएगी, लिहाज़ा मैं गरमियों की सुनसान दोपहर में सुर्ख़-सुर्ख़ लीचियों से लदे हुए पेड़ों के नीचे अकेली खेला करती और कभी यह ख़याल भी न आता कि एक लीची तोड़कर चख लूं।

इस शदीद ईमानदारी की वजह से बड़ी होकर मुझे बड़ी सख़्त मुसीबतें उठानी पड़ीं। सियासी लफ़्ज़े-नज़र, कल्पनाओं, ज़ाती ताअल्लुक़ात (संबंधों) के सिलसिले में, जहां कहीं थोड़ी चालाकी और धोखाधड़ी, कामन-सेंस की ज़रूरत पड़ी, वहां मैं हमेशा बोलने पर तुली रही और नतीजे में खूब जूते खाए।

मेरी दूसरी आदत, जो शऊर (चेतनावस्था) आने पर पक्की हो गई, यह मेरे ज़ेहनी तजज़िए (मानसिक विश्लेषण) की थी। जज़्बात, वाक़ियात, मसाइल यानी हर चीज़ का-

यह क्यों है?

यह क्या है?

ऐसा क्यों होता है?

अभी मुझे ज़िंदगी से मुक़ाबला करने की अक़्ल भी नहीं आई थी कि अचानक मौत मेरे सामने आ खड़ी हुई। अप्रैल, 1943 में मेरे वालिद का साया मेरे सिर से उठ गया।

1947 में हिंदुस्तान का विभाजन हुआ। वालिद के इंतक़ाल के बाद यह मेरे लिए दूसरा ज़बरदस्त जज़्बाती हादसा था। मैंने अफ़साने सन् 1944 से लिखने शुरू कर दिए थे। विभाजन के सदमे ने 1947 के आख़िर में साढ़े उन्नीस साल की उम्र में मुझसे 'मेरे भी सनमख़ाने' लिखवाया था, जो मेरा पहला नॉवेल था और जिसे आज भी उर्दू के चंद अच्छे नॉवलों में शुमार किया जाता है। उसके बाद मैंने जो कुछ लिखा, वह इस सदमे के ज़ेरे-असर लिखा। ज़ेहनी जलावतनी ने मुझे बहुत परेशान किया। उन्नीसवीं सदी के अदीबों के लिए मसला सिर्फ़ जमालियाती तसव्वुर (सौंदर्यपरक कल्पना) का था। आज के अदीबों के लिए यह मसला सियासी बन चुका है। सार्त्रे ने एक जगह लिखा है कि अदीब इसलिए लिखता है कि तख़्लीक़ में एक चीज़ का रिश्ता दूसरी चीज़ से क़ायम कर सके, लेकिन आज के दौर में अदीब और दुनिया के दरम्यान बहुत-सी चीज़ें दीवार बना दी गई हैं। कार्ल मार्क्स का यह ज़ाविया-ए-निगाह है कि इंसान समाज की एक इकाई है वह उससे अलग नहीं रह सकता और उसका यह कहना है कि इंसान बुनियादी तौर पर अकेला है। इन दोनों परम्परविरोधी दृष्टिकोण ने सारे आधुनिक अदब को प्रभावित किया है। उर्दू अदब में व्यक्तिगत या सामूहिक कल्पनाओं में बंटकर तुलनात्मक काम जारी रहा।

लेकिन मेरे सामने मसला अभिव्यक्ति की समस्या का था। मैंने मुहब्बत, नफ़रत, मज़हब, कट्टरपन और बेरहमी के बारे में बहुत ग़ौर किया। इंसान की इंसान की जानिब बेरहमी, इंफ़रादी और इज्तिमाई तौर पर! इज्तिमाई बेरहमी के साथ तक़्सीम का मसला फिर सामने आ गया। मुल्क तक़्सीम क्यों हुआ? क्या यह तक़्सीम तारीख़ी हैसियत से अनिवार्य था? इस सवाल ने मुझे फ़लसफ़ा-ए-तारीख़ की तरफ़ खींचा। इसका जवाब देने की कोशिश में एक नावेल 'आग का दरिया' लिखा। दरिया को ज़माने का सिंबल बनाकर मैंने तीन हज़ार साल पर फैली हुई और उलझी हुई हिंदुस्तानी तारीख़ में से हिंदुस्तानी शख़्सियत की अज़मत को गिरफ़्त में लाने की कोशिश की।

इंसान अक़्ली हैसियत से बराबर सफ़र में है। पहले मुझमें एक तरह का दानिशवराना घमंड था। अब मुझमें एक तरह की दानिशवराना विनम्रता आ गई है। पहले मैं 'समझती थी कि मेरी आंतरिक और बाहरी शख़्सियत शायद ग़लत है। शख़्सियत अपने-आपको समझाने के लिए हमेशा बेताब रहती है, मगर कुछ नहीं समझा पाती। हम सब अलग-अलग टापुओं-द्वीपों पर बैठे हैं। चारों तरफ़ एक नामालूम रहस्य का, जिसे ज़िंदगी कहते हैं, एक अंधेरा ख़ौफ़नाक ठाठें मारता हुआ समन्दर है। हम अल्फ़ाज़ के ज़रिए दुनिया से अपना संबंध क़ायम करना चाहते हैं, मगर ज़िंदगी और ज़्यादा उलझ जाती है। शायद सार्त्रे ने ही कहा है कि हर लफ़्ज़ हमारी उस हार का इक़रार है कि हम अपने-आपको समझ नहीं सकते।

शायद मुझे रोमांटिक समझा जाएगा। यह सही भी है, क्योंकि मुझमें 'क्लासिकल आदर्शों' की अफ़सोसनाक हद तक कमी है।

लिखने में माहौल मेरा ख़ास किरदार है। उनके अल्फ़ाज़ ऐसी अनुभूतियां, जिन्हें कोई नाम नहीं दिया जा सकता, कमरे की टोन, आसमान के रंगों की कोई झलक, खिड़की के बाहर झुके हुए पेड़ का एक पत्ता, माहौल, हालात, वक़्त, घने जंगल, पहाड़, नदियां! यह सब मेरे लिए नाटक में हिस्सा लेते हैं। ख़ास तौर पर इसी वजह से दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी बंगाल ने मुझ पर जादू कर रखा है। वहां के घने जंगलों, वहां की नदियों, वहां के पहाड़ों में छुपे हुए किसी घर की एक झलक ने मुझे तरह-तरह की कहानियां सुनाई हैं।

जहां तक इंसान का संबंध है, मैं उन्हें बहुत ज़्यादा नहीं समझ पाई। इंसान आसानी से समझ में आने वाली चीज़ भी नहीं। मेरे लिए नाक़ाबिले-हुसूल साबित हुआ है। शायद इसलिए मेरी कहानियों में अच्छी किरदार-निगारी नहीं होती। हर इंसान की शख़्सियत के अंदर कितनी तह-दर-तह शख़्सियतें हैं, कितने पहलू, कितने अनदेखे और अजनबी राज़ हैं। मेरे लिए मर्द और औरत ऐसी परछाइयां हैं, जो मेरे सामने से गुज़रती हैं। मैं निहायत ख़ुश होकर अपने-आपको यक़ीन दिलाती हूं कि मैं उन्हें पहचान सकती हूं, मगर वे परछाइयां सामने से निकल जाती हैं। उनके किसी एक रवैये, मुहब्बत और नफ़रत का तज्ज़ीया (विश्लेषण) करके मैं उनके सारे चरित्र पर कोई फ़ैसला थोप नहीं सकती। हम सब ज़ाती तौर पर अलग-अलग अधूरे सपने हैं। इसी वजह से ज़िंदगी के ज़्यादा गहरे तजुर्बात को, ऐसे तजुर्बात को, जिनकी वजह से दिलो-दिमाग़ और रूह के परख़चे उड़ जाते हैं, अल्फ़ाज़ में ढाल कर पाठक के सामने पेश करना मुमकिन है। फ़नकार ख़ुद अपनी चिता जलाता है। अपनी आग में जलता रहता है और एक दिन उसी में भस्म हो जाता है। अगर इस आग की लपटों की हल्की-सी झलक भी अपनी नख़लीक़ की शक्ल में

दुनिया के सामने आ जाए, तो उसे जलने वाले की ख़ुशकिस्मती कह लीजिए, हालांकि यह ऐसी लंबी-चौड़ी ख़ुशकिस्मती भी नहीं।

मैं बड़ी होकर बहुत-से दोस्तों के दरम्यान घिरी रही हूं और उनकी वजह से मेरी यादों का फ़ानूस तेज़ी से झिलमिलाता रहा है। बहुत-से दोस्त ऐसे हैं, जिनसे बरसों मुलाक़ात नहीं हुई और न शायद कभी हो, मगर ऐसा लगता है, जैसे वे पास ही मौजूद हैं और अक्सर यह भी महसूस हुआ कि सच्ची कुर्बत (सान्निध्य) और सच्ची दोस्ती की चंद घड़ियां ऐसी अनोखी और ग़ैर-हक़ीक़ी हैं कि शायद ज़िंदगी में उनकी कोई जगह नहीं। वह बहुत जल्द ख़त्म हो जाएंगी और कभी वापस न आएंगी और ऐसा ही हुआ।

1952 में मेरा दूसरा नावल 'सफ़ीना-ए-ग़मे-दिल' (जो ख़ासा बोगस था) छपा, तो मुझसे किसी ने कहा था कि तुम अपने नॉवलों में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाती हो, मगर हक़ीक़त में बच्चे की तरह ख़ौफ़ज़दा हो। मैंने ज़िंदगी और खोखलेपन पर जी भर के क़हक़हे लगाए हैं और जी भरकर रोई भी हूं। मुझे बहुत-सी खुशियां भी मिली हैं और बहुत-से भ्रम भी। मैं खुश होती हूं, तो सारी दुनिया की खुशी में अपने-आपको शामिल कर लेती हूं, लेकिन दुख मौत की तरह एक ऐसा तजुर्बा है कि जिसमें कोई दूसरा शरीक नहीं हो सकता। हम अपनी लाशें कंधों पर उठाए घूम रहे हैं। हमारे सामने अपनी-अपनी सलीबें अलग-अलग पड़ी हैं और हम उनसे बराबर कर्ब (पीड़ा, दर्द) पाते रहते हैं। अल्फ़ाज़ इस हक़ीक़त को अपनी गिरफ़्त में कैसे ले सकते हैं?

पिछले साल मैंने एक नया नॉवल लिखना शुरू किया। मैं चौदह बरस बाद अपने गांव गई, जो उत्तर प्रदेश में तराई के क़रीब है। यहां हमारे पुश्तैनी मुहल्ले में तालाब के किनारे मेरे पुरखों की बनाई हुई हवेली खड़ी थी, जो सन 47 के बाद धीरे-धीरे ढह गई। अब उसके खंडहर बाक़ी हैं। उसकी ईंटों में लंबी-लंबी घास उग आई है, क्योंकि उस हवेली की मरम्मत करने वाले सब पाकिस्तान चले गए। हमारा ख़ानदानी भाट, जो हमारे यहां शादियों के मौक़े पर दूल्हा का शजरा सुनाया करता था, जो उसे ज़बानी याद थीं, मेरे पास आकर रोने लगा, "सब लोग दूसरे देसा को सिधार गए। मैं अब (भूखों) मर रहा हूं।"

खंडहर का दूसरा रुख़ यह है कि उससे कुछ फ़ासले पर जुलाहों की एक बस्ती थी। अब हवेली के खंडहर से ऊंचे उनके पुख़्ता मकान आस-पास खड़े हैं, और वह अपनी शख़्सियत और सम्मान के अहसास के साथ क़स्बे में सिर उठाकर चलते हैं।

"यह जुलाहिनें अब लेडी हेमलटन के बुर्के सिलवाती है, एक ख़स्ताहाल रिश्तेदार सैयदानी बीबी ने, जो मशीन पर उनके बुर्के सीकर अपना गुज़ारा कर रही हैं, व्यंग्यात्मक लहजे में कहां। जुलाहों के पक्के मकान और उनकी औरतों के लेडी हेमलटन के बुर्के। यह वह ख़ामोश इंक़लाब है, जो पिछले चौदह सौ साल में हिंदुस्तान में आया। एक पतनशील जागीरदाराना तहज़ीब का सूरज डूब चुका और अब एक नए युग की बुनियादें रखी जा रही हैं। उसे सही मायनों में 'समाजवादी समाज' बनाने में कितनी देर लगेगी? मगर यह बड़ी बात है कि एक नए दौर का आग़ाज़ हो चुका है। मैंने उस नॉवल का नाम 'खंडहर' सोचा है। वह खंडहर एक मिटती हुई तहज़ीब की मूर्तियां नहीं, क्योंकि इसी मलबे पर एक नए समाज की बुनियाद रखी जाएगी। लेकिन मुझे उस तहज़ीब के मिट जाने का बहुत दुख भी है, क्योंकि वह पुरानी हिंदुस्तानी तहज़ीब थी, जो अपनी तमाम ख़ामियों के बावजूद पुरानी खूबियों, पुरानी क़द्रों, हिंदू-मुस्लिम एकता और अखंडता की अलमबरदार और नामलेवा थी। लीजिए, मैंने इतने पृष्ठ लिख लिए, मगर बात वहीं की वहीं रही। अपने बारे में क्या लिखूं। सारी ज़िंदगी का हासिल सिर्फ़ चंद लफ़्ज़! ❑

(अफ़कार, करांची, 1962)

संपर्क : सी-35, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015

हमारे गौरव-ग्रंथ



बेगम हज़रत महल का वास्तविक नाम उमराव था। पिता मेहरूद्दीन फर्रुखाबाद के नवाब गुलाम हुसैन के यहां सैन्य अधिकारी थे। उनकी मां मेहर अफ़ज़ा नेपाल की थीं। जब उमराव 13-14 वर्ष की थीं तभी उनके माता-पिता का महामारी में देहांत हो गया। सगे-संबंधियों की देखरेख में रहने के बाद दो स्त्रियों अम्मन और अमान ने उन्हें वाजिद अली शाह के यहां भेजा। 1845 में सत्रह वर्ष की उम्र में वाजिद अली शाह से विवाह कर वह 'महक परी बेगम' बन गईं।

बेगम हज़रत महल किसी राजघराने में पैदा नहीं हुई थी। साधारण कुल की साधारण महिला थीं, लेकिन भाग्य ने उन्हें राजमहलों में बैठा दिया। राजनीति और शाही महलों के दांव-पेंच का उन्हें कुछ भी अनुभव नहीं था, लेकिन परिस्थितियों ने एक दिन अवध का ताज उनके सिर पर रख दिया। युद्ध के बादल चारों तरफ मंडरा रहे थे। परंतु बेगम साहिबा को तो युद्ध का तनिक भी ज्ञान नहीं था। लेकिन महलों में वह कुशल नेत्री बनीं, राजनीति में उन्होंने बड़ों-बड़ों को मात दी। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने वे जौहर दिखाए की शत्रुओं तक ने परदों के पीछे रहने वाली उस वीरांगना का लोहा माना।

प्रस्तुत पुस्तक 1857 के अमर सेनानी-'बेगम हज़रत महल' में उनके प्रारंभिक जीवन, 1857 के स्वतंत्र अवध, संघर्ष तथा नेपाल में बेगम हज़रत महल और उनकी सेना की जटिल कहानी को विस्तृत रूप से दर्शाया गया है। पुस्तक की खूबसूरती उसमें दिए गए चित्रों से और भी बढ़ जाती है।

बेगम हज़रत महल : लेखक : के. सी. यादव, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, द्वितीय संस्करण (2013), पृष्ठ संख्या : 127, मूल्य : 105 रुपये (पेपरबैक)

साक्षात्कार

स्त्री-विमर्श को फ़ार्मूला-विमर्श न बनाएं

वरिष्ठ साहित्यकार **चित्रा मुद्गल** *से* ***इम्तियाज़ अहमद आज़ाद*** *की बातचीत*

प्रश्न-आपको लगता है कि महानगरों में, लोगों को एक-दूसरे का हाल-चाल पूछने की परंपरा खत्म होती जा रही है ?

उत्तर-महानगर की महा ज़िंदगी में से आत्मीयता की ऊष्मा, उस ऊष्मा का गुनगुनापन और उसकी सुगंध खत्म होती जा रही है, जिसको लेकर मुझे बहुत चिंता हो रही है। वैसे भी मेरे अनुसार महानगर की आत्मीयता (प्रायोजित आत्मीयता) लगती है। इस महानगर की महा असंवेदनशीलता हमें हरगिज मंजूर नहीं है। विकास की प्रक्रिया में विकासशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, उसको हम सींचते जाते हैं किंतु हमारे भीतर का पानी सूखता जाता है। पश्चिमी देशों का अंधानुकरण विकासशील देशों के लोगों को रोबोट में बदलने की एक प्रक्रिया जान पड़ती है ।

इस संबंध में जहां तक लेखक का सवाल है तो मैं कहूंगी कि जिस प्रकार अमृतलाल नागर रोज़ाना अपने चौक पर नियत समय पर लोगों से मिलने के लिए उपस्थित रहते थे, ठीक वैसी ही आत्मीयता हर लेखक के लिए जरूरी है।



साहित्यकार जिन मूल्यों तथा नैतिकता की स्थापना अपनी रचनाओं में करते हैं, अपने वास्तविक जीवन में उन मूल्यों तथा नैतिकता का कितना पालन करते हैं ?

कुछ साहित्यकार तो यह कहते हैं कि हमारा काम विचार करना है, उसका क्रियान्वयन नहीं। किन्तु मेरा मानना है कि सिर्फ विचार से ही तब्दीली नहीं आती। लेखकों का काम सामाजिक समस्याओं और लोगों की परेशानियों को केवल कागजों और किताबों में चित्रित करना ही नहीं है बल्कि उसका समाधान सुझाना और हल भी ढूंढना चाहिए। मेरा मानना है कि आंदोलन में बहुत दम है। अतः लेखन कार्य, नौकरी और घर की जिम्मेदारी निभाते हुए हो सके तो उसमें हिस्सा लेना चाहिए और यदि जरूरत पड़े तो लोगों को अपना कंधा देना चाहिए तथा अपनी रोटी भी बांटनी चाहिए।

ज़मीन से जुड़े रहना लेखक के लिए बहुत आवश्यक है, आप क्या सोचती हैं ?

जी हां, बहुत जरूरी है। सिर्फ विचार पर विचार करने से काम नहीं चलेगा। जब तक वे जमीन से नहीं जुड़ेंगे इस समाज का भला नहीं होने वाला। स्त्री और पुरुष को समदृष्टि से देखने और लैंगिक भेद मिटाने के लिए भी उन्हें आगे आना चाहिए और इसकी भी शुरुआत अपने ही घर से होनी चाहिए। आदर्श का प्रदर्शन मात्र करने से काम नहीं चलेगा।

नारी-मुक्ति आंदोलन और स्त्री-विमर्श से क्या महिलाओं का कुछ भला हो सका है ?

जी हां, महिलाओं का भला जरूर हो सकता था और हुआ भी है। लेकिन जब इसे घरों के बीच बंटवारा करके किया जाता है तो मैं उस विमर्श को तरजीह नहीं देती। जब स्त्री की स्मिता, स्वतंत्रता, स्वायत्तता, स्वाधिकार की बात की जाती है तो मैं कहती हूं कि इस संबंध में सिर्फ स्त्री के निचले हिस्से की बात न की जाए बल्कि स्त्रियों से जुड़े 80 फीसदी अन्य मुद्दे हैं जिन्हें समाज में होना चाहिए। धड़ के नीचे की स्वतंत्रता और यौन इच्छाएं जीने की स्वतंत्रता स्त्री-स्वातंत्र्य की पाश्चात्य अवधारणा है। इससे स्त्रियों का कुछ भी भला नहीं होने वाला है क्योंकि प्राचीन काल से लेकर आज तक पुरुषों के परस्त्री-गमन से ही महिलाओं का ज्यादा नुकसान हुआ है। और यदि किसी 'विमर्श' या 'मुक्ति' के बहाने महिलाएं भी वही काम (अपनी इच्छानुसार परपुरुष-गमन) करने लगें तो यह (जैसे को तैसा) वाली बात हो गई। यदि कोई ऐसे आंदोलनों के बहाने उन्हें यह सीख देता है तो मैं कहूंगी कि "स्त्रियों तुम्हें बरगलाया जा रहा है।" मेरा कहना है कि स्त्रियां शिक्षा का उपयोग और अपने भीतर की विचारशीलता का सदुपयोग कर महिला सशक्तिकरण की बात करें जिस तरह महादेवी वर्मा, इस्मत चुग़ताई, कुर्रतुलऐन हैदर, किरण बेदी, मृणाल पांडेय आदि ने किया और जिन पर हमें गर्व है। मैं यह भी कहना चाहूंगी की स्त्री-विमर्श को सुविचारित और सुचिंतित ढंग से रखिए इसे 'फार्मूला-विमर्श' मत बनाइए।

महिला लेखन से स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में कितना परिवर्तन आया है?

बहुत परिवर्तन हुआ है। लेकिन लेखक-लेखिका के साथ-साथ सामान्य स्त्रियों को भी सोचना होगा। जहां महादेवी वर्मा ने 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' लिखा वहीं उन्होंने यह भी लिखा कि 'आओ हम सब मिलकर झूलें, पेंग बढ़ाकर नभ को छूलें'। उनकी इन पंक्तियों को पढ़कर लगता है कि उनके भीतर का पानी खदबदा रहा है। गुलशेर खां शानी ने 'काला जल' लिखा जो रचना स्त्री-विमर्श के अंतरप्रकोष्ठों में ले जाती है। जगदम्बा प्रसाद का 'मुर्दाघर' स्त्री-विमर्श पर आधारित महान औपन्यासिक रचना है। जो लोग अपना परिवार छोड़कर या परिवार के साथ रहते हुए दिल्ली, मुम्बई या लंदन में काम करते हैं उन्हें अपने परिवार के लिए समय निकालना होगा वर्ना स्त्री-विमर्श की बात बेमानी होगी।

औरत को सिर्फ देह मानने का विचार पूंजीवादी व्यवस्था का बाज़ारवाद है, आप क्या सोचती हैं?

मैंने पूंजी के विस्तार में स्त्री देह की भूमिका पर आधारित एक उपन्यास 'एक जमीन अपनी' लिखा है जिसमें मैंने दिखाने की कोशिश की है कि आखिर स्त्री अपने लिए किस तरह की जमीन और किस तरह का समाज चाहती है? जिस संभ्रांत और दिखनौते समाज के कुचक्र में फंसकर वो अपने अस्तित्व के मूल प्रश्नों से टकरा रही है, वो उसे कहां ले जा रहा है? ऐसा तो नहीं कि वो अनजाने ही एक सुनियोजित धोखे में अपने को डालकर जिस तरह साहस और संघर्ष का प्रदर्शन कर रही है, वे उसकी नासमझी से स्वयं उसे ही दांव पर लगा रहे हों? इसमें विज्ञापन की उस दुनिया की कहानी भी है जहां समाज की इच्छाओं को पैना करने के औज़ार तैयार किए जाते हैं। ग्लैमर से विभ्रमित कर देने वाली इस दुनिया में जितना हिस्सा पूंजी का है, शायद उससे कम हिस्सेदारी नारी और उसकी देह की नहीं है। इस नए सत्ता-प्रतिस्ठान में स्त्री अपनी देह और प्रकृति के माध्यम से बाज़ार के लुभावने संदेश को ही उपभोक्ता तक नहीं पहुंचाती, बल्कि परदे के पीछे एक बड़ी वर्क-फोर्स भी स्त्री से ही बनती है।

'अमुक लेखिका बहुत बोल्ड लेखिका है'। आपकी दृष्टि में इसका क्या अर्थ है ?

मेरा मतलब साहसिक और निर्भीक रूप से लिखने से है कि कोई कितने अच्छे ढंग से, कितनी ताकत और मेहनत से लिख रहा है या लिख रही है। कुछ लेखिकाएं इसका अर्थ दैहिकता से लगाती हैं और अपने लेखन में उसी तरह का अश्लील वर्णन करती हैं। इस तरह वो पटरी के साहित्य को स्थान दिलाना चाहती हैं। उनके देखने का नज़रिया संकीर्ण होता है। कुछ पाठक और समीक्षक भी इन्हीं को बोल्ड कहते हैं।

लेखन के क्षेत्र में क्या कोई शार्ट-कट है ? जैसाकि हाल में देखने में आया है कि कुछ महिलाएं अचानक उभरकर साहित्य-जगत में छा जाना चाहती हैं।

जी नहीं, लेखक बनाना इतना आसान नहीं है जितना कि कुछ लोग सोचते हैं। इस क्षेत्र में सिर्फ हवा-हवाई से काम नहीं चलनेवाला बल्कि जमीनी हकीकत भी जरूरी है। लेखकों को लांच करने का काम बंद किया जाना चाहिए। किसी भी नवोदित रचनाकार को सपना दिखाना ठीक नहीं है, बल्कि उससे कहना चाहिए कि 'पहले जमकर लिखो'।

जिन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में हम आज जी रहे हैं उनमें एक कथाकार या लेखक का क्या दायित्व बनता है ?

सन 1962-63 की बात मुझे याद आ रही है जब चाचा नेहरू टूट चुके थे। हम लोग हिंदी का क्लिट्ज पढ़ते थे। मुंबई में तब हिंदू-मुस्लिम के झगड़े उतने नहीं थे। एक तथाकथित सेना के आने के बाद वहां का माहौल ज्यादा खराब हुआ। देखते ही देखते वहां मुस्लिम क्या दक्षिण-भारतीय, उत्तर-भारतीय सभी लोग उपेक्षा के शिकार हो गए। कमोबेश आज यही स्थिति पूरे देश में है अर्थात् जातिवाद और क्षेत्रवाद हर जगह संक्रामक रोग की तरह व्याप्त है। जाति और धर्म पर आधारित क्षेत्रीय दलों ने इसमें और अधिक इजाफा किया है। ऐसे में एक लेखक का दायित्व और बढ़ जाता है। अपनी लेखनी के द्वारा लेखक को इसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए और देश में सांप्रदायिक सौहार्द कायम करने हेतु हमेशा प्रयासरत रहना चाहिए। मेरा मानना है कि जब भी कोई विचार किसी उत्कर्ष के लिए क्रियान्वित किया जाता है तो वह हथियार बन जाता है लेकिन उसमें दूसरे के उत्कर्ष का शमन नहीं होना चाहिए। हथियार रक्षात्मक हो, आक्रमणात्मक नहीं, तभी इस देश और समाज का भला हो सकता है ।

दलित एवं शोषित वर्ग का आपने हमेशा पक्ष लिया है, अपने लेखन में भी और वास्तविक जीवन में भी।

दलित एवं शोषित वर्ग को समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए मेरे पास कोई खास फार्मूला नहीं है किंतु इतना जरूर कहूंगी कि यदि दलित व शोषित वर्ग को मुख्यधारा से जोड़ना है और उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाना है तो उनके साथ रोटी-बेटी का व्यहार होना चाहिए। मेरे हिसाब से 'दलित-टोला' जैसा अब कोई नाम नहीं होना चाहिए साथ ही अब हमें 'दलित' शब्द को भी भूल जाना चाहिए तथा एक समन्वयवादी समाज की स्थापना हमारी सोच होनी चाहिए।

'आवां' आपका सबसे चर्चित एवं प्रसिद्ध उपन्यास है जिसका अनुवाद अनेक भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में हो चुका है और अनेक पुरस्कार भी मिले हैं। क्या मुंबई में रहते हुए आपके ट्रेड यूनियन से जुड़े होने का, यह परिणाम है?

दरअस्ल मैं ट्रेड यूनियन से बहुत कम समय के लिए जुड़ी रही। श्रमिक परिवारों से मेरा लंबा नाता रहा। हमारे घर के अहाते के बाहर चारों ओर मजदूर बस्तियां फैली हुई थीं। ट्रेड यूनियन जो कभी व्यवस्था से लड़ने के लिए बनी थी आजादी के इतने वर्षों बाद आज क्या वर्तमान विकृत, भ्रष्ट स्वरुप धारण करके स्वयं एक समान्तर व्यवस्था नहीं बन गई...? यह उपन्यास मैंने सन नब्बे के आस-पास 'नियोगी हत्याकांड' से उद्वेलित होकर लिखा। मुझे लगा कि मजदूर नेता नियोगी का कोई निकट सहयोगी अपनी क्षुद्र स्वार्थ-सिद्धि के लिए पूंजीपतियों का मुख़बिर बन गया जिसको कि कुसुमाबाई तथा नियोगी के संबंधों और गतिविधियों की पूरी जानकारी थी कि कौन, कब, और कहां जाता और रहता है...आदि-आदि। यही सब देख-सुनकर मुझे बेहद अफ़सोस हुआ और परिणामस्वरूप इस तथाकथित महान उपन्यास की रचना हुई।

आप अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से जुड़ी हुई हैं, बहुत व्यस्त रहती हैं, फिर भी लिखती रहती हैं।

मेरा नया कहानी संग्रह जल्द पाठकों के समक्ष होगा। लेकिन दस साल बाद यह दस कहानियों का संग्रह आ रहा है। इतना जरूर कहूंगी कि यदि आप करना चाहें तो सब काम हो जाते हैं। जहां तक मेरे लिखने का सवाल है तो अक्सर मैं रात को लिखती हूं, 'बस रात की नीरवता हो और मैं रहूं।'

आजकल क्या कुछ नया लिख रही हैं ?

जी हां, 'पोस्ट बाक्स नं. 203, नाला सोपारा'।

आपके द्वारा लिखी गई अब तक की सबसे अच्छी कहानी ?

मैंने अब तक कोई अच्छी कहानी नहीं लिखी, शायद अब लिख पाऊं। क्योंकि मेरे लेखन में उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। बाकी पाठकों की सत्ता सर्वोपरि है, वे जिसको चाहें सर आंखों पर बिठाएं और जिसको चाहें नकार दें।

आपकी पहली प्रकाशित कहानी?

अक्टूबर 1964 को प्रकाशित कहानी 'सफेद सोनारा' 'नवभारत टाइम्स' के मुंबई संस्करण में, चित्रा ठाकुर के नाम से।

चित्रा यदि लेखिका न होती तो चित्रकार होती ?

शायद चित्रकार बन जाती। लेकिन उसकी पेंटिंग्स किसी ने ख़रीदा ही नहीं, इसी वजह से उस क्षेत्र में ज्यादा कोशिश नहीं की। वैसे यह बहुत महंगा शौक है। ❑

संपर्क : आर-16, नफ़ीस रोड, जामिया नगर, नई दिल्ली-110025

धर्मशास्त्र एवं वर्तमान समाज में नारी की स्थिति

स्त्री-पुरुष एक ही सत्ता के दो रूप हैं। उनमें से किसी एक का अपना अलग एवं पूरा व्यक्तित्व नहीं है। स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का पूरक अंश है। जब यह अंश भिन्न-भिन्न होकर अपनी अलग सत्ता बनाने की भूल करते हैं तभी समाज में विघटन तथा विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, बता रही हैं पद्मश्री ***नाहीद आबिदी***

कन्या या पुत्री नारी जीवन की आधारशिला है। समाज के विकास में इसका वही महत्त्व है, जो किसी सुंदर, सुदृढ़ भवन के निर्माण में नींव का होता है। समाज रूपी भवन में कमनीयता, पवित्रता एवं दृढ़ता लाने के लिए आवश्यक है कि कन्या, पुत्री या दुहिता कहलाने वाली नारी के उस स्वरूप को सम्यक् रूप में संवारा जाए, जो अपने जन्मजात गुणों और संस्कारों के कारण 'कन्या कमनीयाभवति' जैसे तथा 'पुण्य कापि पुरन्ध्री' 'नारि कुलैक शिखामणिः' जैसे सम्मान को प्राप्त करती है। 'कन्या' शब्द का प्रयोग वेदों में कई स्थान पर 'कन्येव तन्या शाशदाना' तथा 'मर्यामेव कन्या शश्वदेतें'[2] आदि रूप में परिभाषित किया गया है तथा कन्या के समानार्थी शब्द भी अनेक स्थान पर मिलते हैं। महाभारत में 'कन्यातीर्थमनुत्तमम्' करते हुए यहां तक कहा गया है कि कन्या तीर्थ में स्नान करने वाले को हजार गोदान का फल मिलता है।

भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के नाम के साथ देवी लिखने और संबोधित करने की परंपरा आदि काल से चली आ रही है। यह इस बात का प्रतीक है कि हिंदू विचारधारा में नारी को देव श्रेणी की सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृति पर जब भी जिस किसी रूप में संकट आया, भारतीय नारी ने उसके संरक्षण का मौन व्रत लिया और उसे पूर्ण किया। उसकी रचनात्मक क्षमता उसे निश्छल प्रेम और निरंतर सृजन की हर अजस्र स्रोतास्विनी बनाती है। उसके कार्य, रूप और स्थितियां सीमित नहीं, विविध रही हैं। इसका प्रमाण उसके लिए प्रचलित वे विभिन्न नाम हैं, जो भिन्न-भिन्न अर्थों को द्योतित करते हैं।

जैसे नर की सहधर्मिणी के रूप में वह नारी है। 'नारी' शब्द की एक व्याख्या न + अरि के रूप में भी की गई है अर्थात् जिसका कोई शत्रु नहीं, जो सब के प्रति शुभ मैत्रीभाव रखती है। पुरुषों का मान अर्जित करने के कारण 'मेना' है। पुरुषों को अपने अनूठे योगदान से गौरवान्वित करने के कारण वह 'योषा' या 'योषिता' कहलाई। सौंदर्य का उसमें विस्तार है इस कारण वह 'वामा' कहलाई। हृदय को द्रवित करने के कारण 'सुंदरी' तथा चित्त में मुदिता वृत्ति का संचार करने के कारण 'प्रमदा' कहलाई। घर का शृंगार होने से वह 'भामिनी' तथा पहीयसी पूज्या होने से 'महिला' कहलाई। ललित आकांक्षाओं की जीवंत प्रतिमा होने से 'ललना' तथा गृह की सूत्र संचालिका होने के कारण गृहिणी कहलाई। परिवार में जीवन और प्रसन्नता का स्रोत एकमात्र गृहिणी है। उसके बिना घर भयंकर जंगल के समान होता है, ऐसा धर्मग्रंथों में शास्त्राकारों ने कहा है-न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते/ गृहं तु गृहिणीहीन कांतारादति रिच्यते। अपनी भूमिकाओं के अनुरूप उसे देवी, साम्राज्ञी, अन्नपूर्णा, जननी, माता, जगन्माता जैसी उपयुक्त संज्ञाओं से सर्वथा उचित ही अभिहित किया जाता रहा है। शास्त्रों में कहा गया है कि परमात्मा ने सृष्टि सृजन की इच्छा की, और उसने अपनी सत्ता को दक्षिण व वाम दो भागों में विभक्त कर दिया। दक्षिण भाग पुरुष और वाम भाग नारी है। हिंदू दर्शन इस आख्यान के साथ प्रारंभ से ही नारी को परमेश्वरी मानता है। इतनी उत्कृष्ट श्रद्धा नारी के प्रति शायद ही किसी देश, जाति और संस्कृति ने व्यक्त की है-स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह/ स्त्री रूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमानच्छस्मृतः।।[3]

समाज के दो प्रधान अंग हैं। पुरुष और नारी। पुरुष में जिन गुणों का अभाव रहता है, उसे नारी अपने सदाचार से पूर्ण करती है। पुरुष घर के बाहरी कार्यों का संपादक है और नारी घर के अंतरंग कार्यों की व्यवस्थापिता मानी गई है। कष्ट में पति को पत्नी की सांत्वना निःसंदेह बेजोड़ औषधि है, जिसके फलस्वरूप पुरुष पुनः पुरुषार्थ हेतु संबल जुटाता है। सत्य तो यह है कि पुरुष उस पर ब्रह्म की तरह तब तक निष्क्रिय रहता है, जब तक उसे प्रकृति रूपी नारी गतिशील होने की प्रेरणा नहीं देती। यही कारण है कि नारी को शक्ति, भक्ति और गति माना गया है। दया, करुणा, क्षमा की स्रोत नारी समाज की शक्ति है, माता-पिता तथा बड़ों के प्रति भक्ति है और जगन्नियंता की सृष्टि संचालन में गति है। नारी का आदर्श अपने स्वामी के प्रति निष्ठारूप में, संतान के प्रति स्नेह रूप में दुखियों के प्रति करुणा रूप में, शत्रु के प्रति क्षमा रूप में एवं संपूर्ण संसार के प्रति जगद्धात्री के रूप में प्रकाशित है।

स्त्री-पुरुष एक ही सत्ता के दो रूप हैं। उनमें से किसी एक का अपना अलग एवं पूरा व्यक्तित्व नहीं है। स्त्री पुरुष का और पुरुष स्त्री का पूरक अंश है। जब यह अंश भिन्न-भिन्न होकर अपनी अलग सत्ता बनाने की भूल करते हैं तभी समाज में विघटन तथा विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। समाज का सम्यक् विकास करने के लिए नारी का विकास आवश्यक है। शरीर का आधा अंग ठीक बना रहे और आधे अंग पर पक्षाघात का प्रभाव रहे तो भला ऐसा शरीर किसी के क्या काम आ सकता है! समाज रूपी पुरुष की ऐसी अपंग दशा में उसका उत्थान संभव नहीं है। समाज का सम्यक् विकास तब ही संभव है जब स्त्री-पुरुष दोनों का विकास एक साथ हो।

प्राचीन काल में यह नियम था कि कोई भी यज्ञ, हवन या धार्मिक कार्य बिना पत्नी के सहयोग के नहीं किया जा सकता था। अनेक स्त्रियां तो ज्ञान और भक्ति की दृष्टि से आगे बढ़कर पुरुषों का मार्ग दर्शन करती थीं। आवश्यकता पड़ने पर वे देश-रक्षा और समाज संचालन के कार्यों में नेतृत्व भी करती थीं। वैदिक काल और रामायण तथा महाभारत काल में सुभगा, सुशीला, काम्या, कुल्पा और रास्ना नारी को समाज आदर देता था।[4] उस समय उपदेश केवल नारी के लिए ही नहीं अपितु पुरुष के लिए भी कुछ आदर्श निर्धारित थे, जिनका पालन उसके लिए अनिवार्य था। दानशील होना पुरुष के पौरुष का सूचक था। दो नारी रखने वाले पुरुष को हेय दृष्टि से देखा जाता था। ऐसे आदर्शहीन पुरुष की तुलना वेदों में रथ के धुरों के बीच शब्द करने वाले पशु के साथ की गई है।[5] रामायण में पुरुष के लिए कहा गया है कि एक पत्नीव्रत का पालन करने वाला निष्पाप, आस्तिक व्यक्ति ही शासन में पदाधिकारी की नियुक्ति पा सकता है।[6] पुराणों में कहा गया है कि जो पुरुष निर्दोष कुलांगना धर्मपत्नी का त्याग करके पराई स्त्री में

आसक्त होता है वह पुरुष दूसरे जन्म में स्त्री-योनि में जन्म लेकर विधवा होता है-यः स्वनारी परित्यज्य निर्दोषां कुल संभवम् ।/परदाररतोहि स्यादन्यां वा कुरूते स्त्रीयाम् ।।/सोन्य जन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत् ।। [7]

धर्मशास्त्रियों ने स्त्री के साथ पद-पद पर सहयोग और सम्मान करने का निर्देश दिया है तथा उसी आधार पर परिवार में सुख, शांति एवं सुव्यवस्था की स्थापना को संभव बताया है। 'योग वशिष्ट' में कहा गया है कि संसार की समस्त नारियां माता तुल्य हैं। उनका तिरस्कार होने से कुलदेवी रुष्ट हो जाती है। इन सब उदाहरणों के आधार पर भारतीय संस्कृति में नारी के स्थान को आसानी से समझा जा सकता है किंतु इन आधारों पर आधारित मान्यताएं वर्तमान समाज में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। वर्तमान समाज में विवाह प्रथा में इतने दोष आ गए हैं कि जिसका दुष्परिणाम स्त्रियों को भोगना पड़ रहा है। प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। उस समय बाल विवाह तथा अनमेल विवाह नहीं होते थे। कन्याओं को विवाह के समय अपने पति के चुनाव के संबंध में स्वयं अधिकार था, स्वयंवर होते थे तथा क्षत्रियों में गंधर्व विवाह की प्रथा थी। यही कारण था कि उस समय भारतीय समाज सब प्रकार से शक्तिशाली था तथा आंतरिक और बाह्य स्थिति सुदृढ़ थी। आज समाज में कन्या के विवाह में दहेज न दे सकने के कारण कितने माता-पिता अपनी कन्याओं का विवाह नहीं कर पाते। कन्या जैसे अमूल्य रत्न को प्राप्त करने में जहां ससुराल वालों को अपना सौभाग्य मानना चाहिए वहां वे यह मानते हैं कि हमने किसी की बेटी लेकर उसके ऊपर उपकार किया है और इस उपकार के बदले वे दहेज के रूप में धन, संपत्ति की मांग करते हैं। यदि मांग पूरी न हुई तो उस निरपराध कन्या को अनेक प्रकार से पीड़ित करने लगते हैं। आजकल भारतीय परिवारों में विवाह के पश्चात यदि पुत्री जन्म ले या संतान न हो तो नारी को ससुराल में उपेक्षा, तिरस्कार और अपमान सहना पड़ता है और यदि परिवार संपन्न है तो अपने पुत्र का दूसरा विवाह तक करने का विचार किया जाने लगता है। प्रतिदिन समाचार पत्रों के पृष्ठ नगरों में बढ़ती हुई नारी अपमान व असुरक्षा के संबंध में रंगे रहते हैं। छोटे-छोटे कारणों को लेकर नारी का उत्पीड़न होता रहता है। कन्याओं तथा नारी के शील-सम्मान की बढ़ती हुई असुरक्षा एवं उसकी निर्मम, जघन्य हत्या केवल दिल्ली की ही बात नहीं है सभी क्षेत्रों में ऐसी अनेक घटनाएं विसंगति से बढ़ रही हैं। उसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक सामाजिक समस्या बनती जा रही है।

पिछले पचास वर्षों में समाज में जो कुछ परिवर्तन हुए हैं उनमें नारी जाति की समानता पुरुषों से उत्तरोत्तर आगे निकली है। अब वह घर की चहारदीवारी में बंद रहने वाली गृहस्वामिनी ही नहीं बल्कि समाज के सक्रिय अर्द्धांग के रूप में विकसित तो हो रही है परंतु उसकी सुरक्षा दिन पर दिन कम होती जा रही है। वह अनजाने एक लंबे समय से छली गई है। नारी के प्रति बहुत से व्यवहार उसके विकास के विरुद्ध एक प्रकार के मोहक षड्यंत्र जैसे लगते हैं। यदि लोग अपने स्वार्थ के लिए षड्यंत्र करना बंद कर दें तो समाज विकसित एवं उन्नत हो सकेगा। स्वास्थ सामाजिक जीवन के लिए रचनात्मक एवं प्रतिकारात्मक, दोनों ही कदम आवश्यक होते हैं। समाज की विकृतियों का यदि विरोध एवं विनाश न किया जाए तो वे सामाजिक ढांचे को खोखला बना डालती हैं। अतः समाज की श्रेयस्कर परंपराओं को जहां पोषित किया जाना चाहिए वहीं घातक परंपराओं का उन्मूलन भी करना चाहिए। वर्तमान समाज में उतनी क्षति बाह्य आक्रमणकारियों एवं आततायियों से नहीं हुई जितनी इन कुप्रथाओं द्वारा हुई है। विवाह में होने वाले अपव्यय से लेकर अनेक रीति-रिवाजों ने समाज को खोखला बना दिया है। यह धरती ऐसी है जहां नारी को देवी मानकर पूजा की जाती थी और धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमन्ते तत्र देवता।' जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता वास करते हैं तथा धर्म, समाज और संस्कृति सहित जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तुमने पुरुषों को गौरव प्रदान किया है इसलिए हे नारी हम तुम्हें 'भोषा' के नाम से संबोधित करते हैं।" 'भोषा' जैसे शब्द के संबोधन मात्र से जिस नारी के उपकारों का स्मरण रखने की परंपरा समाज में रही हो आज उसी नारी के सौंदर्य को स्तरहीन आकर्षण का आधार बनाकर विज्ञापनों में घसीट लिया गया है। महान कवयित्री महादेवी वर्मा ने कहा है कि "नारी केवल मांस पिंड की संज्ञा नहीं है। आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सफल बनाकर, उसके अभिशापों को स्वयं झेलकर अपने वरदानों से जीवन में अक्षय शक्ति भरकर उसने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है उसी का पर्याय नारी है।"

वास्तव में नारी को यह दिव्य गुण दिए जाते हैं, जिनके द्वारा वह इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग की सृष्टि कर सकती है। उसके सहयोग में रहकर पुरुष कष्टदायक कार्यों के प्रति भी साहसपूर्वक अग्रसर होता है तथा संसार के कष्टों को हंसते हुए सहन करता है। नारी की मधुर, स्नेह-स्निग्धवाणी मानव जीवन के लिए अमृत का अजस्र स्रोत है। उसके नेत्रों में करुणा, सरलता और प्रेम के दर्शन होते हैं। उसके मृदु हास्य में संसार की समस्त निराशा और कड़वाहट मिटा देने की शक्ति है। उसका संपर्क दुखी हृदय के लिए शीतल छाया है। वह स्नेह और सौजन्य की प्रतिमा है। कवींद्र रवींद्र ने नारी के हास में जीवन-निर्झर का संगीत सुना है। प्रेमचंद जैसे उपन्यासकार ने नारी को पृथ्वी की भांति धैर्यवान, शांत और सहिष्णु कहा है परंतु कुछ लोगों की मानसिकता है कि नारी अबला है। इसका कारण शायद यह है कि उन लोगों ने नारी की कोमलता, सहिष्णुता और अति वात्सल्य भाव को उसकी निर्बलता का चिन्ह मान लिया है। यह पुरुष की समझ का भेद है। इन गुणों के कारण ही नारी सृष्टि के संचालन का कार्य करती है। यदि नारी में यह कोमलता न हो तो वह अपने शिशु का प्यार से पालन-पोषण तथा उसे दुलार देकर उसमें मानवोचित् गुणों का विकास नहीं कर सकेगी। महिला सशक्तिकरण आज के परिवेश की उपज है। महिलाओं ने सभी क्षेत्रों में अपना लोहा मनवाया है। फिर भी कुछ निम्न मानसिकता के लोग पता नहीं क्यों नारी सशक्तिकरण के विरोधी हैं। जब-जब समाज में नारी का समुचित आदर रहा है उसके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास की व्यवस्था रखी गई है तब-तब समाज और संसार समुन्नत रहा है और जब इनके प्रतिकूल आचरण हुआ तो समाज का पतन हुआ।

आज संसार विज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। संसार के समस्त विकसित देशों की नारियां पुरुष के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर आगे बढ़ रही हैं। सब प्रकार के कार्य, कला, कौशल, युद्ध चिकित्सा, राजनीति, व्यापार, शिक्षा, वाणिज्य आदि तथा सरकारी नौकरी एवं शासन-प्रबंध में भी पूरी जिम्मेदारी से कार्य कर रही हैं। यह कहा जा सकता है कि ऐसी विकसित परिस्थितियों में यदि भारतीय समाज नारी वर्ग को समयानुकूल विकसित एवं जागरूक कर, उसे अपमान की जगह सम्मान, तिरस्कार की जगह आदर देकर राष्ट्रीय उत्थान के कार्यों में संलग्न कर ले तो राष्ट्र की प्रगति दुगनी हो जाएगी तथा वर्तमान एवं भविष्य दोनों सुरक्षित हो जाएंगे।

संदर्भ 1. ऋग्वेद, 1/123/10, 2. वही, 3/33/10, 3. वशिष्ठ स्मृति, 4. यजुर्वेद, 38/3, 5. ऋग्वेद, 10/101/11, 6. वाल्मीकि, उत्तर स. 98, 7. स्कंद पुराण, 8. निरूक्त, 3/51/1 ❑

संपर्क : एम. 34, वि.प्रा. कालोनी, शिवपुर, वाराणसी

— स्मरण —

जाना हिंदी कविता की एक बड़ी संभावना का

त्रिनेत्र जोशी

ख़ामोशी और शब्दों की अर्थहीनता ... /कितना अजीब है
सन्नाटे का यह सपाट/ जो सोचने के ढंग तक फैला है
कहने से कतरा कर/ निकल जाते हैं लोग
सन्नाटे के बीच से।

आज के वैचारिक सन्नाटे पर टिप्पणी करती ये काव्य-पंक्तियां कवयित्री मधु शर्मा की हैं, जो अब हमारे बीच नहीं हैं। बीते साल के अंतिम दिन लंबी बीमारी के बाद उन्होंने अंतिम सांस ली। पचास की दहलीज़ छू रही मधु शर्मा का जन्म दिल्ली में हुआ। उन्होंने शमशेर की कविता पर पीएच.डी. का शोध प्रबंध लिखा। शमशेर जी की जन्मशती के अवसर पर 'आजकल', 'आलोचना', 'उद्‌भावना' आदि पत्रपत्रिकाओं में कवि के काव्य और कला पक्ष पर उनके निबंध भी प्रकाशित हुए। फिल्म-निर्देशन एवं अभिनय में डिप्लोमा कोर्स करने के साथ-साथ 'ख़ामोश अदालत जारी है', 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे-अधूरे' आदि नाटकों में अभिनय के ज़रिए कुछ समय वह रंगमंच में भी सक्रिय रहीं। 80 के दशक के मध्य में एक वर्ष तक 'समकालीन भारतीय स्वप्न' नाम की एक पत्रिका संपादित की। इन सारी सक्रियताओं के बावजूद वे अपनी पहली और बुनियादी पहचान कविता में करते हुए 1972-73 से निरंतर काव्याभ्यास करती रहीं। मधु जी के प्रकाशित छह कविता-संग्रह हैं-

बीते वसंत की खुशबू, धूप अभी भी, ख़त्म नहीं होतीं यात्राएं, जहां रात गिरती है, ये लहरें घेर लेती हैं, इसी धरती पर यह दुनिया। मौलिक काव्य-सृजन के साथ-साथ मधु जी ने काव्यानुवाद के क्षेत्र में भी प्रभूत काम किया। 9वीं-10वीं सदी की जापानी कवयित्रियों-ओना को कोमाची व इजुमि शिकिबु, 17-18 वीं सदी की कश्मीरी कवयित्री अरणिमाल, कवि पाब्लो नेरूदा की प्रख्यात काव्यकृति 'ट्वेंटी लव पोएम्स एंड ए सांग आफ डिस्पेयर' तथा स्वीडिश-फीनिश आधुनिक कवयित्री दुआ फोर्स्ट्राम की कविताओं का अंग्रेजी के ज़रिए उन्होंने हिंदी काव्यानुवाद किया और उनका पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ। इसी क्रम में 'शमशेर और नई सदी' नामक एक आलोचना पुस्तक भी उनके नाम दर्ज है।

कवि नरेंद्र जैन ने मधु जी की कविता के आस्वाद पक्ष पर टिप्पणी करते हुए कहा था, ''मधु शर्मा के यहां हम एक ऐसी कविता से साक्षात्कार करते हैं जहां भाषा में कविता का इस तरह घटित होना हमें उम्मीद और विस्मय से भर देता है। उम्मीद यह कि समकालीन कविता परिदृश्य में ये कविताएं अपने स्वभाव और तेवर से कुछ नया जोड़ती हैं और विस्मय यह कि हम अपने चाक्षुष और संवेदनात्मक अनुभवों को समृद्ध होता पाते हैं। एक ऐसी कविता जिसकी ज़मीन में रंगों के बीज पड़े हैं और जहां उदासी एक धुन की तरह बजती रहती है।...''



यहां मधु जी की काव्यकृति 'ये लहरें घेर लेती हैं' को अलग से रेखांकित किया जाना चाहिए। यह संग्रह इस दृष्टि से समग्र आधुनिक हिंदी कविता में एक कारनामा है कि यहां कविता और कला के पारस्परिक संबंधों को तलाशने और समझने की एक डिवाइस विकसित की गई है। इस सचित्र काव्य-कृति में भवेश सान्याल, विनोद बिहारी मुकर्जी, रामकिंकर, अमृता शेरगिल, हुसैन, रज़ा, शूज़ा, रामकुमार आदि तेरह शीर्ष भारतीय कलाकारों और कवि शमशेर की कलाकृतियों को कविता में रूपांतरित किया गया है। कुछ इस तरह कि रूपांतर सिर्फ़ रूपांतर बनकर न रह जाए बल्कि अंतर्संबंधों का अन्वेषण करने के साथ-साथ कविता के रूप में अपनी स्वतंत्र दक्षता भी बनाए रहे। कविता और कलर के बीच आवाजाही की कोशिशें विश्व परिदृश्य में सतत् लक्ष्य की जाती रही है, किंत किसी एक कवि ने किसी एक या कई कलाकारों के काम को आधार बनाकर पूरी एक काव्य-कृति प्रस्तुत की हो, वह भी संदर्भित चित्रों के साथ, इसकी दूसरी मिसाल मुश्किल से ही ढूंढे मिलेगी। प्रसिद्ध आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने उचित ही कहा था, ''इन कविताओं में रंग चुपचाप चलते हैं, समय की उदासी को मूर्त करते। 'ध्वनियों के होंठ खुले हैं'-यह मधु शर्मा का अपना प्रयोग है।'' इस काव्यकृति पर मधु शर्मा को हिंदी अकादमी, दिल्ली ने कृति-सम्मान से नवाज़ा था।

मधु शर्मा निस्संदेह बड़ी संभावनाओं की कलाकार थीं। उनका जाना समकालीन हिंदी कविता की एक अपूरणीय क्षति है। ❑

नारी के अंतरंग और बहिरंग की विश्लेषक

महादेवी वर्मा एकमात्र ऐसी अद्वितीय साहित्यकार हैं जिनकी कल्पना को विशेष अर्थ में स्त्री कल्पना कहा जा सकता है। महादेवी वर्मा का व्यक्तिगत सुख विश्व वेदना में समाविष्ट होकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है तथा व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में घुलता है तो जीवन को अमरत्व प्रदान करता है, बता रही हैं **चम्पा श्रीवास्तव**

छायावाद की सशक्त स्तंभ महीयसी महादेवी वर्मा जहां एक कुशल चित्रकार, उत्कृष्ट शिक्षिका तथा मुखर वक्ता थीं वहीं नारी के संपूर्ण अंतरंग एवं बहिरंग की सफल विश्लेषक भी थीं। उन्होंने समाज के उन व्यक्तियों को अपनाया जिन्हें समाज दीन-दलित समझकर उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उनकी ममता, करुणा और सहानुभूति को प्राप्त करने वाले समाज के सभी दीन-दलित रहे हैं परंतु समाज के द्वारा सताई गई अंतर्मन से घायल दलित, कुचली, बेसहारा, अभिशप्त तथा अशिक्षित किंतु सेवापरायण नारी ही सर्वाधिक अधिकारिणी रही है। महादेवी जी के सारस्वत जीवन में नारी कहीं विधवा तो कहीं बाल विधवा, कहीं अपनों से ही प्रताड़ित तो कहीं अपनों से ही निष्कासित दुखिया के रूप में अभिव्यक्त है। भक्तिन, सबिया, कर्मठ बाला लक्ष्मी, बिबिया, बिट्टो, भाभी, बिंदा, मुन्नू की माई तथा गुंगिया आदि ऐसी नारियां हैं जिन्होंने जीवन के वैषम्य से संघर्ष करते हुए अडिग बने रहने के दुर्लभ मानवीय गुण समाज को सुलभ कराए हैं।



नारी का मन, उसका चिंतन, उसकी समस्याओं तथा मनःस्थितियों का पारदर्शी रेखांकन महादेवी वर्मा के सृजन का प्रेरणादाय पाथेय है। उन्होंने नारी अस्मिता के लिए जो स्नेह निर्झर प्रवाहित किया, वह युगों-युगों तक स्मरणीय रहेगा। शिवमंगल सिंह सुमन के वे शब्द कि "जब साधक साधना करते-करते साध्यमय हो जाता है तो वह संस्कृति बन जाता है।" महादेवी वर्मा नारी लोक की न केवल संरक्षिका बल्कि उनकी सचल संस्कृति बन गई थीं। उन्होंने स्वतंत्रता पूर्व, स्वतंत्रता के समय तथा स्वतंत्रता के पश्चात की ही नहीं अपितु आज तक की नारी की पीड़ा, उसकी पारिवारिक तथा सामाजिक यातनामय ज़िंदगी का निकट से दरस और परस करके उसी रूप में जन-जन के समक्ष उतारने का ही भगीरथ प्रयास नहीं किया अपितु उबारने के लिए भी उन्होंने दीप की तरह तिल-तिल कर अपने को विसर्जित कर दिया।

महादेवी वर्मा की नारी दृष्टि 'शृंखला की कड़ियां' से प्रारंभ होकर जीवन का व्यवसाय, जीने की कला, नारीत्व का अभिशाप, हिंदू स्त्री का पत्नीत्व से होती हुई स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न, युद्ध और नारी, घर और बाहर आधुनिक नारी तथा नए दशक में महिलाओं का स्थान के निर्धारण के शिखर को स्पर्श करती है। नारी जीवन के अनेक पक्षों एवं समस्याओं पर चिंतन करते हुए उसके अधिकारों, घर और बाहर उसकी भूमिका, उसके अर्थस्वातंत्र्य, हिंदू पत्नी की दृष्टि से उसकी स्थिति आदि सभी विषयों पर महादेवी जी ने जितनी मुखर अभिव्यक्ति दी है, वास्तव में अन्यत्र दुर्लभ है।

झूंसी गांव की अहीर जाति की कन्या भक्तिन (मूल नाम लक्ष्मी) जिस बचपन में विमाता के अत्याचारों का तथा विवाहोपरांत जेठ-जेठानियों के दुर्व्यवहारों का शिकार होना पड़ा। यद्यपि इनकी जाति में पुनर्विवाह का कोई बंधन नहीं होता फिर भी स्वयं के स्वाभिमान के रक्षार्थ विधवा भक्तिन पुनर्विवाह कर लेने के दबाव को यह कहकर नकार देती है-"हम कुकरी बिलारी न होय, हमार मन पुसाई तौ हम दुसरे के जाब, नाहिं ते तुम्हार पच्चे की छाती पै होरहा भूंजब और राज करब, समुझै रहौ।" उसके स्वाभिमान की पराकाष्ठा तो उस समय दृष्टिगोचर होती है जब वह पिता की मृत्यु के पश्चात् विमाता के घर में पानी तक नहीं पीती और एक समय वह भी आता है कि भक्तिन केवल अपने स्वत्व के ही रक्षार्थ ज़मींदार द्वारा अपमानित होने पर ससुराल से अलग होकर स्वयं कमाकर पेट भरने के लिए शहर चली जाती है।

महीयसी महादेवी वर्मा की सबिया सावित्री का अपभ्रंश रूप है जो किसी भी रूप में सतीत्व की प्रतीक पौराणिक नारी सावित्री से कम नहीं है। सबिया के चरित्रांकन से महादेवी वर्मा ने यह सिद्ध कर दिया कि निम्न वर्ग में भी उच्च गुणों से युक्त नारियां होती हैं। सबिया का पति दूसरी स्त्री से विवाह कर लेता है और दोनों मिलकर सबिया पर अत्याचार करते हैं। पग-पग पर दोनों उसका शोषण करते हैं किंतु सबिया सब कुछ सहन करती हुई अपने पति के चोरी के अपराध हेतु चोर-पत्नी कहा जाना भी सहन करती है किंतु इसी बात पर संतोष करती है कि मुझे चोर की ही सही 'पत्नी' संबोधन तो मिला।

धोबिन जाति की बिबिया एक ऐसी अभागी नारी है जिसे अपने स्वाभिमान एवं उत्कृष्ट चरित्र के ही कारण निरंतर तिरस्कार तथा अपमान झेलना पड़ा। अकेली रहकर जीवन-यापन करना सामाजिक अपराध होने के कारण बिबिया दूसरा विवाह करती है किंतु दुर्भाग्य कि दूसरा पति जुआरी तथा शराबी निकला। अपने ही पति के मित्र करीम के द्वारा बिबिया को जुए के दांव पर लगाने की बात सुनकर वह आग-बबूला हो जाती है और स्वयं की अस्मिता के लिए सब्ज़ी काटने वाला लंबा चाकू दिखाते हुए 'इसी सब्ज़ी की तरह काटकर फेंक दूंगी' ऐसी धमकी देती हुई वह अडिग खड़ी हो जाती है। उसके स्वाभिमान का परिणाम यह निकलता है कि करीम अपमानित महसूस करता है और रमई को उसके ख़िलाफ़ इतना भर देता है कि वह अपनी पत्नी को कलंकित मानकर घर से निकाल देता है। इस प्रकार वह अनेकानेक

यातनाएं सहती है किंतु अपनी आन और बान पर आंच नहीं आने देती। इसी प्रकार घीसा जो पिता की मृत्यु के छह माह पश्चात जन्म लेता है किंतु अफ़वाह उड़ा दी जाती है कि पिता की मृत्यु के एक वर्ष बाद घीसा का जन्म हुआ और घीसा की मां को अवैध संतानोत्पत्ति हेतु समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। घीसा की विधवा मां कोरियों की परंपरा के विरुद्ध गांव के विधुर तथा अन्य अविवाहित कोरियों के विवाह प्रस्ताव को ठुकराकर आजीवन चरित्रहीनता का कलंक ढोती है किंतु पतिव्रत धर्म के निर्वहन में कोई कमी न लाकर आदर्श भारतीय नारीत्व का दृष्टांत प्रस्तुत करती है। इन समस्त दलित और दमित नारी पात्रों को केंद्र में रखकर महादेवी वर्मा ने गांव के निम्नवर्गीय विशेष रूप से धोबी, अहीर तथा काछी समाज की विडंबनाओं, रीतिरिवाजों तथा रूढ़ियों की यथार्थ स्थिति को उजागर कर यह संदेश दिया है कि मलिन, दीनहीन, दमित तथा दलित नारियों में भी उच्च गुणों से विभूषित निर्मल आत्मा का वास होता है। अपने दारिद्रय से अथक संघर्ष करते हुए अपनी निश्छलता, उदारता, चारित्रिक दृढ़ता तथा हर विषमता में अडिग बने रहने की शक्ति-ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जो महादेवी वर्मा की नारी दृष्टि में सुलभता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

महादेवी वर्मा एकमात्र ऐसी अद्वितीय साहित्यकार हैं जिनकी कल्पना को विशेष अर्थ में स्त्री कल्पना कहा जा सकता है। वे नारी की यथार्थ स्थिति से आहत होकर 'भाभी' रेखाचित्र में लिखती हैं-

वर्तमान युग की भारतीय नारी को कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा है। स्वतंत्र देश की नागरिक होने के कारण आज अपने स्वत्व के लिए उन्हें समाज से याचना करने की आवश्यकता नहीं है। युगों से दलित-दमित रहने के कारण उनमें जो हीनता के संस्कार बन गए थे, उन्हें आधुनिक भारतीय नारी अपने रक्त तथा प्रस्वेद से पूर्ण रूपेण धोने का प्रयास कर रही है।

"प्रायः निराहार और निरंतर मिताहार से दुर्बल देह से वह कितना परिश्रम करती थी, यह मेरी बाल बुद्धि से छिपा न रहता था। जिस प्रकार उसका खंडहर जैसे घर और लंबे-चौड़े आंगन को बैठकर बुहारना, आंगन के कुएं से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और मैले कपड़ों को काठ की मोंगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ़ करना, दिन में भी रसोई की कोठरी के घुटते हुए धुएं से रह-रहकर आता हुआ खांसी का स्वर, कुछ गीली और कुछ सूखी राख से चांदी-सोने के समान चमकदार तथा कपड़े से पोंछकर रखते समय शिथिल उंगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थीं।"

इसी प्रकार सुनसान खंड में अकेली खाट पर लेटी वह बिन्दा जिसकी आंखें गड्ढे में घुस गई थीं तथा मुख दानों से भरकर न जाने किस तरह का हो गया था तथा उस बिट्टो (14 वर्ष के) के करुण क्रंदन को व्यक्त किया है जिससे विवाह कर उसका उद्धार करने का बीड़ा एक 54 वर्षीय बाबा ने उठाया। 'नारीत्व का अभिशाप' में इन्होंने लिखा है-"हिंदू नारी की गौरवगाथा से चाहे आकाश गूंज रहा हो, चाहे उसके पतन से पाताल कांप उठा हो-दोनों का ही इतिहास उसी के आंसुओं से लिखा गया।" (महादेवी का साहित्य, पृ. 281)

'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं' तथा 'शृंखला की कड़ियां' की ही भांति उनके काव्य में भी सृष्टि की गहन अमावस्या के विरुद्ध लड़ने का संकल्प व्यंजित करता है। दुख दग्ध जगत उनकी व्यापक सामाजिकता के अनुपम सत्य हैं। 'दीपशिखा' में वे इसी उद्गार को व्यक्त करते हुए लिखती हैं-सब बुझे दीपक जला लूं/ घिर रहा तम आज दीपक/ रागिनी अपनी जला लूं/ क्षितिज कारा तोड़कर अब/ गा उठी अनंत आंधी/ अब घटाओं में न रुकती/ लास तन्मय तड़ित बांधी।

महादेवी जी उन कवियों में से एक हैं जिन्होंने सामाजिक कार्य करते हुए राष्ट्र की आधी जन-शक्ति अर्थात् नारियों के अंतर में विद्यमान हाहाकार, रुदन एवं दर्द को देखा तथा उसे परखकर दूर करने वाली दृष्टि उत्पन्न की। इसीलिए महादेवी वर्मा के सृजन की वेदना वैयक्तिक न होकर समष्टि का द्योतक बन गई। नामवर सिंह ने शायद इसीलिए इनके बारे में अपनी 'छायावाद' पुस्तक में लिखा है-

"निजी आंसुओं के 'नीहार' में वंदिनी रहने वाली महादेवी ने रश्मि के आलोक में जीवन की व्याप्ति का दर्शन किया और प्रखर ताप को झेलते हुए सांध्य क्षणों तक जाते-जाते समाजव्यापी दुख की अनुभूति करने लगीं। उनकी नीर भरी बदली का दुख केवल प्रणय व्यथा ही नहीं है, उसमें अनेक प्रकार के सामाजिक असंतोष घुले-मिले हैं।" (छायावाद, पृष्ठ 136)

महादेवी जी की दुखात्मक अनुभूति बौद्ध धर्म भावित होने के कारण उनका दुख और पीड़ा आर्यसत्य के रूप में विश्व व्याप्त दुख-पीड़ा और हाहाकार में रूपांतरित हो जाता है। उनके काव्य में प्रयुक्त 'तम' शब्द आभ्यंतर 'तम' के साथ-साथ सामाजिक तथा आर्थिक 'तम' का पर्याय है जिसके नाश के बिना सुखद प्रकाश असंभव है। उनके काव्य में अंतः प्रवाहित करुणा उनके रचनात्मक गद्य का ही वस्तुविन्यास है। उनकी शब्द तूलिका ने केवल पात्र को रूपायित नहीं किया अपितु सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी उसकी मर्मव्यथा का उद्घाटन किया है। भारतीय समाज के गरीब, अभावग्रस्त, परित्यक्त, निष्कासित, असहाय मानव का जो उद्वेलित करने वाला प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वही प्रताड़ित के प्रति करुणा और निष्ठुर समाज के प्रति आक्रोश भी पैदा कर देता है। 'स्मृति की रेखाएं' की 'बिबिया' के एक शब्दचित्र से यह बात सिद्ध हो जाती है-

"बिबिया के शरीर पर घूसों के भारीपन के स्मारक के गुम्मड़ उभर आए थे, लकड़ी के आघातों की संख्या बताने वाली नीली रेखाएं खिंच गई थीं और लातों की सीमा नापने वाली पीड़ा जोड़ों में फैल रही थी। उस पर द्वार का बंद हो जाना उनके लिए क्षमा की परिधि से निर्वासित हो जाना था। वह अंधकार में अदृष्ट की रेखा जैसी पगडंडी पर गिरती-पड़ती, रोती-कराहती अपने नैहर की ओर चल पड़ी। झनकू को पति का कर्त्तव्य सिखाने के लिए कभी पंच देवता भी आविर्भूत नहीं हुए पर बिबिया को कर्त्तव्यच्युत होने का दंड देने के लिए पंचायत बैठी।" (स्मृति की रेखाएं, पृ. 97)

महादेवी वर्मा का व्यक्तिगत सुख विश्व वेदना में समाविष्ट होकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है तथा व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में घुलता है तो जीवन को अमरत्व प्रदान करता है। 'शृंखला की कड़ियां' में इन्होंने लिखा है-"स्त्री किस प्रकार अपने हृदय को चूर-चूर कर पत्थर की देव प्रतिमा

पृष्ठ 71 पर जारी

तीन कविताएं : **सुधा अरोड़ा**

यात्रा पर औरत

यात्रा पर निकलने से पहले
जी हौल कर ऊपर आता है
कुछ तो है जिसे रखना भूल गई हूं
अफ़रा-तफ़री में दस बार टटोलती हूं -
टिकट, अपना आई डी प्रूफ़, मफ़लर, मोज़े ....
सभी कुछ है आंखों के सामने
फिर भी कुछ तो है जो छूटा जा रहा है !

एक औरत ही ऐसी शै है
जो तीन चौथाई ही जाती है यात्रा पर
अपना एक चौथाई हिस्सा घर की दीवारों के
बीच छोड़ आती है
कौन कहता है ईंट-गारे की दीवारों से भला
कैसा राग
औरत ही कर सकती है प्रेम-दीवारों से,
सांकलों से
जाते-जाते कहती है अपने उस एक चौथाई से
जो उढ़के हुए दरवाज़े के बीच
सहमा सा बैठा है
राह तकना ! लौट कर मिलती हूं.....

सपने में सपना

हर दूसरे दिन सपने में देखती हूं ,
ट्रेन छूटने का समय हो रहा है
और सामान अब भी
सूटकेस से बाहर फैला है
कभी निकलने को होती हूं तो टिकट का
प्रिंट आउट नहीं मिलता
कभी गाड़ी ट्रैफिक जैम में फंस जाती है
और घड़ी की तेज़ी से आगे सरकती सुई
गले की फांस बन जाती है !

बदहवासी के चरम पर सपना आंखें खोलता है
सपने में इसके सपना होने का एहसास
बोलता है ....
रुकी हुई सांस अपनी मुंदी हुई
आंखें खोलती है !
पर रात को आने से कौन रोक सकता है
इस धारावाहिक सपने की अगली क़िस्त से
डर लगता है !

क्या कोई ऐसा रास्ता है
कि आधी रात को ख़लल डालते
इस धारावाहिक की अगली कड़ी को
स्थगित किया जा सके ?

मांएं धरती से बड़ी !!

आख़िर मैं कब आई होऊंगी तुम्हारे भीतर
गर्भ में धरने से पहले
क्या तुमने धरा होगा अपनी आत्मा में मुझे
जैसे धरा होगा तुम्हारी मां ने तुम्हें
और उनकी मां ने उन्हें
और एक अटूट परंपरा स्त्रियों की
वहां तक जहां बनी होगी
दुनिया की पहली स्त्री

तुमने मुझे क्यों जना मां
क्या एक चली आ रही परंपरा का निर्वाह
करना था तुम्हें
या फैलना था एक नए संसार तक
और फिर देखना था अपने-आप को मुझमें

तुम्हें देखती हूं,
अब भी वैसे ही संवारते हुए घर
सुबह-सुबह हाथ में लिए एक डस्टर
अपनी कमर की मोच में भी
पिता को चाय का कप थमाते हुए
देखती हूं तुम्हें
आंखों की उदासी में देखती हूं
और अपने दांतों के बीच
विचरती हवा में महसूस करती हूं तुम्हें
लिखना चाहती हूं ढेर सारा जीवन लगातार
लेकिन अपनी ख़ामोशी में देखती हूं तुम्हें

क्या इसीलिए होती हैं मांएं धरती से बड़ी
कि हर कहीं उपस्थित रहें और बोलती रहें
बेलफ़्ज़
सहस्राब्दियों से अनपढ़े आख्यान की तरह
जब भी उन्हें देखो तो झरने लगें ऐसी कथाएं
जो कहने की बाट जोहती रहीं हमेशा
लेकिन जिन्हें कभी कहा नहीं गया

तुम इतनी ख़ामोश क्यों थी मां
क्या इसीलिए इतना बोलती थीं तुम्हारी आंखें
किस भाषा में कहना चाहती थी
तुम अपना दुख
जिसे कभी हम समझ ही न पाए

क्या इसीलिए इतना पसंद था
तुम्हें मेरा लिखना
तुम्हें उम्मीद थी कि लिखूंगी मैं
तुम्हें भी एक दिन
खोजूंगी तुम्हारी पीड़ा के रेशे
मुझे आज़माना चाहती थीं
क्या इसीलिए नहीं छोड़ा कोई भी सिरा
अपने दुख का
जिसे थाम कर मैं आगे की पंक्ति लिखती
बिना कुछ कहे चले गए
अनंत यात्री की तरह

एक बहुत छोटी चौहद्दी में घटी हुई
अंतहीन घटनाएं
लगती हैं इतनी बेतरतीब और बिखरी हुई
कि लगता है बंध ही नहीं पाएगी
कुछ शब्दों में
एक महाआख्यान भी कम पड़ेगा
क्यों मुझे लगता है कि शायद तुम यह
कहना चाह रही थी
शायद यह .... शायद यह .....

हर बार जितना तुम्हें देखती हूं
लगता है, जितना दीखता है
उससे ज्यादा छूट गया है
न उस छूटे हुए को पकड़ पाई कभी
न लिख पाई तुम्हें !!

संपर्क : 1702, सॉलिटेअर, डेल्फ़ी के सामने, हीरानंदानी गार्डेंस पवई, मुंबई-400076

'एक अज्ञात हिंदू औरत' का स्त्री चिंतन

'सीमंतनी उपदेश' को नवजागरण काल का महान ग्रंथ माना गया है। 19वीं सदी में स्त्री चिंतन की नींव 'अज्ञात हिंदू औरत' के चिंतन में देखी जा सकती है। वे 19वीं सदी की महान स्त्री चिंतक थीं। नवजागरण काल में 'सीमंतनी उपदेश' के चिंतन ने स्त्री जागरण का कार्य किया है। उनके चिंतन में स्त्री पीड़ा की सशक्त अभिव्यक्ति मिली है **-सुरेश कुमार**

19वीं सदी को देखने की दृष्टियां अलग-अलग हो सकती हैं। मेरी दृष्टि में 19वीं सदी स्त्री चिंतन की महत्त्वपूर्ण सदी है। 19वीं सदी में स्त्री चिंतन की संपूर्ण वैचारिकी का निर्माण 'अज्ञात हिंदू औरत' ताराबाई शिंदे, पं. रमाबाई और रखमाबाई के चिंतन में देखा जा सकता है। गौरतलब है कि यह वो समय था जब किसी भी स्त्री को पढ़ने लिखने का अधिकार नाममात्र का था। ब्रिटिश काल में स्त्री शिक्षा के लिए जनाना स्कूल खोले गए थे। इन स्कूलों में उच्च घराने की स्त्रियां पढ़ सकती थी। पं. रमाबाई ब्रिटिश भारत की बहुत पढ़ी लिखी महिला थी। इन्होंने अपनी किताब 'द हाई कास्ट हिंदू वूमेन' में स्त्री की समस्या को विश्वस्तर पर उठाया था। पं. रमाबाई ने पितृसत्ता की कटु आलोचना करते हुए विधवा समस्या को उजागर किया था। रखमाबाई स्त्री अधिकारों की कानूनी लड़ाई 19वीं सदी के अंत में लड़ रही थी। रखमाबाई ने बाल विवाह को ना मानते हुए उस समय अपने पति दाद भाकाजी के साथ जाने से इंकार कर दिया था। यह रखमाबाई का असाधारण विद्रोह और स्त्री अधिकारों के लिए लड़ी गई इतिहास की महत्वपूर्ण लड़ाई कही जा सकती है।

इस लेख में 'अज्ञात हिंदू औरत' के चिंतन पर विचार किया जाएगा। 'अज्ञात हिंदू औरत' 19वीं सदी की एक मजबूत स्त्री चिंतक थीं। उन्होंने अपनी किताब 'सीमंतनी उपदेश' में स्त्री की प्रत्येक समस्या को उठाया है। इस किताब को सर्वप्रथम मुंशी कन्हैया लाल अलखधारी ने 2 फरवरी 1882 में प्रकाशित की थी। इतिहास के पन्नों में गुम 'सीमंतनी उपदेश' पुस्तक को खोज कर लाने का श्रेय प्रख्यात विचारक डॉ. धर्मवीर को हैं। डॉ. धर्मवीर ने 106 वर्ष बाद अपने संपादन में सन् 1988 में पुनः प्रकाशित किया था।

'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका ने पुस्तक में अपना नाम में नहीं दिया है। इस लिए लेखिका को अज्ञात हिंदू औरत कहा जाता हैं। 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका कौन थी ? डा. धर्मवीर ने लेखिका के नाम, जन्म स्थान को लेकर बड़े गंभीर शोध किए हैं। डा. धर्मवीर लेखिका के संबध में जानकारी देते हुए लिखते हैं, "इस गुमनाम लेखिका के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह एक हिंदू औरत थी। एक हिंदू के रूप में सारी हिंदू औरतों की बात कह गई है। इसमें यह भी बात सच होनी चाहिए कि लेखिका किसी धनी घर की बेटी रही है। यह बहुत पढ़ी-लिखी रही है। इसने स्मृतियों और अन्य धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है।"[1]

डा. धर्मवीर ने लेखिका को 'माई भगवती' से जोड़कर देखा है। "मैं अज्ञात हिंदू लेखिका को सन् 1890 की 'माई भगवती' से जोड़ना चाहता हूं।"[2]

वे इस निश्कर्ष पर केनेथ जोन्स के तथ्यों के आधार पर पहुंचे हैं। प्रख्यात आलोचक वीरभारत तलवार अपनी पुस्तक रस्साकशी में 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका को हरदेई से जोड़कर देखा है। इन्हीं हरदेई ने सन् 1988 में 'भारत भगिनी' पत्रिका निकाली थी। वीरभारत तलवार लिखते हैं, "क्या यह मुमकिन है कि हरदेई ही वह 'अज्ञात हिंदू औरत' रही हों ? वैचारिक दृष्टि से यह सबसे ज्यादा संभव है, पर तथ्यों की दृष्टि से इसमें एक ही रुकावट लगती है-1882 में ऐसी किताब लिखने के लिहाज़ से हरदेई की उम्र बहुत कम रही होगी।"[3]

19वीं सदी में स्त्री समस्या पर कुछ सुधारवादियों का ध्यान जरूर गया था। लेकिन इनके सुधारवाद में स्त्री की कई महत्वपूर्ण समस्या नदारद थी। अपने चिंतन में 'अज्ञात हिंदू औरत' यह बता रही थीं कि हिंदू समाज सुधारक उनकी समस्या पर कतई ध्यान नहीं देते हैं। जब उन्हें यह लगने लगा कि उनकी समस्या को कोई सुनने वाला नहीं है, तो उन्होंने स्त्रियों की रिहाई की गुहार ईश्वर से लगाई। वे लिखती हैं-"हे परमेश्वर, हमारी फरियाद को सुन। हम मज़लूमों की फ़रियाद पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हमने इस हिंदुस्तान में चारों तरफ पुकार-पुकार और रो-रो के हरेक के सामने फरियाद की, लेकिन किसी ने हमारे बावैले पर कान न धरे, न पलक उठाकर देखा।"[4]

19वीं सदी में नवजागरण हो रहा था लेकिन स्त्री समस्या की तरफ सुधारवादी ध्यान नहीं दे रहे थे। स्त्री पर अत्याचार और जुल्म अपने चरम पर था। लेखिका ने अपने चिंतन में यह कह रही थी कि हजारों साल से स्त्री की समस्या की तरफ किसे ने ध्यान नहीं दिया हैं। वे लिखती हैं-"मुद्दत से हिंदुओं के दिमाग़ जहालत की अंधेरी चल रही है। उससे जुल्म की गर्द उड़-उड़ कर हमारे ऊपर पड़ती है। जैसे कोई मकान बहुत देर तक गर्द पड़ने से दब जाता है उसी माफिक हमारी हालत है।"[5]

लेखिका अपने समय का बहुत बड़ा सच कह दिया है। स्त्री समस्या इतनी जटिल हो गई थी कि अज्ञात हिंदू औरत की पीड़ा किसी घटनाक्रम से कम नहीं थी। उन्होंने ईश्वर से फरियाद की है कि इस जेलखाने से तू मुझे कब मुक्त करेगा। वे लिखती हैं-"हे पिता, हमें कब इस जेलखाने से निकाल कर आजाद करेगा? तेरे दरबार में हमेशा इंसाफ ही होगा लेकिन इन जन्म-दुखियों के वास्ते कैसी बेइंसाफी है-अपराध कोई करे दंड हमें मिले।"[6] 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका ने स्त्री शोषण के विरुद्ध बिगुल फूंक रखा था। वे पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता ठीक तरह से समझ रही थीं। लेखिका यह भी जानती थी कि स्त्रियों की मदद के लिए पुरुष नहीं आने वाले हैं। वे लिखती हैं, "जैसे पत्थर में आवाज़ असर नहीं करती वैसे हिंदुओं के दिमाग में कौमी हमदर्दी ने ज़रा सा असर ना किया।"[7]

लेखिका ने ब्राह्मणवादी शास्त्रों और उपदेशों को स्त्री गुलामी का कारण माना है। लेखिका लिखती हैं, "हिंदुस्तानी ब्राह्मणों के उपदेश से जन्म से लेकर

मरण तक इसी गफ़लत की नींद में हमारी तरफ़ से सोए पड़े हैं। इन लोगों के बहुत वावेला करने से ज़रा कुलबुला उठते हैं। फिर उसी ग़फ़लत की नींद में सो जाते हैं।''[8]

यह सोचने की बात है, लेखिका के समय में नवजागरण हो रहा था लेकिन इसी जागरण काल में लेखिका की समस्या की तरफ किसी समाज सुधारक का ध्यान क्यों नहीं गया? स्त्री-पुरुष दोनों ही इस समाज की धुरी हैं। लेखिका कहती हैं पुरुष की समस्या हल हो जाने से यह नहीं मान लेना चाहिए कि स्त्री की समस्या का समाधान हो गया है। लेखिका इस देश की तरक्की पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए लिखती हैं-''हिंदुस्तान ने विद्या के क्षेत्र में बहुत तरक्की की है और बहुत इल्म हासिल किया है, बेशक माना। फिर हमें क्या, एक के खाना खाने से दूसरे का पेट नहीं भरता है। हमारी तरफ से वही हालात है जो हज़ार वरस से पेश्तर थी।''[9]

लेखिका ने नवजागरण के समाज सुधारकों की पोल खोल रखी थी। इस देश के लोगों ने चाहे जितनी शिक्षा हासिल कर ली हो, लेकिन स्त्री समस्या का जब कोई समाधान नहीं मिला तो स्त्री के लिए यह नवजागरण किस काम का है। ऐसा भी नहीं है कि 'अज्ञात हिंदू औरत' को समाज सुधारकों पर विश्वास नहीं था। जिन समाज सुधारकों ने स्त्री समस्या को उठाया है लेखिका ने उनके नाम अपनी किताब में गिनाए हैं-इनमें मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, पंडित शिवनारायण अग्निहोत्री, राय नोवीन चंद और दयानंद सरस्वती का लेखिका ने शुक्रिया अदा किया है। लेखिका इनके बारे में लिखती हैं, ''इन लोगों ने बहुत तरह से साबित किया है कि औरतों को भी इंसान समझना चाहिए। इनको हैवानियत के रुतवे से निकालकर इंसानियत का ख़िताब देना चाहिए।''[10]

सर्वविदित है कि स्त्रियों को ज़ेवर का शौक बहुत होता है। वे ज़ेवर का अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक मानती हैं। इसका वर्णन वे अपनी किताब में करती है। 'अज्ञात हिंदू औरत' अपने चिंतन में स्त्री के ज़ेवर प्रेम को पिछड़ी मानसिकता का प्रतीक मानती हैं। 'अज्ञात हिंदू औरत' लिखती हैं-''ज़ेवर के बराबर स्त्रियों को कोई चीज़ प्यारी नहीं। वाप, भाई, पति, लड़का किसी का इतना मोह नहीं। चिंतन ज़ेवर का है।''[11]

लेखिका बताती हैं कि स्त्री के लिए ज़ेवर से बढ़कर कोई चीज नहीं होती है। यह प्रवृत्ति उनमें बचपन से ही देखी जाती है। बचपन से लड़कियां घास-पत्ते के ज़ेवर बनाकर पहनती हैं। यदि ससुराल से ज़ेवर कम मिला तो ये उम्र भर अपने पति को ताना देती रहती हैं। लेखिका ने कई उदाहरण देकर बताया है कि स्त्रियां किस प्रकार से ज़ेवर के लालच में फंसकर अपना जीवन बर्बाद करती हैं। कई वार ऐसा देखा गया है कि ज़ेवर के शौक के चलते परिवार के लोगों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इतना ही नहीं कई बार पति-पत्नी का रिश्ता इस ज़ेवर के शौक के चलते टूट जाता है। यदि पति किसी कारणवश ज़ेवर की फ़रमाइश को पूरा नहीं कर पाया तो स्त्रियां उसे ताने देती हैं। 'अज्ञात हिंदू औरत' का मानना है कि स्त्री कभी ज़ेवर से तृप्त नहीं होती है। वे लिखती हैं, ''स्त्री अपने ज़ेवर से तृप्त नहीं होती''। वह हर ख़ाविंद को ताने दिया करती है-''क्या तुमने सवा लाख का हार पहना दिया है ?''[12] लेखिका की मानें तो उन्हीं के शब्दों में ''वड़ी से वड़ी लड़ाई पहले-पहल औरत ख़ाविंद के यहां से शुरू होती है और कई औरतों ने इसी ज़ेवर के पीछे अपने ख़ाविंदों को मार दिया है।''[13] अधिकांश स्त्रियों की धारणा यह कि वे ज़ेवर को अपने सुहाग की निशानी मानकर पहनती हैं। यह भी मानकर चलती हैं कि जब तक उनके गलों में ज़ेवर है, तब तक उनके पति को नुकसान नहीं होगा। 'अज्ञात हिंदू औरत' उसका खंडन करती हैं। वे स्त्रियों से पलटकर पूछ लेती हैं-''अब मैं पूछती हूं तुम्हारे वास्ते ख़ाविंद कौन-सी निशानी रखते हैं?'' 'अज्ञात हिंदू औरत' आगे लिखती हैं, ''अफ़सोस है, सुहाग का खूंटा सिर से गड़ा रहे फिर विधवा हो जावे। आपने ऐसी मज़बूती से सुहाग को सिर में जमाया फिर भी उखड़ ही पड़ा। सुहाग की दुम एड़ी तक लटकाई फिर भी कतरी ही गई।''[14]

इतना ही नहीं लेखिका व्यंग्य में कहती हैं, ''अब मैं तुम से सवाल करती हूं कि जब किसी का ख़ाविंद मरता है तब चूड़ी उतारी जाती है। चूड़ियों में तो सुहाग न हुआ। चूड़ियों में सुहाग तब माना जाता कि जब तुम उतारो तभी ख़ाविंद मरता।''[15] ऐसा नहीं कि लेखिका ज़ेवर की विरोधी है। वह ऐसे ज़ेवर को स्त्रियों को पहनने की सलाह देती है जिस ज़ेवर से शरीर को कोई तकलीफ़ न हो। वे लिखती हैं, ''बस चाहिए कि खूबसूरत बिंदी रखो जिससे तुम्हारा सुहाग भी तुमसे खुश हो और अपना बदन भी खराब न हो।''[16]

लेखिका उस पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता को भली-भांति समझती थी। वे पुरुष समाज की पितृसत्तात्मक सोच को स्त्रियों के समक्ष उजागर कर रही थी। वे स्त्रियों से पूछती हैं-''वड़े शर्म की बात है कि इतने ज़ेवर का शौक हो और चार आने की जूती पांव में न हो..... जिसके बग़ैर पांव गाय-बैलों के खुर से भी ज्यादा सख्त हो जाए।''[17]

लेखिका आगे लिखती है, ''आप चाहे जितना जूती से परहेज़ करें फिर भी जूती के नाम से पुकारी जाओगी। तुम चाहे जूती को छोड़ दो जूती तुम्हें जब तक पांव में न पहनो हरगिज़ तुम्हारे सिर को न छोड़ेगी।''[18]

'अज्ञात हिंदू औरत' अपने समय में स्त्रियों की पोशाक पर विचार करती हैं। यह उस समय था जब स्त्रियों को घूंघट में रहने की सलाह तथाकथित पुरुषों द्वारा दी जा रही थी। 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका इस बात के पक्ष में थी कि स्त्री का मुख ढकने के वजाय कपड़े से पूरा शरीर ढका रहे। उस समय की विडंवना थी कि स्त्री को केवल मुंह ढकने भर से उसे कई समस्याओं का सामना करना पड़ता था। लेखिका अपने समय की स्त्रियों से कह रही थी कि अंग्रेज़ स्त्रियों से कपड़े पहनना सीखना चाहिए। वे इस तरह के कपड़े पहनने की सलाह दे रही थीं कि जिन कपड़ों से मुंह छोड़कर स्त्री का सारा बदन ढक जाए। लेखिका के शब्दों में, ''आज हिंदुस्तान अंग्रेजी कोट, पतलून, वूट पहनता है। तुमको भी चाहिए जो तुम्हारे फ़ायदे की चीज हो अंग्रेजी लड़कियों से सीखो। अगर वे मर्द पोशाक से किरानी होने तुम हिंदू भी नहीं रह सकती। इधर तुमको जरूर चाहिए...जिससे बदन ढका रहे हर वक़्त पहनो।''[19] लेखिका स्त्री के लिए बनाई गई धार्मिक वस्त्रसंहिता के ख़िलाफ़ थी। उनका स्पष्ट मानना था कि ऐसे कपड़े स्त्रियों के सिर पर न लादे जाएं जिनसे उनको और उनके शरीर को तकलीफ़ पहुंचती है। उनका यह भी मानना था कि स्त्रियों को तंग कपड़े नहीं पहनना चाहिए क्योंकि ऐसे कपड़े पहनने से शरीर को तकलीफ़ होती है।

'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका स्त्रियों का प्रत्येक दुख समाज के सामने रख रही थीं। यह सोचने वाली वात है कि उस समय के समाज सुधारकों का स्त्री समस्या पर ध्यान क्यों नहीं गया? वे अपने समय के पुरुषों से पूछती हैं इन स्त्रियों को जेलख़ाने में डालकर उन पर जुल्म क्यों किए जा रहे हैं ? वे लिखती हैं, ''ऐ हिंदुस्तानी भाइयों, इन वेचारियों को ग़लीज़ रख जेलख़ाने में डाल आप साफ़ रह वाहर की सैर करो। और फिर इन दुखियों पर शक

रखो। खुदा के सामने क्या मुंह दिखाओगे ?"[20] लेखिका यह भी पूछ लेती हैं कि स्त्री दुख से जीवन काटे और पुरुष सुख से, ऐसा अन्याय क्यों है ? लेखिका लिख रही है, "क्या ये वही हिंदुस्तानी औरतें हैं जिनको ब्रह्म ने अपने आधे अंग से पैदा किया था? अफ़सोस है कि आधा अंग मजे उड़ाए आधा दुख सहे!"[21] लेखिका को इस बात का दुख है कि जिस स्त्री को ब्रह्मवादिनी का ख़िताब मिला है उसे पुरुष समाज चुड़ैल, भूतनी जैसे ख़िताबों से नवाज़ता है। जो पुरुष स्त्री शिक्षा के समथक नहीं हैं ऐसे पुरुषों को लेखिका फटकार लगाती हुई कहती है-"अफ़सोस कैसा हिंदुओं की अक्ल पर पर्दा पड़ गया है कि औरतों को मर्दों के सामने जाने से रोकते हैं।"[22]

'अज्ञात हिंदू औरत' अपने समय में स्त्रियों की पोशाक पर विचार करती हैं। यह उस समय था जब स्त्रियों को घूंघट में रहने की सलाह तथाकथित पुरुषों द्वारा दी जा रही थी। 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका इस बात के पक्ष में थी कि स्त्री का मुख ढकने के बजाय कपड़े से पूरा शरीर ढका रहे। उस समय की विडंबना थी कि स्त्री को केवल मुंह ढकने भर से उसे कई समस्याओं का सामना करना पड़ता था। लेखिका अपने समय की स्त्रियों से कह रही थी कि अंग्रेज़ स्त्रियों से कपड़े पहनना सीखना चाहिए।

लेखिका ने अपने समय में यह भी विचार किया है कि स्त्री को किस प्रकार नष्ट किया जाता है। उन्होंने औरत के खराब होने के नौ कारण बताए हैं। वे लिखती हैं, "दिल में पहले बदख्याल पैदा होते हैं। इसके कई कारण हैं। अव्वल विवाह न होने से, दूसरा बेवा होने से, तीसरा बूढ़े से शादी होने से, चौथा जिसकी छोटे लड़के से शादी हुई हो, पांचवां सास-ननद के बहुत दिक् करने से, छठा खाविंद की बदख़ैलियों से दिल जलकर, सातवां रोटी-कपड़ा न मिलने से, आठवां मुफ़लिसी से, नौवां जो दौलतमंद खुद मुख्तियार हो।"[23] लेखिका अपने चिंतन में पुनर्विवाह की समस्या को उठाती हैं। स्त्री का विवाह उसके बराबर उम्र के पुरुष से ही होना चाहिए। इतना ही नहीं यदि विवाह के बाद पति की मृत्यु हो जाती है तो उस स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार होना चाहिए। लेखिका अपने समय का सच लिखती है, "बस लाचार हो हम बदकाम करती हैं क्योंकि दूसरी शादी हमको करने नहीं देते हैं।"[24] उन्होंने विधवाओं का सबसे बड़ा दुख उजागर करते हुए लिखा है-"पहले हिंदुस्तान में रिवाज था जब कोई मरता उसकी औरत को उसके साथ ज़िंदा जला देते थे। अब अंग्रेज राज में ये रिवाज जाता रहा। मगर विधवाओं का कुछ बसर नहीं हुआ।"[25] वे पुरुष मानसिकता को उजागर करते हुए लिखती हैं-"अफसोस है कि हिंदुओं की अक्ल पर जान-बूझकर अपनी बहू-बेटियों को ऐसे घोर पाप में डालते हैं इससे कभी निकल नहीं सकती हैं।"[26] वे आगे बहुत सख्त शब्दों में लिखती हैं, "यह मर्दानगी नहीं है कि बेचारी नाताक़त जेलख़ाने में पड़ी हुई अपने अधीन हो-उनको मार डालना मर्दानगी तब है जब इनकी रिहायी का कुछ बंदोबस्त करें।"[27]

'सीमान्तनी उपदेश' की लेखिका स्त्रियों से खुद अपनी समस्या का समाधान खोजने की अपील करती हैं। वे जानती थीं कि कोई समाज सुधारक उनकी समस्या का समाधान नहीं करेगा। वे लिखती हैं-"बस अब अपनी ही हिम्मत की कमर बांधो, इन हिम्मतहारों के भरोसे न रहो।"[28] लेखिका की यह कोई छोटी-मोटी घोषणा नहीं थी। वे स्त्री चिंतन को स्वतंत्र होने की सलाह दे रही थीं। यहीं से स्त्री स्वतंत्रता के बीज पड़ने शुरू हो जाते हैं। लेखिका मानती थीं कि स्त्री को पुनर्विवाह कर लेना चाहिए। "अब वही काम करो जिससे धर्म भी न बिगड़े और दुनिया में बदनामी भी न हो और अपनी उम्र भी आराम से गुज़रे। तुम्हारी बेहतरी की यही तकलीफ़ अच्छी है जब दिल इस इंद्रिय विषय को चाहे दूसरी शादी कर लो।"[29] अनुमान लगाया जा सकता है कि लेखिका अपने विचारों से कितनी मज़बूत होंगी। 'अज्ञात हिंदू औरत' आज की स्त्री लेखिकाओं की तरह विवाह के विरोध में नहीं थी। उनका सारा का सारा चिंतन विवाह और परिवार को बचाने के लिए था। वे खुद इस बात के लिए समाज से लड़ रही थीं कि पुनर्विवाह क्यों नहीं होने दिया जा रहा है ? वे लिखती हैं-"शादी करना सत्य है, बदकाम करना सत्य है, शादी करने से परमेश्वर खुश, बदी करने से नाखुश होता है।"[30] वे यह मानकर चल रही थीं कि विवाह में प्रेम होना आवश्यक है। वे लिखती हैं-"स्त्री-पुरुष का रिश्ता रूहानी है। रूह का रिश्ता प्रीति से है। जब तक स्त्री-पुरुष में प्रीत न हो विवाह नहीं।"[31] लेखिका बेमेल विवाह के ख़िलाफ़ थीं। उनका मानना था कि बीस वर्ष के लड़के का विवाह पांच वर्ष की कन्या से नहीं किया जाना चाहिए। लेखिका यह मानकर चल रही थी कि स्त्रियों को विक्टोरिया शासन में जरूर इंसाफ मिलेगा। ऐसा नही मान लेना चाहिए कि लेखिका अंग्रेजों के समर्थन में थी। ऐसा कहने से पहले उसकी पीड़ा की ओर ध्यान जरूर दिया जाना चाहिए।

डा. धर्मवीर ने 'सीमंतनी उपदेश' को नवजागरण काल का महान ग्रंथ माना है। 19वीं सदी में स्त्री चिंतन की नींव 'अज्ञात हिंदू औरत' के चिंतन में देखी जा सकती है। वे 19वीं सदी की महान स्त्री चिंतक थीं। नवजागरण काल में 'सीमंतनी उपदेश' के चिंतन ने स्त्री जागरण का कार्य किया है। उनके चिंतन में स्त्री पीड़ा की सशक्त अभिव्यक्ति मिली है जिसको आगे चलकर पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिन्दे और रखमाबाई के चिंतन में विकास के रूप में देखा जा सकता है। आज की स्त्री लेखिकाओं को 'अज्ञात हिंदू औरत' के चिंतन पर जरूर विचार-विमर्श करना चाहिए।

संदर्भ

1. 'सीमंतनी उपदेश' लेखिका 'एक अज्ञात हिंदू औरत', संपादक डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. ,22
2. वही, पृष्ठ 18
3. 'रस्साकशी' 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, वीरभारत तलवार, सारांश प्रकाशन प्रा. लि., 196-सी, पाकेट-4, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली, पृ. 198
4. 'सीमंतनी उपेदश' लेखिका 'एक अज्ञात हिंदू औरत', संपादक डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 21ए दरियागंज, नई दिल्ली, पृ. 41

5. वही, पृष्ठ 41, 6. वही, पृष्ठ 41, 7. वही, पृष्ठ 44, 8. वही पृष्ठ 44, 9. वही, पृष्ठ 44, 1.. वही, पृष्ठ 47 11. वही, पृष्ठ 47, 12. वही, पृष्ठ 47 13. वही, पृष्ठ 5. 14. वही पृष्ठ 5. 15. वही, पृष्ठ 51, 15. वही, पृष्ठ 51, 16. वही, पृष्ठ 51, 17. वही, पृष्ठ 58- 18. वही, पृष्ठ 58 19. वही, पृष्ठ 59-6. 2.. वही, पृष्ठ 62 21.वही, पृष्ठ 63 22. वही, पृष्ठ 64 23. वही, पृष्ठ 65, 24. वही पृष्ठ 71 25. वही, पृष्ठ 71, 26. वही, पृष्ठ 72 27. वही, पृष्ठ 72, 28. वही, पृष्ठ 73 29. वही, पृष्ठ 73 30. वही, पृष्ठ 75 31. वही, पृ. 1.6 ❑

संपर्क : 68, बीरबल साहनी शोध छात्रावास, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)

स्त्रियों की भाषा और मन्नू भंडारी का कथा साहित्य

मन्नू जी के कथा साहित्य में स्त्रियों की भाषा में सांकेतिकता अत्यधिक दिखाई पड़ती है। उन्होंने जिस यथार्थ को निकट से देखा उसे उतने ही गहरे रूप में अभिव्यक्त भी किया है जिससे उनकी कहानियां एवं उपन्यास अधिक संवेदनशील हो गए हैं, बता रही हैं **कल्पना शर्मा**

साहित्य और भाषा का बड़ा अद्‌भुत संबंध है। बिना भाषा के साहित्य की कल्पना संभव नहीं है। रचनाकार के विचार, उसकी कल्पना, उसके अनुभव एवं भाव ही भाषा का आवरण लेकर साहित्य में आते हैं। सच यह भी है कि बिना भाषा के इनका कोई अस्तित्व नहीं है। चिंतन-मनन से लेकर अभिव्यक्ति तक भाषा ही वह क़िला है जिसमें सेंध लगाकर ही साहित्यकार को फ़तह मिलती है। इस पूरी प्रक्रिया में रचनाकार को गहरा संघर्ष झेलना पड़ता है और पाठक तक उसकी अनुभूति को संप्रेषित करने का यही माध्यम है।

अब सवाल यह उठता है कि क्या स्त्रियों की भी कोई अपनी भाषा होती है? क्या उसका अपना कोई वैशिष्ट्य है? तो हां, स्त्रियों की भी अपनी एक अलग भाषा होती है और यह अलग भाषा केवल स्त्रियों की ही नहीं बल्कि प्रत्येक प्राणी की अपनी एक निज भाषा होती है जो उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को, उसकी मनःस्थिति को, सोच, परिवेश एवं यथार्थ के दबाव को अभिव्यक्त करती है। भाषा ही उसके घर में, समाज में, देश में उसकी हैसियत को स्पष्ट करती है। हिंदी साहित्य जगत में चित्रित स्त्रियों के जीवन, जीवन के प्रति उनके नज़रिए, उनकी सोच एवं संस्कृति में आए परिवर्तन को उनकी भाषा के माध्यम से हम स्पष्ट समझ सकते हैं। भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज है और इसीलिए स्त्रियों की भाषा पुरुषों की भाषा से अपनी पूरी संरचना और संवेदना में बिल्कुल अलग होती है। वे जिन आंतरिक एवं बाह्य परिस्थितियों में अपना जीवन यापन करती हैं वे परिस्थितियां पुरुष समाज से नितांत भिन्न हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था ने स्त्री को सदैव पुरुषों से हेय माना है। भारतीय व्यवस्था में पुरुष समाज ही समाज में स्त्रियों के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा उसके स्तर का निर्धारण करता है। उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, उसे कहां बोलना चाहिए, उसे कहां चुप रहना चाहिए इत्यादि पुरुष समाज ही अधिकांशतः तय करता है। अतः स्त्रियों की भाषा पर उसकी मनःस्थिति, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवेश एवं दबाव का गहरा प्रभाव होता है। उनकी भाषा ही उनकी मनोदशा और मनःस्थिति की वास्तविकता को हमारे सामने प्रकट करती है।



मन्नू भंडारी के कथा साहित्य में स्त्रियों की भाषा जहां एक ओर उनकी ज़िंदगी की विवशता को प्रकट करती है, वहीं दूसरी ओर उनके संघर्ष एवं मुक्ति की छटपटाहट को भी उजागर करती है। उनकी भाषा के माध्यम से उनका पूरा समाज हमारे सामने उभरकर आता है। जब हम स्त्रियों की भाषा की बात करते हैं तो एक बात ध्यान देने योग्य है कि स्त्रियों की भाषा के सवाल को सर्वप्रथम एक स्त्री ने ही उठाया है। स्त्री भाषा के संदर्भ में वर्जीनिया वुल्फ पहली लेखिका हैं जिन्होंने स्त्री भाषा के प्रश्नों को उठाया। उन्होंने सन् 1926 में 'वूमेन एंड फिक्शन' निबंध में सबसे पहले स्त्री भाषा की समस्याओं पर प्रकाश डाला। स्त्री भाषा के विभिन्न पहलुओं एवं समस्याओं पर जिन स्त्रीवादियों ने विचार किया है उनमें वर्जीनिया वुल्फ, एरीगरी, हेलिनी, सिक्साडस, मोनिका विटिंग, सांद्रा गिलबर्ट, सुसान गुबर, दिलयुजी, गुएतरी इत्यादि नाम प्रमुख हैं। इन लेखिकाओं का मानना है कि स्त्रियों की भाषा पुरुषों की तुलना में कमज़ोर होती है। स्त्रियों का स्त्रीत्व उनकी भाषा में भी झलकता है।

मन्नू भंडारी ने अपने कथा साहित्य का सृजन करते हुए अपने समय एवं समाज के सवालों से गहरा संवाद किया है। वे समाज के लगभग सभी वर्ग विशेषकर मध्य वर्ग की स्त्रियों की समस्याओं को बड़ी पैनी नज़र से देखती हैं। भारतीय समाज में स्त्री की क्या हैसियत है और उसे समाज के किन दबावों में अपनी अस्मिता और अस्तित्व को निर्मित करना पड़ता है, यह उनके कथा साहित्य में आए स्त्री पात्रों की भाषा के माध्यम से संप्रेषित होता है। इनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'ईसा के घर इंसान' में 'एंजिला' तथाकथित परंपरागत नैतिक आदर्शों को अस्वीकार करते हुए समाज को चुनौती देते हुए कहती है-"मैं अपनी ज़िंदगी को, अपने इस रूप को चर्च की दीवारों के बीच नष्ट नहीं होने दूंगी। मैं ज़िंदा रहना चाहती हूं। आदमी की तरह ज़िंदा रहना चाहती हूं। मैं इस चर्च में घुट-घुटकर नहीं मरूंगी...मैं यहां नहीं रहूंगी।'

भारतीय समाज की गहरी एवं जटिल आंतरिक संवेदना और द्वंद्वात्मक अनुभवों को संप्रेषित करने के लिए जिस प्रकार की भाषा की आवश्यकता होती है वह मन्नू जी संपूर्ण कथा साहित्य में विद्यमान है। वास्तव में स्त्रियों की भाषा के निर्माण में उनका केवल स्त्री होना ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि उसके स्त्री होने के साथ उसका सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवेश और इनका दबाव इनके एक अलग किस्म की भाषा का निर्माण करता है।

इधर स्वाधीनता के उपरांत स्त्रियों के उपरोक्त परिवेश में बहुत बदलाव आया जिससे उनकी दशा और दिशा दोनों ही प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप भाषा भी बदली। जगदीश्वर चतुर्वेदी स्त्रियों की परिवर्तित भाषा के संदर्भ में कहते हैं "सामाजिक परिस्थितियों का जैसा प्रभाव भावों और विचारों पर पड़ता हैं, वैसा ही प्रभाव उनको व्यक्त करने वाली शैली, व्यंजना के ढंग, शब्द चयन, वाक्य विन्यास आदि पर भी पड़ता है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ भाषा में भी परिवर्तन आते हैं। स्त्रियों की स्वतंत्र भाषा

की मांग आधुनिक काल में उठी...कारण है स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में पहचान का उदय, आत्मनिर्भर छवि का उदय, समानतावादी नज़रिए का विस्तार एवं स्त्री विरोधी संस्थाओं एवं मूल्यों के ख़िलाफ़ संघर्ष की संगठित शुरुआत आधुनिक काल में ही हुई।''

अपने सामाजिक जीवन में स्त्रियां जिस भाषा का प्रयोग करती हैं उस पर परिवेश का गहरा प्रभाव होता है। शहरों में रहने वाली स्त्रियां शहरी भाषा बोलती हैं तथा गांवों एवं कस्बों में रहने वाली स्त्रियां उसी समाज के अनुसार भाषा का प्रयोग करती हैं। भाषा के माध्यम से ही हम यह सहज समझ पाते हैं कि शहरों में रहने वाली आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, स्वतंत्र स्त्री की सोच, मानसिकता एवं व्यवहार तथा गांवों में आर्थिक रूप से दूसरों पर आश्रिता स्त्री की सोच, मानसिकता एवं व्यवहार में कितना और क्यों अंतर होता है? उक्त दोनों विभिन्न परिवेश में जीवन यापन करती हुई स्त्रियां भाषा के ज़रिए उनकी ज़िंदगी की वास्तविकता की पहचान को हमारे सामने उपस्थित करती हैं। मन्नू जी की कहानी 'आकाश के आईने में हम भाषा के माध्यम से ही स्त्रियों की मनःस्थिति एवं विवशता को साफ़ तौर पर समझ पाते हैं। लेखा अपने ससुराल से अलग कलकत्ता में रहती है तथा नौकरी करती है जबकि उसकी जिठानी संयुक्त परिवार में रहती है। जब लेखा गांव जाती है और अपनी जेठानी को अपने साथ घूमने चलने के लिए कहती है तो वह उसके आमंत्रण को अस्वीकार करते हुए व्यंग्य करती है ''तुम्हीं करो नाव के सैर-सपाटे! हमारी किस्मत में तो रसोई के ही सैर-सपाटे लिखे हैं।'' भारतीय परंपरागत संयुक्त परिवार में स्त्री की, विशेष रूप से बहू की क्या स्थिति है, यह स्पष्ट है। वह लेखा को बात-बात में ताने देती रहती है। ''कलकत्ता के सैर-सपाटे छोड़कर कौन इस घनचक्कर में फंसेगा। यह तो हमारे ही खोटे भाग हैं, जो रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह पिले रहते हैं। उक्त कथन से स्पष्ट है कि लेखा की जेठानी अपने जीवन से कितनी दुखी है। उसकी भाषा में उसका असंतोष एवं विवशता साफ़ झलकती है जो इसके मन में लेखा के स्वतंत्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को लेकर है।

भाषा की बाह्य संरचना के साथ-साथ उसका एक आंतरिक ढांचा भी होता है जिसके सांकेतिक रूपों, व्यंजकों और व्यंग्यों के सहारे रचना के उस अर्थ को भी अभिव्यक्ति मिलती है जो मात्र बाह्य संरचनात्मक ढांचे में अभिव्यक्ति नहीं पा सकता है। अतः भाषा का गठन मात्र बाह्य ही नहीं आंतरिक भी होता है, जिसके बिना भाषा में वह जीवंतता नहीं आ सकती, जो किसी भी जीवंत समाज के सभी क्रिया-कलापों को सहजता से अभिव्यक्ति प्रदान कर सके। भाषा एक ओर जहां उस व्यक्ति और समाज के जीवन की वास्तविकता से हमारा परिचय कराती है, वहीं दूसरी ओर उसकी सोच और उसमें आ रहे परिवर्तन की ओर भी संकेत करती है।

मन्नू भंडारी के कथा साहित्य में यह साफ़ है कि अपने अस्तित्व के लिए किए गए प्रयास और पुरुष वर्चस्व की संस्कृति के ख़िलाफ़ किए गए प्रयास के दौरान स्त्रियां जिस भाषा का निर्माण करती हैं, उसका एक सांकेतिक अर्थ भी होता है। वह अर्थ उनके वास्तविक जीवन में उनकी स्थिति, उनकी सोच और समस्याओं की ओर संकेत करता है। मन्नू जी ने अपनी कहानी 'अकेली' में सोमा बुआ के माध्यम से स्त्रियों की ज़िंदगी की जिस मार्मिक तस्वीर को उपस्थित किया है, उससे उनकी दशा का सांकेतिक अर्थ प्राप्त हो जाता है। अपने जीवन और अपने आस-पास के लोगों से वह जिस भाषा का प्रयोग करती हैं वह इतनी भावुकता और मनोव्यथा से भरी हुई है जिससे हम उनकी एवं उन जैसी तमाम स्त्रियों की ज़िंदगी और उससे जुड़ी समस्याओं का अनुमान स्पष्ट लगा सकते हैं।

सोमा बुआ की भाषा में आए यह सुख-दुख के क्षण केवल क्षण नहीं होते, बल्कि उनका अपना एक अलग संदर्भ होता है, जो उनकी वास्तविक सोच एवं संस्कृति को हमारे सामने उपस्थित करता है। 'मैं तो मरदवाली होकर भी बेमरद की हूं' सोमा बुआ के इस कथन में भाषा अपनी पूरी संरचना में उनके जीवन की विसंगति और मार्मिक पक्ष को उजागर करती है। भाषा इस सच्चाई को सामने रखती है कि किस प्रकार भारतीय समाज में स्त्री विभिन्न प्रकार के संबंधों में जीती है और यही संबंध समाज में उसकी हैसियत का निर्धारण करते हैं।

मन्नू जी के कथा साहित्य में स्त्रियों की भाषा में सांकेतिकता अत्यधिक दिखाई पड़ती है। उन्होंने जिस यथार्थ को निकट से देखा उसे उतने ही गहरे रूप में अभिव्यक्त भी किया है जिससे उनकी कहानियां एवं उपन्यास अधिक संवेदनशील हो गए हैं। स्त्रियों की भाषा में आई सांकेतिकता के कारण ही उनका संपूर्ण कथा साहित्य अधिक अर्थपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक हो गया है। कहानी 'बांहों का घेरा' की निम्न पंक्तियों में मन्नू जी ने अतृप्त प्रेम की अभिव्यक्ति की है। ''कम्मो को पूरा चांद कभी अच्छा नहीं लगा। पता नहीं लोगों को इसमें क्या सौंदर्य दिखाई देता है। जो अपने-आप में ही पूर्ण है, जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, कितना संतुष्ट है वह भी और जहां रस नहीं वहां सौंदर्य कैसा? दूज का चांद-पतली अर्द्धचंद्राकार रेखा-मानो किसी को कस लेने के लिए बांहों का घेरा बनाकार बैठा हो'' लेखिका ने कम्मो की अतृप्त प्रेम में छटपटाती भारतीय विवाहित स्त्री की भावनाओं की ओर संकेत किया है। कम्मो को लगता है थोड़े दिनों में दुनिया का सारा रस सूख जाएगा। कहीं तरलता नहीं होगी, सब कुछ ठोस हो जाएगा-एकदम जड़ और शायद तभी उसे इस यातना से मुक्ति मिलेगी। भारतीय समाज में विवाहित स्त्री अपनी समस्त भावनाओं को दबाने के लिए विवश होती है। उसके लिए सब कुछ जड़ है, ठोस है क्योंकि उसका पति उसकी भावनाओं को नहीं समझता। उन दोनों के संबंधों में कोई तरलता नहीं है। भाषा यहां स्त्री जीवन की उस भयावह स्थिति की ओर संकेत करती है, जहां स्त्री के लिए वैवाहिक जीवन यंत्रवत् जीवन है जिसमें भावनाओं की मिठास नहीं है। वास्तव में स्त्रियों की भाषा केवल भाषा नहीं होती है बल्कि उनकी ज़िंदगी की वास्तविकता होती है। इसी प्रकार एक अन्य कहानी 'दीवार, बच्चो और बरसात' में सांकेतिक भाषा में स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व की खोज के लिए शिक्षित स्त्री का संघर्ष स्पष्ट है। मन्नू जी के कथा साहित्य में स्त्रियों की भाषा एक ओर सामान्य जीवन का चित्रण करती है वहीं दूसरी ओर उनके मन में उठ रहे संघर्ष और उसकी प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है।

अतः स्पष्ट है कि स्त्रियों की अपनी अलग भाषा होती है जो उनके जीवन की वास्तविकता को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, जो अपनी पूरी संरचना और संवेदना में पुरुषों की भाषा से बिल्कुल अलग होती है जिसमें उनकी विवशता, निर्णय लेने की अक्षमता, चेतना का अभाव, दर्द, पीड़ा, तनाव एवं संघर्ष की स्थिति झलकती है। मन्नू भंडारी अपने कथा साहित्य में स्त्रियों के जीवन की वास्तविकता को जिस गहरी मार्मिक संवेदनात्मक भाषा में हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं, वह अद्भुत है। उनके स्त्री पात्रों की भाषा उनके जीवन के प्रति नज़रिए और संस्कृति को स्पष्ट करती है, साथ ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उनकी दशा और दिशा दोनों को हमारे सम्मुख उपस्थित कर देती है। ❑

संपर्क : 1319, पूर्वांचल, ज्वाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067

साक्षात्कार

स्त्री को देवी न बनाएं

वरिष्ठ पत्रकार-कथाकार **क्षमा शर्मा** *से* **दिनेश चमोला 'शैलेश'** *की बातचीत*

प्रश्न : **अपने जन्म और लेखन की शुरुआत के बारे में कुछ बताएं?**

उत्तर : मेरा जन्म आगरा में अक्तूबर 1955 में हुआ। मेरी माताजी का नाम श्रीमती केला देवी तथा पिता का नाम श्री राम स्नेही शर्मा था। माता-पिता दोनों बहुत धार्मिक प्रवृत्ति के थे, लेकिन घर में लिखने-पढ़ने का माहौल था। ये सीधे-सादे लोग थे! लड़कियों की पढ़ाई के प्रति वे बहुत सचेत थे, वे चाहते थे उनकी लड़कियां खूब लिखें-पढ़ें। मेरे बड़े भाई डा. रामस्वरूप शर्मा का इसमें बहुत बड़ा हाथ था। पढ़ने-लिखने का माहौल उन्होंने ही दिया। उन पर मैंने अब उपन्यास भी लिखा है 'भाई साहब'। दरअसल, बहुत दिलचस्प किस्सा है मेरे लिखने का। तब मेरी उम्र 18 वर्ष थी। मैं रेडियो सुन रही थी। वह ख़बर यह थी कि यह वर्ष अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष है। यह सुनकर आकाशवाणी के उस कार्यक्रम से प्रेरित होकर मैंने एक लेख लिखा। मुझे कुछ भी मालूम नहीं था, लेख क्या होता है या लिखते कैसे हैं...लेकिन मैंने अपने विचारों को काग़ज़ पर उतारा। वह मैंने प्रकाशन हेतु 'अमर उजाला' को भेज दिया। एक दिन वह लेख 'अमर उजाला' में छप गया। मुझे घर में गुड़िया कहते थे, मेरे बहनोई ने कहा...

"गुड़िया तुम्हारा लेख छपा है 'अमर उजाला' " में। तो मुझे लेखिका बनाने का श्रेय 'अमर उजाला' को ही है। मेरा लेख देख मेरे परिवार वाले बहुत खुश हुए ... विशेषकर मां जी। घर की बैठक में एक दीवान था। माता जी ने वह अख़बार दीवान पर रख दिया। जो भी घर में आते मां जी उन्हें वह लेख दिखाती-पढ़वाती। बहुत खुश होती। मेरे बड़े भाई दिल्ली में थे। देशबंधु कालेज में पढ़ाते थे। वे ही मुझे दिल्ली लाए। उन्हीं के साथ पढ़ाई की। पिताजी की मृत्यु बहुत पहले हो गई थी। उस समय काम करना जरूरी हो गया था। आकाशवाणी में एक कार्यक्रम दिया। उसके प्रसारण से 15 रुपये मिले। तब वे 15 रुपये भी इतने अधिक थे कि पूरे महीने के खर्च के बाद भी एक रुपया बच जाता था।

आपका विधिवत् लेखन कब व कैसे प्रारंभ हुआ? लेखन से नौकरी तक के सफ़र के बारे में कुछ बताएं।

विधिवत् लेखन तो शुरू हो ही गया था। 'नवभारत टाइम्स', 'हिंदुस्तान', 'कादिंबनी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं छपने लगीं। सौ रुपये भी नहीं मिलते थे। लड़कियों के जीवन में अपने घर के बाहर के लोगों की विशेष भूमिका होती है। शरद देवड़ा एक पत्रिका निकालते थे 'अणिमा'। उसमें मेरी कहानी छपी थी। उन दिनों 'सारिका' में छपना बड़ी बात थी। 1979 में 'सारिका' में 'काला कानून' नामक कहानी छपी। उस दिन मेरे बेटे का जन्म हुआ था। फिर तो विधिवत् लेखन शुरू हुआ।

पहली फरवरी 1977 को मेरी नौकरी लगी। न वहां मेरा कोई परिचित था...न मैं किसी को जानती थी। लिखित परीक्षा के बाद साक्षात्कार हुआ। इंटरव्यू में पूछा गया-"आपके पिताजी क्या करते हैं?" गौरीशंकर राजहंस जी ने पूछा था। "मेरे पिताजी नहीं हैं।" मैंने कहा। इस बात का उन पर जाने क्या असर हुआ। उन्हें लगा होगा कि इस लड़की को नौकरी की बहुत जरूरत है। 'हिंदुस्तान' में मुझे बहुत अच्छे लोग मिले। यहां मैंने सब कुछ सीखा। बहुत संस्कारी लोग मिले। आज 'नंदन' की कार्यकारी संपादक हूं।

आज साहित्य में दलित-विमर्श व स्त्री-विमर्श जैसे कई विमर्श चर्चा में हैं। ऐसे में यदि आप से यह पूछूं कि आप अपनी किन रचनाओं में अधिक स्त्री-विमर्श की चर्चा मानती हैं ... तो आप क्या कहेंगी?

लगभग सभी में। जिस दौर में मैं बड़ी हुई तो वह स्त्री-विमर्श का ही दौर था। सारी कहानियां लगभग औरतों के जीवन के इर्द-गिर्द ही घूमती हैं। हमारे आस-पास के समाज व औरतों ने भी बहुत कुछ सिखाया। उनके जीवन के प्रति भेदभाव, विसंगतियां, पीड़ा, शोषण जैसे विषयों ने भी स्त्री-विमर्श को रचनाओं में पिरोने के लिए बाध्य किया।

प्रायः यह धारणा रही है कि स्त्री-लेखन पर एक तरह से स्त्री-लेखकों को ही स्त्री-विमर्श का एकाधिकार प्राप्त है, जबकि पुरुष-लेखकों की रचनाओं में स्त्री-विमर्श का स्वर उतनी प्रामाणिकता से नज़र नहीं आता। इस संबंध में आपका क्या सोचना है ... क्या यह धारणा सही है?

एक हद तक यह बात सही हो सकती है। औरतें जिस जीवन को जीती हैं, उसमें पैदा होने, लालन-पालन होने, संघर्ष करने के कारण जिस जीवन को वे जीती हैं; उनमें पैदा होने के कारण जो परिवेशगत कष्ट उन्हें झेलने पड़ते हैं, पुरुष-लेखकों ने भी औरतों के पक्ष में बहुत कुछ लिखा। आज तो जो लेखक अपने लेखन में स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श जैसे विषयों का समावेश नहीं करते, उन्हें पिछड़ा ही माना जाएगा। हमारे यहां स्त्री-विमर्श को लेकर खूब लिखा गया। मुझे हिंदी कवियों में महादेवी वर्मा बहुत बड़ी स्त्री-विमर्श विषयक लेखिका लगती हैं, वे केवल स्त्री की ही चर्चा नहीं करती बल्कि वैश्विक मानवता के संदेश उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। आशापूर्णा देवी की रचनाओं में स्त्री-विमर्श का निरूपण अद्भुत है।

आपको लगता है कि स्त्री लेखिकाएं अपने साहित्य में स्त्री-विमर्श को पूरी ईमानदारी के साथ उभार रही हैं? ऐसे में दूसरे साहित्यकारों के बारे में आपकी क्या राय है? कविताओं या अन्य के संदर्भ में।

ईमानदारी बहुत ही 'सब्जेक्टिव टर्म' है। मैं जिस चीज को ईमानदारी मान रही हूं...सामने वाला इसे बेईमानी भी मान सकता है। दलित स्त्री व मेरी



पीड़ा एक हो सकती है...लेकिन हमारी समस्याएं अलग-अलग हो सकती हैं। हम अपने सच को ही पूरा सच मान लेते हैं...जबकि दूसरे की दृष्टि में झूठ हो सकता है। कविताएं मुझे अच्छी तो बहुत लगती हैं...लेकिन खेद है कि मुझे याद नहीं रहतीं। रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' व जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' में स्त्री-विमर्श की खूब चर्चा हुई है। इधर अनामिका, कात्यायिनी आदि कई कवयित्रियों की कविताओं में स्त्री-विमर्श का स्वर बराबर उभरा है। मुझे प्रसाद, प्रेमचंद से बहुत आगे लगते हैं। वे बहुत बड़े लेखक हैं।... स्त्री-विमर्श की चर्चा कुल मिलाकर अलग-अलग स्तर पर दिखाई ही देती है।

आप बाल साहित्य लेखिका हैं। क्या बाल साहित्य में भी स्त्री-विमर्श के स्वर सुनाई देते हैं?

हां-हां ... बिल्कुल ... बाल साहित्य भी इससे अछूता कहां है? बाल साहित्य ने भी बालिकाओं की समस्याओं को परोक्षतः स्त्री जाति की समस्याओं को लेकर आवाज़ उठाई है। लड़कियों को शिक्षा से वंचित रखा जाना, गर्भ में मारा जाना अथवा लड़कों की तुलना में उनसे भेदभाव किया जाना जैसे विषय स्त्री-विमर्श का ही तो हिस्सा हैं। लड़कियों के हित संबंधी रचनाएं भी बाल साहित्य में बराबर लिखी जा रही हैं।

स्त्री-विमर्श को लेकर आपके मन में स्त्री के प्रति क्या छवि-चित्र रहता है। जहां-जहां स्त्री अपने कर्त्तव्यों, दायित्वों अथवा मर्यादाओं का उल्लंघन करती है ...

स्त्री-विमर्श के बारे में प्रायः मैं सोचती हूं कि स्त्री को देवी बनाया जा रहा है इन दिनों। मूर्ति तो स्थापित करने के लिए होती है और अंततः उसे विसर्जन ही करने की परंपरा है। सौ में से सौ देवियां सच ही बोलती हों, यह आवश्यक नहीं। ... कुछ झूठी भी हो सकती हैं। स्त्री-विमर्श का उद्देश्य अपनी मदद के साथ-साथ दूसरे का हित करना ही हो, यह अकाट्य सत्य तो नहीं। ... इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए। समाज में जितने भी कानून बन रहे हैं, वे लिंग तटस्थ होने चाहिए। दहेज वाले अथवा किसी अन्य कानून में द्वेष प्रेरित लोग इसकी ग़लत व्याख्या अथवा प्रयोग भी कर सकते हैं। 25 वर्ष पूर्व की दहेज की समस्या के बजाय आज स्थिति बहुत बड़ी हो गई है। लड़कियों/ बहुओं को दहेज के लिए सताया नहीं जाना चाहिए लेकिन इसके समानांतर पुरुषों को भी निरपराध दंड नहीं दिया जाना चाहिए। औरतों को भी ये सोचना पड़ेगा कि कहीं अपने अधिकारों के संरक्षण में कोई अपराध व अन्याय दूसरों के साथ तो नहीं हो रहा है।

स्त्री-विमर्श को अगर ताकतवर बनाना है तो पुरुषों को भी साथ लेना पड़ेगा, हर पुरुष को शक की नज़र से नहीं देखा जा सकता। दिल्ली में जो बलात्कार कांड हुआ ... उसके विरोध में केवल लड़कियां ही नहीं थीं ... बहुत सारे लड़के भी थे ... और ... वे सहयोग की भावना से साथ हुए थे। इसलिए स्त्री-विमर्श में स्त्री के अधिकारों की रक्षा हो, यह तो अपेक्षित है ही, लेकिन इसके साथ-साथ निरपराध किसी पुरुष समुदाय को भी बलि का बकरा नहीं बनाया जाना चाहिए...इस पक्ष पर विचार करना भी उतना ही जरूरी है।

आपके उपन्यासों की क्या पृष्ठभूमि रही है? स्त्री-विमर्श की दृष्टि से बनावट व बुनावट में आप किसे महत्त्व देती हैं?

मेरा पहला उपन्यास है 'परछांई अन्नपूर्णा'। मैंने कुल चार उपन्यास लिखे। 'शस्य का पता' मेरा 1990 के दौर में लिखा गया उपन्यास है जिसे मैंने सिर्फ बाराखंभा व कस्तूरबा गांधी रोड के बड़े-बड़े पेड़ों पर शोरगुल मचाते तोतों पर लिखा है। तब मेरी चिंता थी कि जब ये पेड़ नहीं रहेंगे...तो फिर ये तोते कहां रहेंगे। तब मेट्रो नहीं थी-आज सचमुच वे बड़े पेड़ कट गए हैं. ..अब वहां तोतों के झुंड नहीं आते...न उनका शोर सुनाई देता है। उसमें पर्यावरण व वनस्पति की चिंता थी। मेरा उपन्यास 'मोबाइल' व अन्य दूसरा कामकाजी महिलाओं के जीवन-संघर्ष पर आधारित है। बनावट व बुनावट उपन्यास के थीम पर निर्भर करता है।

आप अपने कथा-साहित्य में पुरुष-विमर्श की चर्चा कर अधिक सुख पाती हैं अथवा स्त्री विमर्श की? क्या विमर्श के लिए पुरुष जीवन का कोई भी पक्ष नहीं बचता?

मैं विमर्श को एक-दूसरे का विरोधी नहीं मानती। केवल स्त्रियों से ही समाज नहीं चल सकता, न केवल पुरुषों से ही। जैसे पुरुष पैदा नहीं होते, वैसे स्त्रियां भी पैदा नहीं होतीं, बनाई जाती हैं। आज मीडिया जिस तरह का हा-हाकार मचा रहा है वह किस बात का संकेत है? यूरोप में नौ-नौ वर्ष का बच्चा बंदूक उठा रहा है... बारह-बारह वर्ष का बच्चा बाप बन रहा है। मैं आजकल बोल्ड फ़ील करती हूं। 20-25 सालों में बहुत कुछ बदला भी है। मैं जब 'हिंदुस्तान टाइम्स' में आई थी-तब कम स्त्रियां थीं, आज बड़ी संख्या में स्त्रियां काम करती हैं। बैंक व एल. आई. सी. कई ऐसी संस्थाएं हैं जहां आज बड़ी संख्या में औरतें कार्यरत हैं। तो क्या कुछ नहीं बदला औरतें अपने परिवार में कभी अकेले नहीं होतीं, यदि हम मायके की बात करें-तो वहां क्या सिर्फ औरतें ही रहती हैं? क्या वहां भाई, पिता, चाचा, ताऊ या पास-पड़ोस के पुरुष नहीं होते? इसलिए साहित्य में भी जहां जिसको संवेदना बटोरने की अपेक्षा होती है ... उसकी चर्चा अवश्य की जानी चाहिए...फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः एक परिवार व समाज के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। ❑

संपर्क : 'अभिव्यक्ति', 157 गढ़ विहार, फेस-1, मोहकमपुर, देहरादून-248005

तीन गीत : **रजनी मोरवाल**

अनबुझी वह प्यास

झुग्गियां पसरी पड़ी थीं जो सड़क पास
तेज़ बारिश में बही कल रात उनकी आस।

नम हुई आंखें धरा की
देख यह हालात,
बेघरों के साथ जागी
वो भरी बरसात

क्यों ग़रीबी भोगती है हाय यह संत्रास

टापरों ने रुग्णता की
दी दुहाई आज,
बर्तनों ने ढांक मुंह को
थी छुपाई लाज

बेबसी शर्मिंदगी का कर रही उपहास

देह जो सिमटे पड़े थे
चौंक कर जागे,
खाट के खुलकर गिरे
कमज़ोर से धागे

रह गई प्रेमी-युगल की अनबुझी वह प्यास।





जब से तुम परदेश बसे

स्वप्न सभी वीरान हो गए
जब से तुम परदेश बसे हो

परख लिया बैरी दुनिया को
दुख में संगी कब कोई है?
बरसों से बिरहा की बदली
सुधियों के आंगन रोई है
रिश्ते भी अनजान हो गए
जब से तुम परदेश बसे हो

भीगा मन रो-रोकर बांधे
पोर-पोर टूटन की डोरी,
सावन को दिखलाई है मैंने
तन की सब सीमाएं कोरी,
संवेदन सुनसान हो गए
जब से तुम परदेश बसे हो

सांस-सांस पर नाम लिखा है
धड़कन भी नीम हुई है,
सिहरन की बांहें अलसाईं
देखो अब तो शाम हुई है,
दर्द स्वयं पहचान हो गए
जब से तुम परदेश बसे हो।

क्या मधुमास दिखे?

भिनुसारा है रूठा-रूठा
सांझ उदास दिखे,
ऐसे मौसम में अब बोलो
क्या मधुमास दिखे?

रुई के फाहे से बादल
निर्जल औ' धुंधले,
खेतों में पपड़ी उग आई
जैसे हो उपले

धरती की आंखें पथराई
उभरी प्यास दिखे।

पनघट सूना बस्ती सूनी
व्याकुल वनपांखी,
बरगद सूखा, टहनी सूखी
आकुल मधुमाखी

मरघट में कोयल की बोली
क्या उपहास दिखे?

पेट, पीठ से चिपका जाता
आंख लगी धंसने,
ठूंठ, बांझ पेड़ों के ऊपर
चील लगी बसने

पतझड़ में सींचे हलवाहे
क्या परिहास दिखे?

संपर्क : सी-204, संगाथ प्लेटीना, साबरमती,
गांधीनगर हाईवे, मोटेरा, अहमदाबाद-380005

समय के साज़ पर अस्मिता के स्वर

(उत्तर भारतीय संगीत के विशेष संदर्भ में)

संगीत और नारी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। नारियों ने संगीत के विकास में जो भूमिका निभाई है वह अविस्मरणीय है। पुत्र जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, द्विरागमन आदि हमारे समस्त उत्सवों पर स्त्रियां अपने कोमल कंठों से रमणीय गीत गाकर अपना तथा उपस्थित मंडली का पर्याप्त मनोरंजन करती आ रही हैं। यह प्रथा आधुनिक न होकर अत्यंत प्राचीन है, चर्चा कर रहे हैं **अजयशंकर मिश्र**

नारी यानी आधी दुनिया, आधी आबादी! नारी यानी तमाम यंत्रणाओं, आपदाओं और तकलीफों को झेलकर भी न केवल पुरुष को जन्म देने वाली बल्कि उसका लालन-पालन भी करने वाली मातृशक्ति। नारी यानी वह देवी- जो तिरस्कार का विष पीकर भी सदियों से लोगों को संगीत सुधा का रसपान कराती आ रही है और, सामाजिक बहिष्कार का दंश झेलकर भी, महामाता, दासी, गणिका, नगरवधू जैसे संबोधन पाकर भी हंसती-मुस्कुराती हुई संगीत-नृत्य की सुरक्षा के लिए डटी रही। सिंधु सभ्यता में कांस्य की बनी एक निर्वस्त्र नर्तकी मूर्ति से यह स्पष्ट होता है कि तब तक पुरुष समाज के मनोरंजन के लिए गणिका के रूप में नारी का स्वरूप विकसित हो चुका था।

संगीत और नारी का संबंध सृष्टि के आरंभ से ही है। संगीत की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को माना गया है तो पार्वती को नृत्य प्रवीणा जो नटराज शंकर की चुनौती स्वीकारती हैं। संगीत वैदिक युगीन नारी के जीवन का एक अंग था। सामान्य परिवार की महिलाओं में भी संगीत का प्रचार-प्रसार था। स्त्रियां ऐसे ही पुरुषों से अनुराग करती थीं, जो संगीत कला में कुशल होते थे। कन्या को साम-संगीत में हिस्सा लेने का अधिकार था। सामाजिक नृत्यों का आयोजन खुले प्रांगण में एकत्रित जनता के सामने होता था, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते थे। विवाह के अवसर पर चार से लेकर आठ तक सुहागिनियों को सुरापान कराकर चतुर्वार नृत्य हेतु प्रेरित किया जाता था। विवाह के समय पत्नी द्वारा गाए जाने का विधान वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। 'महाव्रत' नामक सोममाग में कम-से-कम तीन तथा ज्यादा-से-ज्यादा छह दासियों का समूह नृत्य आयोजित किया जाता था। इसी सोममाग में जब उद्गात वर्ग 'भद्र' नामक साम गाते थे, तब यजमान पत्नी अपने कंठ स्वर से उनकी संगति किया करती थी। सूत्र वाङ्मय के अनुसार यजमान की पत्नियां उपगान के साथ विविध वीणाओं द्वारा उपवादन भी किया करती थीं। इससे तत्कालीन महिलाओं की संगीत कुशलता का संकेत मिलता है।[1]

ज्ञातव्य है कि संगीत और नारी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। नारियों ने संगीत के विकास में जो भूमिका निभाई है वह अविस्मरणीय है। पुत्र जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, द्विरागमन आदि हमारे समस्त उत्सवों पर स्त्रियां अपने कोमल कंठों से रमणीय गीत गाकर अपना तथा उपस्थित मंडली का पर्याप्त मनोरंजन करती आ रही हैं। यह प्रथा आधुनिक न होकर अत्यंत प्राचीन है। वैदिक युग में भी इन मांगलिक अवसरों पर मनोहर गाथाओं (संगीत) के गाने का निर्देश वैदिक ग्रंथों में उपलब्ध है। 'मैत्रायणी संहिता' में विवाह के अवसर पर गाथा (संगीत) गाने की विधि उल्लिखित है। 'पारस्कर गृह सूत्र' में विवाह के अवसर पर और 'आखलायन गृहसूत्र' में सीमंगंतोन्नयन के समय वीणा पर गाथा (संगीत) गाने का प्रचलन निर्दिष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियां सुंदर गाथाएं (संगीत) गाती थीं और वह परंपरा आज भी अक्षुण्ण रीति से चल रही है।[2]

भारतीय धार्मिक, पौराणिक आख्यानों में भी स्वर्गलोक की रति, घृताची, मिश्रकेशी, मेनका, उर्वशी, वामना, अलम्बुषा और रंभा आदि जैसी अप्सराओं के नाम मिलते हैं जिनका काम इंद्र के संकेत पर दूसरे देवताओं, ऋषियों-मुनियों की तपस्या में विघ्न उत्पन्न करना था। अर्जुन द्वारा बृहन्नला के रूप में विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत-नृत्य की शिक्षा दिया जाना, जैन राजा उद्दायन द्वारा अपनी पत्नी के नृत्य की वीणा द्वारा संगति किए जाने के प्रसंग इस ओर संकेत करते हैं कि कुलीन घरों की महिलाओं ने वैदिककाल के बाद संगीत को स्वांतःसुखाय अपनाया। इसका सार्वजनिक प्रदर्शन लगभग बंद सा कर दिया था। तत्कालीन समाज में संगीत को कितना महत्त्व प्राप्त था, इसका आभास इसी से हो जाता है कि गौतम के लिए उनके पिता ने ऐसी कला की कामना की थी जो 'गणिका' के समान 'संगीत-नृत्य कुशला' हो। दूसरी ओर यशोधरा के लिए भी उनके पिता ने कला निपुण वर की शर्त रखी थी। इससे ज्ञात होता है कि गौतम और यशोधरा दोनों ही कला निपुण थे। कालिदास रचित 'मेघदूत' में पति विरहिणी यक्षिणि द्वारा वीणा वादन का उल्लेख मिलता है।

वैशाली की नगरवधू आम्रपाली को भला कौन भूल सकता है? ज़ाहिर है, इस कालखंड में स्त्रियों का काम अपनी सांगीतिक कलाओं द्वारा पुरुषों का मनोरंजन करना हो गया था। इसीलिए इन्हें सांगीतिक कलाओं के साथ-साथ काम कला का भी ज्ञानार्जन करना पड़ता था। मौर्यकाल में गणिका कर्म को सामाजिक, राजनीतिक मान्यता देकर उन्हें लोगों के मनोरंजन का माध्यम बनाया गया। राजनर्त्तकी और नगरवधुओं की नियुक्तियां होने लगीं। ये नर्त्तकियां लोगों का आमोद-प्रमोद करने के साथ-साथ जरूरत पड़ने पर गुप्तचरी का भी काम किया करती थीं। गुप्तकाल में वासवदत्ता और वसंत सेना जैसी गणिकाओं का उल्लेख मिलता है, जिनके साथ नाम जुड़ना भी लोगों के लिए सम्मान की बात होती थी, हेय की नहीं। फिर भी ऐसी स्त्रियों के साथ कोई पारिवारिक रिश्ता नहीं जोड़ता था।

वैदिक काल की तरह संगीत को प्रेम और धर्म से जोड़ने का कार्य अगर उत्तर भारत में किसी ने किया तो वे संत संगीतज्ञा मीरा बाई थीं। दूसरी

ओर, कश्मीर में ललदेद ने भी यही काम किया। संगीत को आध्यात्म से जोड़ते हुए अपने आराध्य को ढूंढने और पाने का काम।

संगीत को शुरू से ही इस समाज ने आनंद के लिए अपनाया। देवी-देवताओं, ऋषियों-मुनियों, राजाओं-नवाबों और धनाढ्य लोगों ने संगीत को आमोद-प्रमोद के लिए ही अपनाया। पुरुष-प्रधान समाज में नारी को भी भोग विलास और मनोरंजन के साधन के रूप में ही देखा गया। इसीलिए, संगीत नृत्य के साथ नारी का रिश्ता अपेक्षाकृत अधिक गहराई से जुड़ा। यह सच है कि इन कलाओं में पुरुष कलाकारों ने भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। शंकर, कृष्ण, गणेश और हनुमान ही नहीं, नारद, तुंबरू और भरत जैसे संगीत विशारदों ने संगीत के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई हैं। लेकिन, वैदिक काल से आधुनिक काल तक महिला कलानेत्रियों ने इसे जो लोकप्रियता दिलवाई है वह विशेष उल्लेखनीय है। कारण स्पष्ट है। ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति नारी का सामीप्य पाकर ये मनमोहक, सांगीतिक कलाएं और भी अधिक चित्ताकर्षक, मनोमुग्धकारी हो उठती हैं। तभी तो भस्मासुर को नृत्य में पराजित करने के लिए विष्णु को नारी का रूप धारण करना पड़ा था। इसका मूल कारण यह है कि संगीत में सौंदर्य, माधुर्य और रसतत्व का आदि स्रोत नारी ही है। तभी तो भरतनाट्यम शास्त्र में भी कैशिकी वृत्ति का प्रयोग पुरुषों द्वारा असंभव बताते हुए लिखा गया है कि भगवती उमा द्वारा ही शृंगार रस को प्रकट करने वाली उज्ज्वल वेशात्मक और अत्यंत सुंदर एवं सुकुमार अंगों द्वारा रसभाव जागृत करने वाली कैशिकी वृति संभव है अर्थात् यह पुरुषों द्वारा नहीं स्त्रियों द्वारा ही संभव है।

महिलाओं की सांगीतिक भूमिका की चर्चा करते समय हमें यह बिल्कुल नहीं भूलना चाहिए कि जिस समय देश पर विदेशी आक्रांताओं के लगातार हमले हो रहे थे ... धार्मिक पूजा स्थलों को तोड़ा जा रहा था ... शिक्षा संस्थाओं को ध्वस्त किया जा रहा था ... ग्रंथ जलाए जा रहे थे ... धर्म परिवर्तन हो रहे थे ... उस समय मंदिरों में पुष्पित-पल्लवित हुई भारतीय सांगीतिक कलाएं भी मृतप्रायः होती जा रही थी तब, इन संगीत व्यवसायी महिलाओं ने ही इन सांगीतिक कलाओं को संजोने और सहेजने का काम किया था। ये सर्वसाधारण के लिए, उनकी इच्छानुसार नाचती-गाती थीं, इसीलिए इन्हें तत्कालीन समाज द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता था। क्योंकि वह युग नारी को सात पर्दों के अंदर बंद करके रखने का था। उस काल में सामान्यतः वह सूर्य का भी दर्शन नहीं कर पाती थीं। पुरुष प्रधान वह युग 'ढोर गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' कहने का था। इसीलिए तो महान संत-संगीतज्ञा मीरा बाई को भी 'साधु-संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई' कहकर तत्कालीन समाज द्वारा प्रताड़ित किया गया। लेकिन यहां यह समझना जरूरी है कि संगीत को व्यवसाय के रूप में अपनाने वाली ये महिला कलानेत्रियां सामान्यतः देह व्यापार नहीं करती थीं और अधिकांशतः किसी एक की पत्नी या उपपत्नी बनकर रहती थीं। हां! संगीत के द्वारा लोगों का मनोरंजन जरूर करती थीं। वही, इनकी आय का माध्यम भी था। लेकिन, यहां यह भी गौरतलब है कि ये गायिकाएं-नर्तकियां संगीत-नृत्य की विदुषी और पंडिता हुआ करती थीं। ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं, जब इन गायिकाओं-नर्तकियों ने संगीत के बड़े उस्तादों और पंडितों का मान मर्दन किया है, अपनी कला-कौशल के बल पर। तत्कालीन राजाओं, नवाबों और उच्च परिवार के सदस्यों को संगीत और नृत्य के साथ-साथ शिष्टाचार सिखाने के लिए इनकी नियुक्तियां विशेष तौर पर हुआ करती थीं। यह इतिहास का वह पन्ना है, जिसे सामान्यतः पढ़ा ही नहीं गया। किसी कवि की दो पंक्तियां याद आ रही हैं-

जी रहे हो जिस कला का नाम लेकर
कुछ पता भी है कि वह कैसे बची है?
सभ्यता की जिस अटारी पर खड़े हो
वह हमीं बदनाम लोगों ने रची है।

शायद, इसी को ध्यान में रखकर किसी कवि ने चुनौती भरी पंक्तियां लिखी थीं-

अगर यात्री नहीं बोले तो अर्थी बोल उठेगी/ मौन रहा इतिहास अगर तो धरती डोल उठेगी।

ज्ञातव्य है कि संगीत व्यावसायी ये महिलाएं जिस संगीत को लोगों के मनोरंजन के लिए सजा-संवारकर प्रस्तुत करती थीं, वह संगीत खुद इनके लिए जीवन-यापन का साधन था अर्थात् इनके लिए वह मनोरंजन नहीं, जीवन था।

लेकिन, संगीत और इन संगीतनेत्रियों ने मात्र लोगों का मनोरंजन ही नहीं किया, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक उत्थान में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जिस समय देश में स्वतंत्रता संग्राम चल रहा था, काशी की नर्तकियों ने विद्याधरी देवी की अध्यक्षता में काशी तवायफ़ (नर्तक) संघ की स्थापना करके स्वतंत्रता आंदोलन में योगदान दिया था। इन नर्तकों ने गांधीजी के आह्वान पर रेशमी वस्त्रों की होली जलाकर खादी पहनने का संकल्प लिया था।

विद्याधरी देवी आदि ने उन दिनों लोगों के मनोरंजनार्थ नाच-गाना बंद कर दिया था। उन दिनों वे जगह-जगह घूमकर दो गीत गाया करती थीं। इनमें पहली रचना गोस्वामी तुलसीदास रचित थी-

जा के प्रिय न राम वैदेही,
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही/
तज्यो पिता प्रल्हाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी/
बलि तज्यो गुरु, कंत ब्रज बनिता, भयो मुद् मंगलकारी।

उनकी दूसरी व्यंग्यात्मक रचना भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित थी-

चुन-चुन के फूल ले लो/अरमान रह न जाए/ ये हिंद का बग़ीचा/ गुलज़ार रह न जाए।

इन दोनों रचनाओं का संगीत निर्देशन उनके गुरु संगीत नायक पं. दरगाही मिश्र ने किया था। आज अगर संगीत का अस्तित्व बचा हुआ है तो उसके पीछे बहुत बड़ी भूमिका इन महिला संगीतकारों की रही है। विद्याधरी देवी, जद्दन बाई, बड़ी मोती बाई, छोटी मोती बाई, राजेश्वरी बाई, रसूलन बाई, रोशनआरा बेगम, हुस्ना बाई, गौहर जान, कमला, मैना, मुश्तरी आदि से लेकर सिद्धेश्वरी देवी और बेगम अख़्तर जैसे अनेक नाम इस कड़ी में लिए जा सकते हैं जिन्होंने उपेक्षा और अपमान का विष पीकर भी जन सामान्य को संगीतामृत प्रदान करने का काम यथावत् रखा।

शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में मोगूबाई कुर्डीकर, अंजनीबाई मालपेकर, केसरबाई केरकर, हीराबाई बड़ोदकर, सरस्वती राने, गंगूबाई हंगल, निर्मला अरुण, मालविका कानन, लक्ष्मीशंकर, माणिक वर्मा, किशोरी अमोनकर, गिरिजादेवी, परवीन सुलताना, शन्नो खुराना, अश्विनी भिड़े देशपांडे, शोभा गुर्टू, सविता देवी, सुलोचना वृहस्पति, प्रभा अत्रे, मालिनी राजुरकर, अलका, मारूलकर, श्रुति सिडोलकर काटकर, वीणा सहस्त्र बुद्धे, कृष्णा बिष्ट, माधवी नानल, सुधा पटवर्धन, सुहासिनी कोरटकर, पद्मावती शालीग्राम, मीरा बैनर्जी, कंकणा बैनर्जी, सुनंदा पटनायक, सुमित्रा गुहा, कमला बोस, अर्चना दीक्षित,

वसुंधरा और कलापिनी कोमकली' शोभा मुद्गल और मालिनी अवस्थी जैसे अलग-अलग दौर के हज़ारों नाम हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से संगीत जगत को समृद्धि प्रदान की।

लेकिन महिला संगीतकारों ने एक महत्त्वपूर्ण काम और किया, और वह है-उन क्षेत्रों में सफल पदार्पण-जिनमें पुरुषों का एकछत्र राज्य था। उदाहरण के लिए ध्रुवपद-धमार गायन के क्षेत्र में सुमति मुटाटकर और असग़री बाई ने प्रवेश कर अपनी सशक्त उपस्थिति का परिचय दिया। मधु भट्ट तैलंग और कावेरी कर सहित कई अन्य महिला गायिकाएं भी ध्रुवपद गायन के क्षेत्र में अच्छा नाम और काज कर रही हैं। सरोद को अरसे तक पुरुष वाद्य कहकर संबोधित किया जाता रहा है लेकिन शरणरानी बाकलीवाल और ज़रीन दारूवाला शर्मा ने इस क्षेत्र में साधिकार प्रवेश कर पुरुषों के आधिपत्य को चुनौती देने का काम किया है। रीता दास और चंद्रिमा मजूमदार भी युवा सरोद वादिकाओं में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। उस्ताद अलाउद्दीन खां की सुपुत्री अन्नपूर्णा देवी ने सुरबहार के क्षेत्र में पुरुषों के आधिपत्य को तोड़ा तो अरुणा नारायण कल्ले सारंगी को समर्पित हैं। बांसुरी और शहनाई जैसे साज़ भी आज महिलाओं से अस्पर्शित नहीं रहे। महिलाओं ने हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है।

तबला वादन का क्षेत्र भी अर्से तक पुरुषों का समझा जाता रहा है। लेकिन, योगमाया शुक्ला, आबान-ए-मिस्त्री, शोभा कुदसिया, हेतल मेहता, रिम्पा शिवा, वसुधा सक्सेना, नीलू शर्मा, रीमा जौहरी, आरती गुप्ता, श्रद्धा वाजपेयी, नीलम शर्मा, उर्मिला श्रीवास्तव और संगीता मजूमदार आदि जैसी तबलावादिकाएं जिस तरह सांगीतिक मंचों पर सक्रिय हैं, उससे निश्चय ही, पुरुषों का एकाधिकार टूटा है। चित्रांगदा सहित कुछ युवतियां पखावज वादन के क्षेत्र में भी अपनी थिरकती अंगुलियों का जादू दिखा रही हैं।

तात्पर्य यह कि बदलते समय के साथ महिलाओं ने न केवल समय की साज़ पर अपनी अस्मिता के सुरों का गायन-वादन किया है, बल्कि संगीत समाज द्वारा उनके सुरों को सराहा भी गया है। इसका प्रमाण यूं तो विभिन्न मंचों एवं विभिन्न समारोहों में अक्सर मिलता रहता है लेकिन यह प्रमाण तब और भी अधिक मुखरता के साथ प्रमाणित हुआ-जब देश के सबसे बड़े नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' के लिए शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र से पहला नाम एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी का चयनित हुआ और फिल्म संगीत के क्षेत्र से पहला नाम लता मंगेशकर का। एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी और लता मंगेशकर दोनों के जीवन का शुरुआती दौर अत्यंत कष्टतम रहा है और सफलता की इस सर्वोच्च ऊंचाई तक पहुंचने के लिए, कीर्तिमान के इस शिखर को छूने और पाने के लिए इन्हें कठिन संघर्ष करना पड़ा है। एम.एस. और लता अनेक भारतीय भाषाओं के गीतों को अपने कंठ का स्पर्श दे चुकी हैं और, आज विश्व संगीत समाज में इनका नाम काफ़ी आदर और सम्मान से लिया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं की सार्थक सांगीतिक भूमिका को समाज ने स्वीकारना और सराहना शुरू कर दिया है ... जो एक अच्छा लक्षण है। समय की साज़ पर गाए उनके गीतों को ज़माना ध्यान से सुन रहा है ... और ... सुनता रहेगा, जो एक शुभ संकेत है।

संदर्भ

1. डा. मुकेश गर्ग, संगीत, जनवरी-फरवरी 1986 अंक
2. आचार्य सूर्यमणि शास्त्री, संगीत, जनवरी-फरवरी 1986 अंक ❑

संपर्क : 'शंकरा', 705 डी/21 सी, वार्ड नं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030

नारी के अंतरंग ...

पृष्ठ 59 से आगे

बन सकती है। यह देखना हो तो हिंदू गृहस्थ की दुधमुंही बालिका से शापमयी युवती में परिवर्तित होती हुई विधवा को देखना चाहिए जो किसी अज्ञात व्यक्ति के लिए अपने हृदय की प्रिय इच्छाएं कुचल-कुचलकर निर्मूल कर देती है, सतीत्व और संयम के नाम पर अपने शरीर और मन को अमानुषिक यंत्रणाओं के सहने का अभ्यस्त बना लेती है और इस पर भी दूसरे के अमंगलमय भय से आंखों में दो बूंद जल भी इच्छानुसार नहीं आने दे सकती। अर्द्धांगिनी की विडंबना का भार लिए सीता सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार संभालकर क्रीतदासी के समान अपने मद्यप दुराचारी तथा पशु की भांति निकृष्ट स्वामी की परिचर्चा में लगी हुई और उसके दुर्व्यवहार को सहकर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर में उसी का संग पाने का वरदान मांगने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्याभिभूत न हो उठेगा।" (महादेवी का साहित्य, शृंखला की कड़ियां, पृष्ठ 147)

महादेवी वर्मा मानती हैं कि नारी जीवन के दर्द का अथ तो है किंतु इति नहीं है। फिर भी वे निराश नहीं हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय नारी की स्थिति में आदिम युग की स्त्री की परवशता और पूर्ण विकसित समाज के नारीत्व की गरिमा का भी समावेश है। शायद इसलिए नारी के अर्थ स्वातंत्र्य के प्रश्न पर उन्होंने विचार किया है।

"प्राचीन भारत में नारी की एक समादृत स्थिति थी, फिर स्थिति बदली और क्रमशः वह अपने अधिकारों से वंचित कर दी गई। संपत्ति पर उसका स्वामित्व नहीं रह गया। स्त्री-पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी मात्र समझी जाती है। यदि नारी को अर्थ संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुंबियों के लिए भार बनेगा न ही वे गलित अंग के समान समाज से निकालकर फेंकी जा सकेंगी।" (महादेवी का साहित्य, पृष्ठ 180)

वर्तमान युग की भारतीय नारी को कई मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा है। स्वतंत्र देश की नागरिक होने के कारण आज अपने स्वत्व के लिए उन्हें समाज से याचना करने की आवश्यकता नहीं है। युगों से दलित-दमित रहने के कारण उनमें जो हीनता के संस्कार बन गए थे, उन्हें आधुनिक भारतीय नारी अपने रक्त तथा प्रस्वेद से पूर्ण रूपेण धोने का प्रयास कर रही है। 'दीपशिखा' की भूमिका में इन्होंने लिखा है-

"समाज में वह अपनी स्थिति के प्रति विशेष सजग और सतर्क हो चुकी है। उसकी सजीवता का परिचय समाज को मिल चुका है। वह उपेक्षणीय नहीं बल्कि आज संपूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है।" उनका चिंतन परंपरा से आबद्ध नारी के लिए उसकी मुक्ति को चुनौती रूप में स्वीकार करता है। युगों-युगों तक महीयसी महादेवी वर्मा की नारी-विषयक अवधारणाएं एवं सत्य पाथेय का कार्य करती रहेंगी। उनके 'दीपशिखा' की लौ नारी के दर्द तमस की सघनता को नष्ट करने में समर्थ होगी। ❑

संपर्क : बी-64, आनंद नगर, रायबरेली (उ.प्र.)

सदी संधि पर स्त्री ...

पृष्ठ 26 से आगे

के केंद्र में है पहली वाचक स्मिता। बचपन में कठिनाई से रोपे गए कठगुलाब की स्मृति उसकी अपनी जिजीविषा को प्रतिबिंबित करती है। जिस प्रकार कठिनाइयों से जूझते हुए उसने ज़िद को पकड़कर कठगुलाब को उगाया और विकसित किया था, उसी भांति वह देश-विदेश में कठिनाइयों का हिम्मत के साथ सामना करते हुए अपने व्यक्तित्व को तराशती है।

भारत की नारी की कंडीशनिंग समाज में जिस रूप में की जाती है उसका यथार्थ वर्णन इस उपन्यास में मृदुला गर्ग डॉक्टर के इस कथन के माध्यम से सामने रखती हैं-"यूं तो हर औरत-मर्द में किसी न किसी बात को लेकर अपराध बोध होता है पर औरतें इस मामले में ज्यादा ही सिद्धहस्त होती हैं। अपराध बोध पैदा करने में उनकी कल्पना शक्ति, साइंस फिक्शन लिखने वालों को मात देती है। बच्चा भरपेट नाश्ता किए बगैर स्कूल चला जाए तो अपराध बोध। नौकरी करे तो बच्चों की पर्याप्त देखभाल न करने का गिल्ट। नौकरी न करें तो समय व प्रतिभा बर्बाद करने का गिल्ट। लगता है, औरत आदमी से नहीं, अपराध बोध से शादी करती है। ('कठगुलाब', मृदुला गर्ग, पृ. 31) स्मिता और भारतीय मध्यवर्ग की सुशिक्षित स्त्री इस अपराध बोध को जीवन भर अपने साथ ढोती रहती रहती है, जो कि पुरुषवर्चस्ववादी समष्टिगत सोच का ही परिणाम है।

इस प्रकार लक्षित किया जा सकता है कि हिंदी साहित्य में बीसवीं शती के अंतिम दौर में लिखे गए उपन्यास स्त्री-विमर्श को पूरी सार्थकता और निष्ठा के साथ तीव्रता और तीक्ष्णता प्रदान करने वाले सिद्ध होते हैं, जिनमें परंपरागत रूप से भिन्न, अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग और विकास की आकांक्षाओं को संजोने वाली स्त्री का रूप सामने आता है। रूढ़िवादी संस्कारों में लिपटी, पारंपरिक सामाजिक नियमों-विनियमों से घिरी नारी का रोने-धोने वाला, अपनी नियति को कोसने वाला रूप इनमें प्रायः नहीं दिखता है और उसके स्थान पर अपने अधिकारों के लिए लड़ती, अपने अस्तित्व को तराशती और केवल दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी अपना जीवन जीने वाली स्त्री आकार लेती देखी जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने व्यक्तित्व की असीम संभावनाओं को सीमित करने वाली हर संस्था, हर व्यवस्था और हर मानसिकता से लोहा लेने की उसने ठान ली है। बीसवीं शती के अंतिम दशक को कुछ आलोचकों ने 'उपन्यास के विस्फोट का दशक' के रूप में अभिहित किया है, इसी प्रकार इस उपन्यास के विस्फोट में भी एक 'स्त्री लेखन का उपविस्फोट' भी कहा जा सकता है।

अंत में पुनः आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी के उक्त निबंध का स्मरण हो आता है, जहां वे लिखते हैं "मेरा विश्वास है कि ईसवी सन् 2000 आने के पहले आशा और उत्साह की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो जाएगी। आर्थिक विषमता और दुर्व्यवस्था का जो घिनौना रूप आज प्रकट हुआ है, उसका पेट फाड़कर नई व्यवस्था जन्म लेगी और उससे प्रेरित नए साहित्य में अधिक स्वस्थ और सबल स्वर सुनाई देगा।" सदी की संधि पर स्त्री चेतना को केंद्र में रखकर लिखे उपन्यासों के संदर्भ में तो कम से कम यह तथ्य सत्य सिद्ध होता आभासित होता है। ❑

संपर्क : ए-281, कालकाजी, नई दिल्ली-110019

सुनाओ अब ऐसी कहानी ...

पृष्ठ 27 से आगे

जैसे उड़ती हुई जादुई क़ालीनें ...
उन्हीं क़ालीनों का करिश्मा लड़ाकू हवाई जहाज़ हैं।
बस के धमाके से पूरी फ़िज़ा गूंज उठी है।
मैं दहल जाती हूं।
यह मैं किस देश में आ गई हूं।
दिल धड़क उठता।
सब-कुछ गडमड हो रहा है।
दिमाग़ जवाब देता है।
उस देश में जिसने काग़ज़ क़लम दे तुम्हें लिखना सिखाया।
समन्दर के फ़ेन से नीली रौशनाई बनाई।

हां, सच तो है मैं मेसोपोटामिया और सुमेरयाई तहज़ीब के गहवारे में खड़ी हूं जहां क़िस्सागोई से एक औरत ने उस शाह का दिल बदल डाला जो पत्नी की बेवफ़ाई से इस हद तक आहत हुआ कि प्रतिक्रियावादी बन गया। हर रात शादी करता और उस लड़की को मरवा डालता था। सामने शहरज़ाद का भुजस्समा है जो शहरयार के सामने खड़ी कहानी सुना रही है। हर रात एक नई कहानी। सिलसिला टूटता नहीं है। हज़ार व एक रात तक?

क़िस्सागोई का यह कैसा ख़ज़ाना जो शहरयार बिना थके सुनाती चली गई और सियाह को सफ़ेद में बदल डाला? शहरज़ाद! आज तुम चुप क्यों हो? इस राजनीतिक परिदृश्य में इराक़ के ज़र्रे-ज़र्रे में दिलख़राश दास्तानें पेवस्त होंगी। उनको सुनाने के लिए शहरज़ाद आगे क्यों नहीं बढ़ रही हो ताकि यह वहशत भरी दहशत की दीवानगी ख़त्म हो। क्या तुम इसलिए तमाशबीन बन चुकी हो कि मोहम्मद ग़नी ने अब-नवास सड़क के किनारे डाल दिया है?

संगीत की देवी इनअन्ना आज इराक़ में कोई नग़मा नहीं छेड़ रही है। विलाप की यह कैसी लय है? कोहराम का यह कैसा शोर है? तुम्हें सब-कुछ दिखाई और सुनाई पड़ रहा फिर यह ख़ामोशी? तुम चुप क्यों हो शहरज़ाद?

कोई ऐसी कहानी सुनाओ जिससे बरसते बम ठहर जाएं और बहता ख़ून रुक जाए।

दुनिया के सारे ज़ालिम तुम्हारे क़िस्से में खो जाएं।

यह ख़ूनी मेरी गो राउंड, का खेल अब ख़त्म कर दो और ऐसी दास्तां सुनाओ कि आज का शहरयार कह उठे-बस और हथियार नहीं, बस और जंग नहीं, मैं तंग आ गया हूं बम की आवाज़ और गोलियों की सनसनाहट से। अब मैं कुछ और करना चाहता हूं।

शहरज़ाद!!

तुम कहना चाहती हो कि बहुत लोग लिख रहे हैं। ज़बानी क़िस्सा सुनने का दौर जा चुका है। लेकिन यह भी सच है कि हम सब बहुत-कुछ लिखने के बाद कुछ नहीं बदल पाए शायद तुम में असर हो!

इस पथरीले बदन को छोड़कर ख़ुदारा बाहर निकलो।
सुनाओ ऐसी कहानी जो अलिफ़ लैला का दूसरा पाठ हो।
हां, शहरज़ाद हां ... सुनाओ ऐसी कहानी अब शहरज़ाद!
कि पत्थर दिल सियासतदानों का दिल मोम की तरह पिघल जाए।❑

संपर्क : डी-37/754, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली-110074

साक्षात्कार

आकृतियां स्वतःस्फूर्त तरीके से जन्म लेती हैं

भुनेश्वर भास्कर

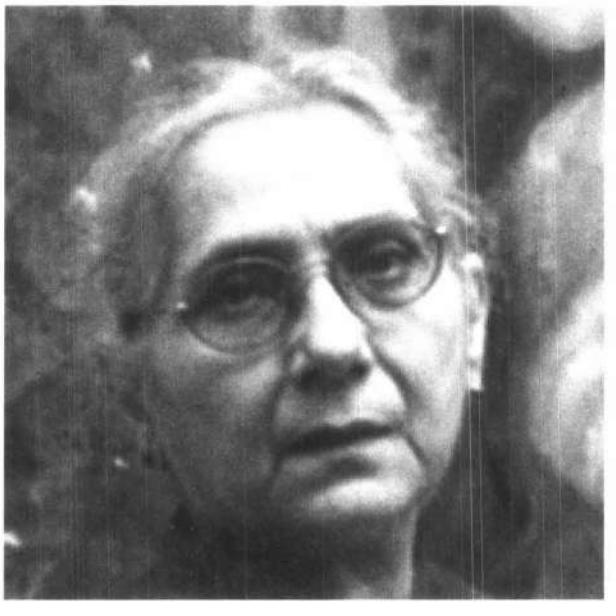
घर, आंगन, चौखट, गली या ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों पर चलते जब किसी रोड़े से धीरे से भी चोट लगती है तब, अगर हम उसे नज़रअंदाज करके आगे बढ़ गए तो कोई सवाल-जवाब नहीं। लेकिन जब हम रुक गए, चोट को महसूस करने लगे तब तो रोड़ा स्वयं के लिए भी गंभीर हो जाता है। हम कभी चोट की तह में जाते हैं तो कभी रोड़े की बनावट, उसकी शक्ल-सूरत पर तो कभी ऐसा लगता है-जैसे वह बोल रहा हो कि तुम पता कर लो-मैं ऐसा क्यों हूं? ऐसा क्यों किया और ऐसा कैसे हुआ? हो सकता है तुम्हें नया दृष्टिकोण मिल जाए। अगर अलग तरह से सोचोगे तो वह तह तुम्हें उलझाती जाएगी। उलझते-उलझते शायद तुम सुलझा भी लो, तब तुम्हें एक नई परिभाषा मिल सकती है। वाक़ई ऐसा होता है। सहज जीवन में कई ऐसी घटनाएं होती हैं जिसकी तह में पहुंचते-पहुंचते पूरा जीवन व्यतीत हो जाता है। सत्य की खोज में कुछ लोगों ने जीवन गुज़ार दिए, कुछ लोग अध्यात्म की ओर रम गए, कुछ लोग फ़कीर बनकर सत्य के क़रीब होने की दावा करते हैं, कुछ लोग रंगों-रेखाओं के माध्यम से उसकी खोज करते-करते कला सृजन में लीन हैं-ऐसे ही साधकों, चिंतकों, कलाकारों में एक नाम है गोगी सरोज पाल का। गोगी सरोज पाल लगभग पांच दशकों से कला के उस सत्य को खोज रही हैं जिसे मिलने के बाद थोड़ा सुकून महसूस होता है, थोड़ा ठहराव आता है लेकिन गोगी हर दिन, हर क्षण, रंगों, आकारों, अंतराकारों में खोई रहती हैं।

गोगी सरोज पाल ने कई चित्र-शृंखलाओं का सृजन किया है जिसमें समय एवं समाज की आवाज़ अनुगुंजित होती है। प्रतीकात्मक रंगों एवं आकारों के ज़रिए सृजित आकृतियां दर्शकों की संवेदना को आहिस्ता-आहिस्ता कुरेदने के साथ ही मानस-पटल पर सवाल भी छोड़ती हैं जिससे हम बार-बार टकराते हैं। उसकी तह में जाने की कोशिश जारी रहती है। उनकी आकृतियों की सरल बनावट एवं रंगों की कोमलता शीतलता प्रदान करती हैं।

भारतीय समकालीन कला को समृद्ध करने तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने वाले चंद वरिष्ठ कलाकारों में गोगी अगली पंक्ति में हैं। उनकी कलाकृतियों की एकल एवं सामूहिक प्रदर्शनियां देश-विदेश में होती रही हैं। उन्हें देश के विभिन्न कला संस्थानों के अलावा ललितकला अकादमी, नई दिल्ली द्वारा राष्ट्रीय सम्मान से नवाज़ा जा चुका है। मिज़ाज से हंसमुख सहज स्वभाव लेकिन सृजन के प्रति गंभीर जोगी जी से प्रस्तुत है बातचीत-

प्रश्न : **जब मैं आपकी कलाकृतियों का अवलोकन कर रहा हूं तो विषयों में विविधता दृष्टिगत होती है। मैं सबसे पहले आपके जन्म-स्थल एवं बचपन के बारे में जानना चाहता हूं ताकि स्पष्ट हो सके कि इतनी विविधता कैसे संभव हुई?**

उत्तर : अरे ...इस संदर्भ में बताने के लिए तो मुझे खुद बचपन की यादों में जाना पड़ेगा। अतीत के वातायन में जब हम झांकते हैं तो कुछ धुंधले अस्पष्ट तो कुछ स्पष्ट दृश्य दृष्टिगत हो रहे हैं। मन की आंखों से उन दृश्यों



को निहारती हूं तो आज भी, रामपुर नगरिया की गलियां, छोटे-बड़े मकान और हरी-भरी धरती दिखाई देती है। मेरा जन्म 3 अक्टूबर 1945 ई. को हुआ था। तब हमारे परिवार के सदस्य न्योली, उत्तर प्रदेश में रहते थे। न्योली को जब से मैंने देखना या समझना शुरू किया तो साझी-संस्कृति दृष्टिगत हुई। मेरे अगल-बग़ल देश के विभिन्न प्रांतों के विभिन्न लोग रहते थे। इसका मुख्य कारण था कि उसी समय देश आज़ाद हुआ था और आपाधापी, भागदौड़ तथा रोज़ी-रोटी के चक्कर में लोगों को जहां सुविधा मिलती, बस जाते थे। ऐसे में न्योली में चीनी मिल होने के कारण अलग-अलग क्षेत्रों से लोगों ने आकर जीवन जीना शुरू किया था। न्योली ऐसी जगह थी जो आदर्श भारत का प्रतिनिधित्व करती थी। अनेकता में एकता। वहां कोई जातिवाद नहीं था। जो आपके आस-पास है, आपके सुख-दुख में शामिल है, वही अपना है... न कोई भाषा न कोई रंग। सब अपने थे। लगभग पांच साल वहां रहने के पश्चात यमुना नगर, जगादरी स्टेशन चीनी मिल में पिताजी का तबादला हो गया। अतएव हम सभी भाई-बहन यमुना नगर चले आए। यमुना नगर का पहले नाम अब्दुल्लापुर था।

अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में भी बताएं।

मेरे ऊपर मेरी दादी का असर बहुत पड़ा। यूं कहें तो दादी की गोद में सोते, बैठते और क़िस्सा-कहानी सुनते-सुनते बड़ी हुई। उनसे जब कभी बातें

होती तो दादी अपने जीवन के अनुभवों को पन्ना-दर-पन्ना पलटती जाती और हम सभी सुनते-सुनते आगे की घटना जानने के लिए उन्हें उकसाते... गुदगुदाते। दरअसल, दादी की अपने जीवन की लंबी कहानी है। एक अलग कृतित्व एवं व्यक्तित्व था उनका। दादी मां हिमाचल प्रदेश के छोटे से गांव से थीं। उनकी शादी पांच वर्ष की उम्र में हो गई थी लेकिन घर-परिवार के सहयोग एवं उनकी उत्सुकता के कारण कुसीपुर तथा लाहौर से पांचवीं की परीक्षा पास की। 1901 ई. में कुइटा में भूचाल आया था। बहुत सारे लोग मर गए थे। भयावह स्थिति थी। लोगों के रहने-खाने का कोई आश्रय नहीं था। तब दादी ने लाहौर में लड़कियों के लिए अनाथालय खुलवाया था। उन्होंने सेवा भावना के तहत औरतों के बीच शिक्षा का प्रचार किया। आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे दर्जनों क्रांतिकारियों का आना-जाना था दादी के पास। यूं समझिए कि अंग्रेजी सरकार में मेरा परिवार वांटेड रहा जिसके कारण कभी हिमाचल, कभी पंजाब, कभी लाहौर तो कभी...। अंततः उत्तर प्रदेश में आकर बसर किया। मेरे पिताजी दो भाई थे। ताऊ (यशपाल) हिंदी के प्रसिद्ध लेखक थे और पिताजी चीनी मिल में नौकरी करते थे।

आपकी प्रारंभिक शिक्षा कब शुरू हुई और अनुभव कैसा रहा?

दादी के कारण घर में पढ़ने-लिखने का माहौल था। हर दिन सुबह-सुबह वह अख़बार पढ़ने बैठ जाती थीं। अख़बार में छपे चित्रों एवं मोटे-मोटे अक्षरों को मैं निहारती रहती थी। पढ़ने में अन्य बच्चों की अपेक्षा मैं अच्छी थी। क्लास में जब मेरा दाख़िला हुआ तब मैं किताब पढ़ लेती थी। मुझे अक्षर ज्ञान दादी मां से मिला था। इसके कारण उसी समय से मेरे भीतर आत्मविश्वास बन गया था। मेरे स्कूल के ज्यादातर शिक्षक रिटायर्ड आर्मी (जो द्वितीय विश्वयुद्ध में शामिल हुए थे) थे। अतएव अनुशासन रहा विद्यालय में। इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय अनुभवी शिक्षकों से हम लोगों को बहुत जानकारियां मिलीं।

फिर आपके भीतर कला के बीज कैसे अंकुरित हुए?

जब विद्यालय में पढ़ रही थी तभी मैं टॉल्सटाय, गोर्की, प्रेमचंद आदि रचनाकारों की रचनाएं पढ़ चुकी थी। पढ़ने में मेरा मन खूब लगता था। बड़े ताऊ साहित्यकार थे अतएव घर में किताबों की कमी नहीं थी। स्कूल में प्रार्थना के बाद थोड़ी देर के लिए सभी शिक्षक एवं विद्यार्थी एक साथ बैठते थे। उस समय कोई भी विद्यार्थी कोई भी सवाल, जो उसके दिमाग़ में बनता, वह पूछ सकता था। एक दिन मैंने सवाल किया कि सर आप लोग बोलते हैं कि हिंदी, गणित, विज्ञान, इतिहास के साथ ही ललित कला और खेलकूद भी जरूरी है क्योंकि इससे सर्वांगीण विकास होता है। परीक्षा के समय सभी विषय 100 अंकों के होते हैं लेकिन ललितकला और खेलकूद 50 अंकों के होते हैं, ऐसा क्यों? जब सब बराबर हैं तो इन्हें भी 100 अंकों का होना चाहिए। तत्समय सोचने-विचारने के बाद उन्होंने कहा कि तुम सही बोल रही हो लेकिन इसका जवाब मैं तीन महीने बाद दूंगा। मैं कोशिश करूंगा कि वह भी सौ नंबर का हो, बराबर का हो। प्रधानाचार्य ने शिक्षा विभाग को पत्र लिखकर इससे अवगत कराया लेकिन संभव नहीं हो सका। अंततः तीन महीने बाद उन्होंने कहा-बेटा हमसे संभव नहीं हो पाया। तुम पढ़-लिखकर कुछ ऐसा करना या ऐसी पढ़ाई पढ़ना जहां इसकी तुलना बराबरी से की जाती हो। तब से मेरे मन-मस्तिष्क में कला के प्रति उत्सुकता बढ़ती गई। मन ही मन मैं इसके संदर्भ में सोचती रही थी।

सहज रूप से कला क्षेत्र की ओर मुड़ गईं या कुछ संघर्ष करना पड़ा?

सहज रूप से तो नहीं आई। सबसे पहले घर-परिवार में संघर्ष करना पड़ा। विद्यालय की परीक्षा समाप्त होने के पश्चात पिताजी चाहते थे कि मैं इंजीनियर बनूं। पढ़ने में अच्छी होने के कारण उन्हें उम्मीद थी कि मैं इंजीनियरिंग कर लूंगी। मैं एक दिन दादी के कमरे में गई। वह लेटी हुई थीं। बातचीत के दौरान मैंने उनसे कहा कि मैं चित्रकार बनना चाहती हूं। मैं पापा और ताऊ की तरह नहीं बनना चाहती, मैं गोगी बनना चाहती हूं। उस समय दादी कुछ देर के लिए परेशान हो गईं। उठकर बैठ गईं। तनिक देर बाद मेरे माथे को सहलाते हुए बोलीं-तुम्हें जो बनना है, बनो, लेकिन ईमानदारी, हौसला और मेहनत करके बनो। मैं तुम्हें मदद करूंगी। अंततः कला की विधिवत शिक्षा के लिए वनस्थली, जयपुर, राजस्थान चली गई।

वनस्थली में कितने वर्ष रहीं? उस समय वहां का माहौल कैसा था? कला की पूरी पढ़ाई वहीं से हुई या किसी दूसरे संस्थान में भी जाना पड़ा?

1961 ई. में मैंने अपना नामांकन वनस्थली, जयपुर में कराया। उस समय वहां शिक्षक के रूप में देवकीनंदन शर्मा थे जो शांतिनिकेतन से पढ़कर आए थे। वहां रहने के क्रम में मैंने खूब मेहनत की। पुस्तकालय से कला की किताबें पढ़ने के बाद कला के वृहद क्षेत्र की जानकारी मिली। राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर को समझा। वहां रहते हुए आस-पास के गांवों में जाकर लोगों के स्कैच बनाने लगी। यह बात वहां के शिक्षकों को पसंद नहीं थी। वहां का माहौल खुला नहीं था। वहां बंधन था। हालांकि वहां एक साल रहकर वनस्थली एवं राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट से कोर्स कंपलिट किया। एक शिक्षक कहने लगे कि भारत में अमृता शेरगिल आर्टिस्ट बन गईं अब कोई नहीं बन सकती। यह बात मुझे चुनौती जैसी लगी। उधर पिताजी की चिट्ठी आई कि आर्टिस्ट बनने का निर्णय तुम्हारा है अतः सारी ज़िम्मेदारियां तुम्हारी है। जब तक तुम पास करती जाओगी, तब तक पढ़ाऊंगा। जब फेल कर जाओगी तो पढ़ाई बंद। तब मैंने पत्र के माध्यम से यशपाल जी को अवगत कराया। उन्होंने लिखा कि तुम लखनऊ चली आओ। उनके कहने पर 1962 में मैं लखनऊ कला महाविद्यालय में चली आई और 1967 तक वहां रहकर पढ़ाई पूरी की। पढ़ने के क्रम में बाहर होने वाली चित्र प्रदर्शनियों में मेरी भागीदारी शुरू हो गई। कई प्रदर्शनियों में पेंटिंग भेजी।

जब आप कला क्षेत्र में आईं तो उस समय भारतीय-कला परिदृश्य कैसा था? फ्रीलांस रहकर सृजन करने का निर्णय आपने कब लिया, दिल्ली कब आईं?

लखनऊ से कला की पढ़ाई जब मैंने पूरी की तभी घर एवं परिचित लोग चाहते थे कि मैं लेक्चररशिप ज्वाइन कर लूं। एक महाविद्यालय की प्रधानाचार्या ने कहा भी लेकिन मुझे कलाकार बनना था। बड़े ताऊ बोले-कला की पढ़ाई पूरी हो गई अब कहीं नौकरी कर लो। तब मैंने उनसे कहा कि अभी तक मैंने जो भी पढ़ा है वह क्राफ्ट है मुझे कला सृजन करना है। मैं फ्रीलांस रहकर करूंगी। फ्रीलांस रहकर कार्य करते हुए मैंने उन्हें भी देखा था। उसके बाद 1968 में वोकेशनल पोस्ट ग्रेजुएशन कोर्स के लिए मैं दिल्ली चली आई। उसी दौरान अनुपम सूद से मुलाकात हुई वह भी साथ में पढ़ रही थीं। उस समय भारतीय कला का विकास इतना नहीं हुआ था। समाज में इसका महत्त्व कम था। कला दीर्घाएं दो-तीन ही थीं। कुल मिलाकर संघर्ष तो था ही। कला के ज़रिए कला-रचना और जीवन-यापन करना कठिन था। फिर भी धीरे-धीरे सबकुछ सकारात्मक होता गया।

भारतीय समाज में औरतों का चितेरी बनना वाक़ई मुश्किल है या सिर्फ़ तरह-तरह की अफ़वाहें हैं? भारतीय समाज को आप आप किस रूप में देखती हैं?

हमारे समाज का जो ढांचा है, जो दायरा है, तरह-तरह के बंधन एवं सीमाएं हैं, उसे तोड़कर ही हम कुछ नया कर सकते हैं। मैंने कोशिश की उसे तोड़ने की। वैसे मैं आपको बताऊं कि कलाकार बनना ही अपने-आप में कठिन है। जीवन के बहुत सारे सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अनुभव आपके पास होने चाहिए। साथ ही जिस समाज में जी रहे हैं उस समाज में अपनी बात रखने की हिम्मत भी होनी चाहिए क्योंकि रामायण-गीता की तरह सुनते-सुनते लोग सहज नहीं हुए हैं। सहज बनने और बनाने के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ेगी।

औरत होने के नाते आपके चित्रों के विषय महिला-संबंधित हैं या सृजन के पश्चात उससे जोड़ देती हैं?

सबसे पहले तो ये जानिए कि मैं फेमिनिस्ट (महिलावादी) नहीं हूं। समाज में स्त्री-पुरुष के महत्त्वों को मैं अच्छी तरह समझती हूं। दोनों की अपनी अलग भूमि है जिसका निर्वाह दोनों करते हैं। रही बात चित्रों के विषय की तो मेरा मानना है कि कलाकृतियां स्वतः स्फूर्त तरीके से जन्म लेती हैं जो चेतन या अवचेतन रूप में जीवन अनुभव के सहारे दिलो-दिमाग़ में संग्रहित हैं। बनावटीपन या ज़ोर-ज़बरदस्ती की कोई जरूरत नहीं है।

पुरुष कलाकार जब किसी महिला विषय पर चित्र सृजित करता है और उसी विषय पर महिला कलाकार भी चित्र सृजित करती है तो दोनों की चित्राकृति में मूलतः अंतर क्या होता है?

किसी भी विषय पर जब कोई कलाकार चित्र-सृजन करने बैठता है तो सबसे पहले उससे संबंधित जीवन-स्थितियां मानस पटल पर उभरती हैं। एक चिंतन-क्रिया जारी रहती है। काफी द्वंद्व के बाद वह मूर्त रूप में आकार पाती है। ऐसे में संभव है कि उसमें निजता होगी क्योंकि जो जीवन उसने जीया है, देखा है, पढ़ा है, समझा है उसी से संबंधित वह अपना पक्ष रख पाएगा। ऐसे में एक स्त्री, पुरुष की बात तो दूर है, जितने कलाकार उस विषय पर चित्र-सृजित करेंगे सबकी दृष्टि सबकी कल्पना अलग-अलग होगी। जितने हाथ, उतनी आकृतियां।

चित्र-रचना के लिए आप रॉ मैटिरियल (कच्चा माल) कहां से लाती हैं तथा उसे चित्र रूप में कैसे ढालती हैं?

अगर हम ईमानदारी से समाज में जी रहे हैं, देख रहे हैं, मंथन कर रहे हैं तो कच्चा माल या चित्र-विषय इसी समाज से मिलते हैं। आप कब, कहां और कितने संवेदित होते हैं या परेशान होते हैं-यह भी एक रास्ता है उस विषय तक पहुंचने का। मैं एक बात बता रही हूं-मेरे घर जो लड़की मार्केटिंग करती है, उसका नाम रेखा शर्मा है। वह कुछ महीने से जब कभी बाज़ार से आती थी तो भुनभुनाती रहती थी। एक शाम मैंने उससे पूछा क्या हुआ? तब वह प्याज और आलू की महंगाई तथा जन मानस में उसकी उपयोगिता को लेकर बातें करने लगी। यह सत्य भी है कि आज भी बहुत सारे लोग आलू-प्याज के सहारे जीवन चलाते हैं। कुछ नहीं तो प्याज, नमक और हरी मिर्ची के साथ दो रोटी...। यह सुनकर मेरा माथा ठनक गया। प्याज-आलू को केंद्र में रखकर पूरी शृंखला बनाई और अपनी तरह से अपना विचार रखा। कई बार आम लोगों के बीच जाकर उनके जीवन से रू-ब-रू होकर विषय लाते हैं। उसके पश्चात अपने ढंग से कैनवस पर उसे रखते हैं। उस दौरान विषय का स्थानांतरण, हम क्या कहना चाहते हैं, उसके आधार पर करते हैं। जैसे सिर्फ़ एक आलू-प्याज भी रख सकते हैं, बहुत सारा भी रख सकते हैं। चित्र-संयोजन तात्कालिक मन पर निर्भर करता है।

चित्राकृति में विचार, यथार्थ एवं कल्पना की भूमिका कितनी होती है?

इसका कोई निश्चित औसत नहीं होता। विषय एवं फॉर्म के ऊपर निर्भर करता है कि किस पक्ष को कितनी प्राथमिकता दी जाए। जो हम कहना चाहते हैं, उसका प्रभाव पैदा हो सके तथा लोग भी उसे आत्मसात कर सकें, इसका ध्यान हमेशा रहता है। एक घटना है, आज़ादी के बाद 1954 ई. में सरदार भगत सिंह के जीवन पर एक फिल्म बनी थी। घर के सभी सदस्य उसे देख आए। तब भगत सिंह की मां मेरे घर आईं। वैसे उनका आना-जाना हमेशा रहा है। हम लोग उन्हें बेबे कहते थे। उनके साथ मैं फिल्म देखने गई। फिल्म देखने के क्रम में ही वह बोलने लगीं-अरे यह ग़लत दिखा रहा है। कई दृश्यों पर आपत्ति व्यक्त करने लगीं। फिल्म देखकर जब घर आईं तो पिताजी से कहने लगीं कि बहुत गलत है। बहुत झूठ है। तब पिताजी ने उन्हें समझाया कि फिल्म या कला में ट्रूथ एवं फैंटेसी का होना जरूरी होता है। यानी यथार्थ एवं कल्पना के माध्यम से कला बनती है। रचना-धर्मिता की अपनी प्रक्रिया होती है। तब से ही मेरे दिमाग़ में है कि आवश्यकता के अनुसार यथार्थ, विचार और कल्पना का समावेश होना चाहिए।

रंगों का चुनाव आप कैसे करती हैं? रंगों की महत्ता के संदर्भ में भी बताएं।

इसका कोई सीखा-सिखाया व्याकरण नहीं है। जब आकृतियां संयोजित हो जाती हैं तब उसके अंतर या वाह्य स्वरूप तथा अर्थ के अनुरूप रंगों का इस्तेमाल करते हैं। हर आकृति हर रचना के समय एक अलग अनुभूति होती है। रंग को कितना पकाना है, कितना तपाना है और कितना हल्का रखना है, हर बार इसका तरीका बदलता रहता है। कभी-कभी पेंटिंग की साईज़ के अनुसार भी रंगों के शेड्स को घटाना-बढ़ाना पड़ता है। रंग-रोग़न को समझना बहुत जरूरी हो जाता है। यदि तालमेल नहीं बैठा तो उसका असर नकारात्मक भी हो जाता है।

आप अपनी चित्र-शृंखलाओं के बारे में बताएं।

शुरू से अभी तक कई चित्र-शृंखलाओं का सृजन मैंने किया। जब-जब जिन-जिन विषयों या स्थितियों से संवेदित हुई या मुझे प्रभावित किया तो उसकी तह में पहुंचने एवं उसे मूर्त रूप में ढालने की कोशिश करती हूं। शृंखलाबद्ध कृतियों में मुख्यतया-स्टील लाइफ, कोर्ट, जानवर, बच्चे, विस्थापन, चोरनी, डिफ़रेंट रियलिटी, स्टोरी एंड स्टोरी टेलर, डांसिंग हॉर्स, सिंहावलोकन, नटी विनोदनी, कामधेनु इत्यादि। इसी तरह 'ए पेज फ्रॉम फेमिली एलबम' के माध्यम से हमारे एलबम में संग्रहित फोटो जिसका सरोकार कई जीवित-मृत व्यक्तियों से है, जिसका सीधा संबंध हमारी ज़िंदगी से है। कैसे हम उन तस्वीरों के माध्यम से व्यक्ति-विशेष के कारनामों से अवगत होकर संवेदित हो जाते हैं, को दर्शाया। फ़िलवक्त सम्राट अशोक की बेटी संघमित्रा को केंद्र में रखकर चित्र-शृंखला बना रही हूं।

कला में अमूर्तन एवं सौंदर्य की भूमिका कितनी होती है और आप उसे किस रूप में देखती हैं?

जो चीज दिखती नहीं वह अमूर्त है। आइडिया अमूर्त है। जानकारी अमूर्त है लेकिन जब वह कैनवस पर उतरती है तो वह मूर्त हो जाती है। अमूर्त को ही आप रूप देते हैं। जब वह रूप में आ गई तो फिर अमूर्त नहीं है। सौंदर्य अमूर्त है। कहते हैं कि सत्यम, शिवम्, सुंदरम्-जानना सत्य है लेकिन सत्य के बहुत डाइमेंशन हैं। वह हर कोण से अलग दिखाई देता है। हम बार-बार उस सत्य की खोज में लगे रहते हैं। कभी-कभी उसमें डूब जाते हैं। लीन हो जाते हैं तब सत्य के क़रीब पहुंचते हैं।

कला की नई विधा इंस्टालेशन आर्ट को आप किस रूप में देखती हैं?

आप इसे नई विधा कह रहे हैं लेकिन मेरा मानना है कि इसका संबंध हमारी लोक परंपराओं, रीति-रिवाजों, संस्कारों से है। आप देखेंगे कि लोक त्यौहारों में कई तरह के पंडाल, मंडप, वस्तु-संयोजन होते हैं जो इससे संबंधित हैं। गांवों के विभिन्न क्षेत्रों में अगर आप भ्रमण करें तो कई कलाकृतियां ऐसी मिल जाएंगी जिसमें विशालता होगी। आप आश्चर्य करेंगे कि इतनी अच्छी कलाकृति उनके हाथों सृजित हुई है। यह अलग बात है कि आज उसे हमने 'इंस्टालेशन आर्ट' नाम देकर आर्ट की नई विधा के रूप में रख दिया।

जहां तक मुझे जानकारी है कि 1982 में त्रिणाले प्रदर्शनी में आपने अपनी कई कलाकृतियों को संयोजित कर बड़ा आकार दिया था-'भारत में इंस्टालेशन आर्ट का पदार्पण भी उसी समय से हुआ है। उस कलाकृति के संदर्भ में बताएं।

सही है...बात यह थी कि ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा त्रिणाले, भारत में मुझे आमंत्रित किया गया था। पत्र में 16 फीट रनिंग दीवाल की चर्चा की गई थी। यानी एक कलाकार को उतनी जगह मिलेगी। 16 फीट रनिंग दीवाल से ही मेरे दिमाग़ में आइडिया आया कि दीवार हमारे जीवन-गाथा, जीवन-संघर्ष एवं जीवन अनुभव की साक्षी है। हम अपना ज्यादातर समय दीवार के आस-पास अगल-बग़ल गुज़ारते हैं। हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाप्त हो जाते हैं लेकिन हमारी कहानी दीवार के गर्भ में सुरक्षित रहती है। न जाने कितनी सिसकियां, दर्द, खुशी और ग़म उसकी मिट्टी में सम्मिलित हैं। दीवार पर कितने लोगों की अंगुलियों का स्पर्श हुआ है। कितनों के स्पर्श की गंध धूल-कण बनकर उसमें सिमटी है। आप दीवार को धीरे-धीरे कुरेदिये तो आपको अलग अनुभूति होगी। अगर आप महसूस कर सकें तब। उसका शीर्षक था 'यादों की दीवार'। उसमें कई कलातत्वों का प्रयोग किया गया था।

बाज़ार के कारण सृजन कितना प्रभावित हुआ है, कला के लिए बाज़ार का होना कितना जरूरी है?

पहले तो देखने वाली बात यह है कि किसकी क़ीमत कितने दिनों-वर्षों में प्रक्रिया से बढ़ी है। यह व्यक्तिगत तौर पर निर्भर करता है कि हम उससे कितना प्रभावित होते हैं। हम उतना ही जाएं जिससे हमारा सृजन अनवरत जारी रहे। अगर बाज़ार से बिल्कुल अलग रहते हैं तो कलाकारों का भी जीवन है, उसे जीने तथा सृजन करने के लिए भी आर्थिक जरूरतें हैं। मैं कई ऐसे कलाकारों को जानती हूं तथा पढ़ी हूं कि उनका जीवन आर्थिक रूप से कमज़ोर रहा। स्थिति यह रही कि बच्चों एवं परिवार वालों का समय पर इलाज नहीं हो सका। कम से कम वह स्थिति नहीं आनी चाहिए। बाज़ार के कारण ढेर सारे कलाकार अधिक से अधिक माध्यमों में सृजन कर रहे हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि व्यक्तिगत रूप से मैं क्या कर रही हूं।

आपको पढ़ने-लिखने का शौक भी है। कला-सृजन के साथ-साथ आपने लेखन भी किया है।

घूमने-फिरने के दौरान कई घटनाएं एवं पात्र ऐसे मिल जाते हैं जो रंगों-रेखाओं के बदले शब्दों की मांग करते हैं। मुझे लगता है कि उसे कथा-कहानी के फॉर्म में ढाला जाए तो ज्यादा बेहतर होगा। तब उसे कहानी-रूप में लिखती गई। उन कहानियों का संग्रह 'फूलकारी' नाम से प्रकाशित हुआ है। ज्यादातर कहानियां औरतों की जीवनगाथा, संघर्ष एवं सपनों को लेकर हैं। ❑

संपर्क : जी-52 बी, तृतीय तल, गली नं. 16, जगतपुरी, दिल्ली-110051

हमारे नए प्रकाशन



केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
ले. नंदकिशोर नंदन, (पेपरबैक),
पृ. 172, मूल्य : 120 रुपये
ISBN : 978-81-230-1890-4



उपेन्द्रनाथ अश्क : जीवन और सृजन
ले. से. रा. यात्री, (पेपरबैक)
पृ. 279, मूल्य : 160 रुपये
ISBN : 978-81-230-1837-9



पर्यावरण संरक्षण चुनौतियां और समाधान
ले. पी.एस. गोपीनाथन नायर, (पेपर बैक),
पृ. 291, मूल्य : 200 रुपये
ISBN : 978-81-230-1864-5



Nutty Friends & Other Stories
Author : Anita Chanda, Deepak Chanda
(Paperback), Page : 83, Price : Rs. 90
ISBN : 978-81-230-1852-2

पुनर्मुद्रण



ग्रह नक्षत्रों की आत्मकथाएं
ले. उषा पुरी विद्यावाचस्पति, (पेपर बैक),
पृ. 72, मूल्य : 70 रुपये
ISBN : 978-81-230-1867-6



रज़िया सुल्तान
ले. रश्मि स्वरूप जौहरी, (पेपरबैक)
पृ. 34, मूल्य : 70 रुपये
ISBN : 978-81-230-1891-1



शमशेर बहादुर सिंह
संकलन, (पेपर बैक),
पृ. 139, मूल्य : 95 रुपये
ISBN : 978-81-230-1796-9

गुजराती कविताएं : **यज्ञेश दवे**

अनुवाद : **जेठमल मारू**

घरेलू कविता

मैंने कहा
'आज कुछ पढ़ा-लिखा नहीं
दिन पूरा बेकार गया
तुमने क्या किया?'
वह बोली
'मैंने तो बबु के बटन टांके
बग़ीचे में से बेल के पीले पत्ते खंखेरे
रोटी सेकते समय उसकी गंध सूंघी
पिछवाड़े कूंडी के नल के पास
तोतों को सुना
यों ही थोड़ी देर बैठी
और तुम्हारी राह देखी'

एक मामूली से दौर में
यह कामरू देश की नारी
बना देती है मुझे
क्षण में पशु
तो क्षणेक में शिशु

समय बीतते
संतानें पक्षी हो जाती हैं।

पत्र ... यहां

शाम ढले
थका-हारा घर लौटता हूं
पौरी खोलकर देखता हूं
आज तो किसी का पत्र होगा ही;
पर ...
लड़खड़ाते क़दमों से
दरवाज़ा खोलने लगता हूं
तभी ही आंगन के पीपल का
एक नक्काशीदार पत्ता खिर पड़ता है
ऐन मेरे पैर के पास ही!

जल चित्र

टप
टपाटप
टप
टप
जल झरता-सूने सिवान पर, खेत पर
खेत के बीच खड़े हुए वटवृक्ष पर
वटवृक्ष के
नगारे जैसे एक-एक पत्ते पर

धातिर तिरकिट धातिर तिरकिट धातिर
तिरकिट
आषाढ़ का मेघ
धाधाधा धोधोधो धाधाधा धोधोधो
धारा-धारा गाए।

❑

वहां देखो सरोवर जल में छपाक से
नहाने गिरा
सामने खड़ा पर्वत, सरोवर तट और तट पर
वन सारा ही
और होता है मध्याह्न को जल स्तब्ध
निस्तरंग
झिलमिल-झिलमिल जल में झलकता
आकाश सारा
उस ओर उड़ती चील
जल की छाती नील।

❑

जल मेरी प्रिया
एक-एक तह उखेलती
मेरी नग्नता को छूती।

❑

देखा करता हूं
डोल के जल को घंघोलता शिशु और
प्रथम वर्षा के बाद के खुलेपन में
ललछौंहे गड्ढे में जान-बूझकर
पैर छपछपाते किशोर को।

❑

समुद्र तट पर जल भरी एक सीप
जैसे झिलमिलाती आचमनी
इतनी-सी ऐसी सीप में आकाश ने ऐसा
क्या देखा?
कि खेलने उतर आया!

❑

शाम को हल्के-से प्रकाश में
नदी के जल में हल्के-से उतरा
भैंस का झुंड और हो गया जल।

❑

याद आती है
दूर कहीं ढलान में
झरने की अस्पष्ट ध्वनि वहा करती है
घाटी में
ढलान वाली तृप्त घास की गंध से भारी
भीनी-भीनी भरी-भरी
अरण्य की रातें।

❑

अमावस की रात में
जल में डाला जाल
खींचू-खींचू तब तो उसमें
ढेर-ढेर सारे तारों का भार।

हार

वे कहते हैं
कि
झाड़ी वाले सात तीतरों की अपेक्षा
हाथ में का एक तीतर बेहतर
पर
मैंने तो हाथ के एक तीतर को भी
उसका आकाश खोजने उड़ा दिया है
मुक्ति के द्वार जैसे समुद्र को देख
मैंने धरती की मोह-माया छोड़ दी है
आकाश को छोड़ने के बाद समुद्र में लंगरा
कर रहा नहीं
तो कभी
कई बार खिड़की के आकाश में से भी
शून्य का अहसास होने पर
उड़ गया हूं अवकाश में!

संपर्क : कवि : आकाशवाणी, मकरपुरा, वडोदरा (गुजरात)
अनुवादक : जेठमल मारू, 2-ए-2, पवनपुरी, बीकानेर

घर से होगी शुरुआत

मालिनी अवस्थी *से* ***रेणु खंतवाल*** *की बातचीत*

लोक गीतों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने का काम सबसे ज्यादा महिलाओं ने ही किया है। अगर यूं भी कहें कि लोक गीत परंपरा की वाहिनी महिलाएं ही रही हैं तो भी गलत न होगा। लेकिन आज जिस आधुनिक समाज में हम रह रहे हैं और आधुनिक बनने की होड़ में पुरानी चीज़ों को विसराते जा रहे हैं वह हमारी इस लोक गीत परंपरा के लिए बहुत ज्यादा नुकसानदायक स्थिति है। जिस प्रकार धीरे-धीरे हमारा समाज आधुनिक रंग में रंगता जा रहा है और सोलह संस्कारों में से भी कई



संस्कार अब लुप्त हो चुके हैं। विवाह जोकि एक समारोह की तरह आयोजित किया जाता था और लगभग पांच से सात दिनों तक चलता था अब एक इवेंट बनकर रह गया है। जिसमें फिल्मी आइटम नम्बर ही बजते हैं और उस पर बच्चे तो बच्चे, बुर्जुग भी नाचते हुए पाए जाते हैं। क्या यह कम बड़ा संकेत है कि धीरे धीरे हमारी लोक गीत परंपरा लुप्त हो रही है? जानी-मानी लोक गायिका मालिनी अवस्थी से हमने इसके कारणों पर विस्तार से चर्चा की। क्या कहती हैं मालिनी अवस्थी, आइए जानें-

लोग गीत परंपरा धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। ऐसा क्यों हो रहा है?

सबसे बड़ा कारण मुझे लगता है संयुक्त परिवारों का टूटना। अब जब बहू सास के साथ रहना ही नहीं चाहती, शादी के बाद पति के साथ ही अलग रहना चाहती है। जब बहुओं ने सास के साथ रहना छोड़ दिया। जब पोती को दादी का साथ मिला ही नहीं, उसने दादी से परंपराओं को जाना ही नहीं। दादी के साथ वह कभी सोई ही नहीं जो लोरियां सुन पाती। गीत सुनती। ऐसे में हमारी नई पीढ़ी को कैसे पता चलेगा कि हमारा लोक संगीत क्या है?

दूसरी वजह यह है कि अब समय बहुत बदल चुका है। हमारा लाइफ़स्टाइल भी बदल चुका है। अब औरतों के लिए भी पढ़-लिखकर नौकरी करना, आत्मनिर्भर बनना जरूरी हो गया है। नौकरी करने के लिए शहर जाना जरूरी हो गया है, ऐसे में कई बार मजबूरी में भी संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। पहले जहां चार बहुएं साथ रहा करती थीं और घर में कोई आयोजन होता था तो घर के ही इतने लोग हो जाते थे कि सब मिल कर छोटे-छोटे आयोजनों को भी उत्सव की तरह मनाया करते थे। घर में अनुशासन ऐसा हुआ करता था कि यदि किसी बहू का गला सुरीला नहीं है तो भी सास ने बोल दिया कि गाना है, तो गाना है। मना करने की हिम्मत नहीं थी किसी की। साथ बैठकर बेसुरा ही सही सब गा ही लिया करती थीं। उस चक्कर में गीत तो सबको याद हो ही जाते थे। दूसरा, साथ मिलकर गाना-बजाना भी हो जाता था। परिवार की सब लड़कियां, बहुएं मिलकर तीज त्योहारों पर खूब गाती-बजाती थीं। कुछ बेसिक वाद्ययंत्र सभी के घर पर हुआ करते थे और महिलाएं खुद इन्हें बजाया करती थीं। न जाने कितनी ही रसमें और हर रसम पर गीत, चाहे कुंआ पुजाई, मंडप गीत, माई सिराने का गीत, हल्दी पिसाई का गीत, हर रस्म से गाना जुड़ा है। रसम है तो गाना है। ऐसा लगता था कि गाने से रसम चल रही हैं और रसम से गाना चल रहा है।

अब तो शायद शादियों में रसमें भी पूरी नहीं होतीं। हर कोई जल्दबाज़ी में है कि जल्दी-जल्दी करो। इस भागमभाग में हम इतने आगे बढ़ चुके हैं कि अब तो वह पीढ़ी ही धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है जो इन सब रस्मों के बारे में बताएं कि कब आगे कैसे क्या रसम अदा की जाएगी।

इस माहौल के लिए कौन जिम्मेदार है। किसका दोष ज्यादा मानती हैं?

सभी इसमें शामिल हैं। अपनी लोक परंपरा को आगे लेकर जाना सभी की जिम्मेदारी है। लेकिन इस माहौल के लिए मैं बुर्जुगों को भी दोषी मानती हूं। हम कहते हैं कि कोई भी पुरानी चीज़ तब तक नई रहती है जब नई पीढ़ी उससे खुद को रिलेट करे और उससे सीखे। हम बड़ों से ही तो सीखेंगे। जब बड़ों ने सिखाने से पहले ही यह कहना शुरू कर दिया कि आजकल के बच्चे बस फिल्म के ही गानों पर नाचते हैं। बस फिल्मी गाने ही गाते हैं, हमारे गाने कहां सुनेंगे? सुनाने से पहले ही आपने खुद ही यह मान लिया कि आज की पीढ़ी नहीं सुनेगी। पहले यह सब चीज़ें

अधिकार के साथ होती थीं कि चलो सब बैठो यहां, पहले मंगल गीत होंगे। फिल्मी गीत बाद में, पहले देसी गाना-बजाना होगा। चलो पहले सब मिलकर पांच देवी गीत गाओ और उसके बाद शादी के गीत गाओ। छोटी बहू तुम नहीं गाती क्या? चलो गाओ। यह टोन होती थी पहले की बुजुर्ग महिलाओं की, जब वे बोलती थीं। लेकिन बीच का दौर ऐसा आया कि सास खुद ही अपने आधुनिक बच्चों के बीच संकोच करने लगी। चूंकि बच्चे उन्हें आउटडेटेड मानने लगे। इसमें दोनों पीढ़ियों का दोष है। मैं तो मानती हूं कि यदि घर में कोई माता-पिता बच्चों को यह संस्कार नहीं दे रहे कि यह हमारे लोक संस्कार हैं। यह हमारी परंपराएं हैं। इनका क्या महत्त्व है। इनका पालन क्यों करना चाहिए तो वे दोषी हैं। ग़लती उनकी है चूंकि वे अपने बच्चों को अपनी परंपराओं से दूर कर रहे हैं। कई बार मैं जब लोक गीतों के कार्यक्रम में जाती हूं तो सवाल करती हूं कि बताइए आज की पीढ़ी में कितने बच्चों ने गांव देखा है? तो बहुत ही कम लोगों के मुंह से निकलता है-हमने देखा है गांव। लोक संगीत महज़ गाने के बोल नहीं हैं। यह हमारी भावनाओं और संस्कारों से जुड़ी चीज़ें हैं।

एक और बड़ा कारण यह भी है कि अब लोगों के एक-दो बच्चे हैं। बेटे-बेटियां सब समान रूप से पढ़ने लगे। ऐसे में यदि कोई लड़की मेडिकल की पढ़ाई कर रही है और चौबीस में से बारह घंटे पढ़ रही है और उसके बाद उसे शादी के बाद नौकरी भी करनी है। घर के तमाम काम भी करने हैं तो उसके पास समय की कमी तो होगी ही। ऐसे में पुरानी सासों वाली पीढ़ी भी अलग-थलग पड़ने लगी है। इस समय उन सासों की संख्या ज्यादा है जो दिन भर टीवी सीरियल देखती हैं। ब्यूटी पार्लर जाती हैं। किटी पार्टी भी करती हैं। ताश भी खेलती हैं। इस प्रकार ७० से ८० के दशक में एक जो चलन तेजी से आया कि पुरानी चीज़ें छोड़ो और आधुनिक बनो, इस सोच ने हमारी लाइफस्टाइल को बहुत प्रभावित किया। लोक गीतों के धीरे-धीरे लुप्त होने और लोगों के जीवन से दूर जाने का एक बड़ा कारण यह भी है।

आप लोक गीतों से कैसे जुड़ीं?

जैसा कि मैंने आपको बताया कि शुरुआत घर से होती है। जैसा घर का माहौल व संस्कार होगा बच्चा वैसा ही सोचेगा, समझेगा। मेरी अपनी शुरुआत भी इसी प्रकार हुई। मेरी मां का सुर ठीक नहीं लगता था लेकिन ताईजी अच्छा गाती थीं। मुझे और मेरी बहन को गाना पसंद था, इसलिए घर में कोई भी आयोजन होता हम तो बैठते ही थे लेकिन ताईजी की आंखों में मां के लिए ऐसा आदेश होता था कि चलो बैठो और जैसा भी गाती हो गाओ। मेरे ताऊजी के सब लड़के थे, लड़कियां नहीं थीं। दूसरे ताऊजी की दो बेटियां थीं। वे ताईजी के डर से बैठकर बस यूं ही मुंह चला लिया करती थीं। इस प्रकार लोक गीत गाने का यह संस्कार हमें ताईजी से मिला चूंकि वह चाहती थीं कि लड़कियां गाएं।

आपने तो बाकायदा संगीत की शिक्षा भी ली है। उसके बारे में बताएं?

गाने की तरफ़ रुझान तो मेरा बचपन से ही था इसलिए मैंने शास्त्रीय संगीत की शिक्षा लेनी शुरू की। लेकिन मैंने शुरू से यह तय कर रखा था कि मैं परंपरागत लोक संगीत गाऊंगी जो दादी-अम्मा गाया करती थीं। बुआ गाती थी। गांव में खेत-खलिहान में किसान गाते हैं। इसलिए जब मैं अपनी गुरु विदुषी गिरजा देवी जी के संपर्क में आई, तो मेरे लोक संगीत के प्रति इस क़दर रुझान को देखते हुए उन्होंने मुझे सेहरा सिखाया, मुबारक बादियां सिखाईं। बन्नी सिखाई। टोना गाना सिखाया। टोना भी लोक गीतों की एक विधा है। टोना तब गया जाता है जब दूल्हा इतना सुंदर लगे कि कहीं कोई टोना न कर दे तो मां, चाची, ताई, बुआ सब टोना गाती हैं।

टोना के कई गीत हैं जैसे-

माई री मैं टोना करिहों, माई री मैं टोना करिहों
जब बन्ना मंडप जावै, माई री मैं टोना करिहो...।

इसी प्रकार जादू भी गाया जाता है। उसके बोल देखिए-

पूरब देस से आई गोरिया, अरे जादुआ डार गई रे....।

यह चीज़ें मैंने अपनी गुरु विदुषी गिरजा देवी जी से सीखीं और उसमें इज़ाफ़ा करती चली गई। अब यही दिली ख्वाहिश है कि ज्यादा से ज्यादा लोगों तक अपनी इस लोक गीत परंपरा को पहुंचा सकूं।

क्या इस स्थिति को सुधारा जा सकता है?

आज समस्या यह पैदा हो रही है कि बीच की पीढ़ी के अधिकांश लोगों ने उस समय कुछ सीखा नहीं। चूंकि बीच में एक दौर ऐसा भी आया जब लोग आधुनिक बनने के चक्कर में पुरानी चीज़ों को नकारने लगे। यह सब चीज़ें लोगों को पुरानी दादी अम्मा के ज़माने की लगने लगीं। लोगों को लोक गीत गाने में शर्म आने लगी, इन चीज़ों से जुड़ने में हीनता महसूस होने लगी।

जब भी मैं किसी कार्यक्रम में गाने के लिए मंच पर आती हूं तो इस बात को भी मंच से बोलती हूं कि आज के लोग बच्चों को मैनर्स तो सिखाते हैं लेकिन पहला मैनर्स यह सिखाते हैं कि अपनी भाषा के बजाए अंग्रेज़ी बोलना सीखो। जोकि बहुत दुख का विषय है लेकिन पिछले कुछ समय से मैं देख रही हूं कि मेरे कार्यक्रमों में युवाओं की संख्या भी बहुत होती है। इससे पता चलता है कि जब आप आज की पीढ़ी को बताएंगे कि यह है हमारी परंपरा तो वह जरूर उस पर ध्यान देगी। इसलिए मैं उम्मीद करती हूं कि अब भी बहुत कुछ नहीं बिगड़ा। चीज़ों को फिर से सुधारा जा सकता है। बस कोशिश दिल से होनी चाहिए।

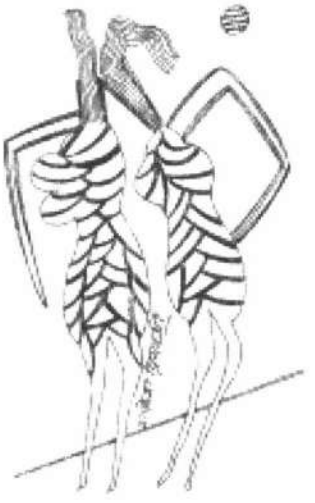
अगर आप यह तय कर लें कि हमारे घर में अब जो भी आयोजन होंगे, हम परंपरागत तरीकों से मनाएंगे तो इस दिशा में सकारात्मक प्रयास हो सकता है। यदि आपको जानकारी नहीं है तो अपने घर की बड़ी बुर्जुग महिलाओं से पूछें। अपने दोस्तों की दादी-नानी से बातें करें। बहुत कुछ जानकारियों का ख़ज़ाना मिलेगा। लोक संगीत के कार्यक्रमों में जाएं। कई बार इंटरनेट से भी आपको कई चीज़ों के बारे में पता चल जाता है। शुरुआत घर से कीजिए, बहुत कुछ तो घर में ही मिल जाएगा। अपने बुर्जुगों के साथ थोड़ा समय बिताना शुरू करें। ❑

संपर्क : 53-ई, पॉकेट-1, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091

कविताएं : **हिमानी दीवान**

उसका खेत और मेरा दिल

मेरी नज़रें भी थीं आसमान की तरफ़
वो भी देख रहा था
बनते-बिगड़ते बादलों को
मेरी रूह भी थी
उदास
और प्यासी
वो भी बेचैन था
सूखे से
हम दोनों रो रहे थे
और चाहते थे
कि काश!
ये
आकाश भी रो दे
हमारे आंसुओं को धो दे
मैं नहीं खा पा रही थी कुछ भी
कुछ दिनों से
और, उसके घर भी नहीं बना था कुछ
बहुत दिनों से
बहुत दिनों से हमारे दिन थे सीले-सीले
और
रातें गीली-गीली
पर हम भीग नहीं पाए थे
जीत नहीं पाए थे
अपनी उम्मीदों से
उसका खेत ख़ाली था
और मेरा दिल !



तुम्हारी अनुपस्थिति

तुम्हारी अनुपस्थिति ऐसे है
जैसे वो लकीर
जिस तक पहुंचकर
एक-दूसरे में सिमट जाते हैं
धरती और आसमान।

तुम्हारी अनुपस्थिति ऐसे है
जैसे वो अंधेरा
जिसमें गुम हो जाता है
हर चेहरा और
मैं बना सकती हूं अपनी
कल्पना के घेरे में
उस वक्त तुम्हारा अक्स।

तुम्हारी अनुपस्थिति ऐसे है
जैसे पानी का रंग
जो दिखता नहीं है
या होता नहीं है
यह अब तक तय होना बाक़ी है।

रुठे हुए कुछ शब्द

कुछ शब्द ज़िंदगी से ग़ायब हो गए हैं
बहुत चुपचाप
न जाने कहां चले गए हैं रूठ कर
न मेरे पास हैं, न उसके पास
और तुम्हारे पास भी नहीं मिले वो
उन शब्दों का अकाल है
या किसी ने आपातकाल लागू कर दिया है
अक्षरों पर
कि जुड़कर वो शब्द बन ही न सकें फिर से
जो दौड़ती ज़िंदगी में देते
दिल को दो पल का आराम
वो शब्द,
जो हमसफ़र को बना सकते हमराज़
वो शब्द,
जिनसे हो सकता अटूट प्रेम का वादा
जिनमें बस सकती अमिट यादें
जिन्हें सुनकर
लौट आते बरसों पहले परदेस गए लोग
जो भर देते
हर तन्हाई को तबस्सुम के उजालों से
और जब होता किसी युद्ध का आग़ाज़
वो शब्द
कर देते वहां शांति को स्थापित
सारी दुनिया अधूरी सी हो गई है
उन शब्दों के बिना
पंछी अब पिंजरे से निकलना ही नहीं चाहते
और इंसान अब जकड़ रहा है खुद को
नई बेड़ियों में।

संपर्क : सी-21-22, सेक्टर-59, नोएडा-201301

सामाजिक मूल्यों से स्त्री का अंतर्द्वंद्व

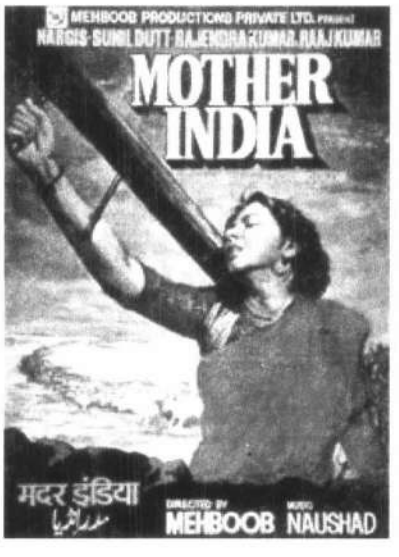
विभावरी

हिंदी सिनेमा अपने सौ साल पूरे कर चुका है। इन सौ वर्षों में सिनेमा, विकास के विभिन्न चरणों से होकर गुज़रा है। सिनेमा का यह सफ़र स्टिल फोटोग्राफी से शुरू होकर अवाक, सवाक, ब्लैक एंड व्हाइट और ईस्टमैन कलर जैसे विभिन्न पायदानों से होता हुआ आज डिजिटल युग तक आ पहुंचा है। हिंदी सिनेमा की इस यात्रा की परख यदि स्त्री-सापेक्ष नजरिए से करें तो पाते हैं कि, सिनेमा में स्त्री-प्रतिनिधित्व का सवाल कई चरणों से होकर गुज़रा है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ स्त्री चरित्रों के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है। यदि सिनेमा का शुरुआती दौर स्त्रियों के प्रति गैरलोकतांत्रिक नज़रिए से युक्त था तो निश्चित रूप से यह समाज में स्त्रियों के प्रति इसी प्रकार की दृष्टि का विस्तार माना जाना चाहिए।

मार्क्स ने अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत में माना है कि, "हर विकासशील वस्तु अपने भीतर अपने प्रतिपक्ष को समाहित किए हुए होती है, जो इसे पूर्व स्थिति में नहीं रहने देता। पक्ष और प्रतिपक्ष का पारस्परिक संघर्ष भीतर ही भीतर चलता रहता है जब तक अंतर्विरोध शांत नहीं हो जाते और वस्तु एक नए गुणात्मक विकास को सूचित नहीं करने लगती। इस गुणात्मक विकास की स्थिति में आने के उपरांत वस्तु में निहित अंतर्विरोध पुनः एक नए रूप में आरंभ हो जाते हैं। यही क्रम चलता रहता है।"[1] यदि इस सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में सिनेमा के स्त्री-विषयक नज़रिए को देखें तो पाते हैं कि, 1913 में जब दादा साहब फाल्के 'राजा हरिश्चंद्र' बना रहे थे तो उन्हें तारामती की भूमिका के लिए कोई महिला नहीं मिली थी। लेकिन आज सिनेमा में स्त्री की स्थिति वही नहीं है जो उस समय थी। आज न केवल महिला प्रधान फिल्में बन रहीं हैं बल्कि सिनेमा से जुड़े हर पक्ष पर महिलाओं का दखल भी पहले से ज्यादा दिख रहा है।

साठ के दशक में शुरू हुए 'नया सिनेमा आंदोलन' ने सिनेमा में स्त्री के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण के संदर्भ में नए मानकों का सृजन किया। सिर्फ स्त्री के संदर्भ में ही नहीं बल्कि समाज के विभिन्न पहलुओं पर आधुनिक भावबोध से युक्त मूल्यों को स्थापित करने में 'नए सिनेमा आंदोलन' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। भारत में नए सिनेमा आंदोलन को यूरोपीय नवयथार्थवाद से प्रेरित माना जाता है। 'नव यथार्थवाद' का उदय दूसरे महायुद्ध के बाद इटली में हुआ। वहीं राबर्ट रासोलिनी, फेलिनी, लूशिनो विस्कान्ती, विक्टोरियो दि सीका जैसे फिल्मकारों ने अपनी फिल्मों के माध्यम से सिनेमा के 'कंटेंट' और 'फार्म' को पुनर्परिभाषित किया। जिसमें उन्होंने ऐसे मूल्यों को स्थापित किया जो लंबे समय से उपेक्षित रहे थे, लिहाज़ा भारत में नए सिनेमा का स्त्री के प्रति प्रगतिशील रवैया भारतीय सामाजिक संरचना में अंतर्निहित आतंरिक प्रक्रिया की देन होने के साथ ही साथ बाहरी कारकों से भी प्रभावित था। पर ऐसा नहीं था कि, 'नया सिनेमा आंदोलन' के समय ही स्त्री को लेकर अचानक यह प्रवृत्ति हिंदी सिनेमा में आ गई थी। सिनेमा के शुरुआती दौर से ही ऐसी फिल्मों का निर्माण शुरू हो गया था जो सामाजिक सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकतीं हैं। इन फिल्मों में धीरेंद्र नाथ गांगुली की 'इंग्लैंड रिटर्न' (1921), चंदूलाल शाह की 'टाईपिस्ट गर्ल' (1926), 'गुण सुंदरी' (1927), 'विश्व मोहिनी' (1929), 'बैरिस्टर्स वाइफ' (1936), मोहन भवनानी की 'मज़दूर' (1934), काली प्रसाद घोष की 'शहर का जादू' (1934), फ्रैत्ज आस्टिन की 'अछूत कन्या' (1936), आर. वी. शांताराम की 'दुनिया न माने' (1937) के नाम लिए जा सकते हैं। इन फिल्मों में 'अछूत कन्या' और 'दुनिया न माने', स्त्री-दृष्टि से अपने समय से बहुत आगे की फिल्में हैं। इसमें 'अछूत कन्या' दलित युवती और ब्राह्मण युवक के प्रेम के बहाने जाति व्यवस्था की समस्या और उसमें एक दलित युवती की स्थिति को संवेदनशील तरीके से दिखाती है तो 'दुनिया न माने' एक ऐसी युवती की कहानी है जिसका विवाह उसके पिता की उम्र के व्यक्ति से हो जाता है।

स्त्री प्रश्न की सिनेमाई अभिव्यक्ति से जुड़े सवाल से मुख़ातिब तत्कालीन फिल्मकारों में परंपरा और आधुनिकता के बीच का द्वंद्व बहुत आसानी से देखा जा सकता है। जहां एक तरफ़ तो स्त्री को मां, बेटी, बहन और पत्नी के परंपरागत रूप में दिखाने की कोशिश की गई तो दूसरी तरफ़ पितृसत्तात्मक मूल्यों पर आघात करते हुए स्त्री चरित्र भी रचे गए।



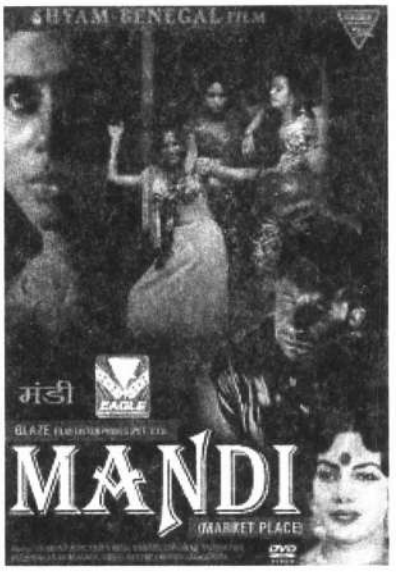
इसी क्रम में 'औरतों से सावधान' (1929), औरत का बदला (1930), 'एक आदर्श औरत' (1930), 'सिनेमा गर्ल' (1930), 'हंटरवाली' (1936), 'डायमंड क्वीन' (1940), 'अबला की शक्ति' (1940), 'औरत' (1940) और 'मीनाक्षी' (1942) जैसी फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने स्त्री के प्रति समाज द्वारा बनी-बनाई सोच से अलग छवि को सिनेमा में अभिव्यक्त करने की शुरुआत की।

ज़ाहिर है 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना, 1942 में इप्टा के गठन आदि सांस्कृतिक परिस्थितियों से उपजी प्रगतिशीलता का असर अन्य कलाओं सहित सिनेमा पर भी पड़ रहा था। कह सकते हैं कि, मूक युग से आज़ादी के पहले तक के सिनेमा में स्त्री की स्थिति का बदलाव सामाजिक स्वतंत्रता का एक हिस्सा था। "1930 के दशक में संभ्रांत परिवारों की स्त्रियां सिनेमा से जुड़ने लगीं। देविका रानी, दुर्गा खोटे, लीला चिटनिस आदि उस समय की लोकप्रिय अभिनेत्रियां थीं। इस दौर की फिल्मों में नारी पात्रों को अलग ढंग से प्रस्तुत करने के प्रयास हुए। उदाहरणस्वरूप शांताराम की 'अमर

ज्योति'(1936) में दुर्गा खोटे ने ऐसी दस्युरानी की भूमिका निभाई जिसने समूची पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। इसी प्रकार शांताराम ने 'दुनिया न माने'(1937) में उस साहसी युवती (शांता आप्टे) के किरदार को प्रस्तुत किया जो एक बूढ़े विधुर की जीवन संगिनी बनने से इनकार कर देती है। 1935 में पी.सी. बरुआ ने 'देवदास' के माध्यम से 'सती सावित्री' के बर अक्स 'वेश्या' की छवि अवस्थित करने का प्रयास किया। देवदास की चंद्रमुखी प्रतिभाशाली और सहृदय होने के बावजूद समाज की नज़र में बुरी औरत है। लेकिन पितृसत्तात्मक समाज को वेश्या की जरूरत है। तनाव और परेशानी से घिरा पुरुष आमोद-प्रमोद के लिए कहां जाए? इसी कारण पितृसत्तात्मक विमर्श ने 'वेश्या' को 'सती सावित्री' के काउंटर प्वाइंट की भांति स्थापित किया।" [2]

आजादी के बाद देश में आजाद भारत को लेकर उत्साह का माहौल था। यह सदियों से चली आ रही मान्यताओं को बदलने का समय था। खासतौर से उन शोषितों और पीड़ितों के प्रति जो दोहरी गुलामी झेल रहे थे। उल्लेखनीय है कि देश की आजादी अपने साथ विभाजन का दंश भी लाई थी। यद्यपि इस विभीषिका की त्रासद सच्चाई का असर सब पर पड़ा लेकिन इसमें जिन्हें सबसे ज्यादा क्षति पहुंची वो तबका महिलाओं और बच्चों का ही था। समाज में सांप्रदायिकता, जातिवाद और सामंती मानसिकता का शिकार महिलाएं सबसे ज्यादा थीं। विभाजन पर सुमित सरकार लिखते हैं, "अंततः भारतीय प्रायद्वीप को स्वतंत्रता मिल ही गई और स्वतंत्रता सेनानियों के सुनहरे सपनों की तुलना में अनेक लोगों को यह तुच्छ ही प्रतीत हुई होगी। कारण कि अनेक वर्षों तक भारत में मुसलमानों और पाकिस्तान में हिंदुओं के लिए स्वतंत्रता का अर्थ रहा-अचानक उठ जाने वाली हिंसा और रोज़गार तथा आर्थिक अवसरों की तंगी के बीच अपनी पुरानी पीढ़ियों, पुराणी जड़ों से उखड़कर शरणार्थियों के रेले में सम्मिलित हो जाने के बीच चयन करना।"[3]

आज़ादी के कुछ वर्षों के बाद ही समाजवादी विजन की परतें खुलने लगीं थीं। बेरोज़गारी और ग़रीबी से जनता त्रस्त थी। इन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव तत्कालीन सिनेमा पर भी पड़ा। उस दौर के तमाम महत्त्वपूर्ण फिल्मकारों ने स्त्री को केंद्र में रखकर ऐसी फिल्मों का निर्माण किया जो परंपरागत मान्यताओं के विरोध में थीं। इनमें 'मदर इंडिया'(1957), 'सुजाता'(1959), 'बंदिनी'(1963), 'गाइड'(1965), 'तीसरी कसम'(1966) जैसी फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं, जिन्होंने स्त्री की छवि को बदलने का पुरजोर प्रयास किया। बिमल राय ने 'सुजाता' और 'बंदिनी' में स्त्री मुक्ति का जो आख्यान रचा वह अपने समय के लिहाज से अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। वहीं महबूब खान की 'मदर इंडिया' भारतीय नारी के शोषक जीवन की महागाथा है जो नारी जीवन की तमाम विसंगतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति कही जा सकती है। विजय आनंद की 'गाइड' एक ऐसी औरत की कहानी है जो अपने सपने साकार करने के लिए रूढ़िगत परंपराओं से विद्रोह कर देती है। वहीं शैलेंद्र की 'तीसरी कसम' एक ऐसी नर्तकी की कहानी है जिसके मन में आम औरत की तरह प्रेम करने और जीवन जीने की आकांक्षा है, जिसे वो पूरा नहीं कर पाती। "स्वतंत्रता के बाद भारतीय नारी को उसके स्टीरियोटाइप किरदारों से मुक्त कराने की कोशिश की गई। लेकिन फिल्मकार स्वयं स्पष्ट नहीं था कि वह नई नारी को किस रूप में प्रस्तुत करे। पुरुष के समकक्ष य पुरुष विरोधी के रूप में। 'आवारा' में नर्गिस एक वकील है जो, राजकपूर को अपराध जगत की गिरफ़्त से छुड़ाती है। इसी प्रकार 'श्री 420' में वह एक अध्यापिका है जो राजकपूर को अपराधी जीवन त्यागने के लिए प्रेरित करती है। 'साहब, बीवी और गुलाम' की छोटी बहू की भूमिका में मीना कुमारी



पति को वेश्याओं के प्रभाव से मुक्त कराने के लिए वेश्या की तरह उसका मनोरंजन करती है।"[4] इसी तरह की विरोधाभासी प्रवृत्तियों के बीच से हिंदी सिनेमा में मुक्ति की आकांक्षा से परिपूर्ण भारतीय नारी का चेहरा अपना आकार ग्रहण कर रहा था।

1966 का समय लोकतंत्र के लिहाज़ से एक ऐतिहासिक वर्ष था। यह एक जटिल और चुनौतियों से भरा समय था। वर्ष 1966 को लगातार चले आने वाले व्यापक उथल-पुथल के ही वर्षों में ही गिना जा सकता है।

इन परिस्थितियों का सिनेमा पर दो तरह से असर पड़ा पहला, 1969 ईस्वी में कला फिल्म आंदोलन की शुरुआत के रूप में और दूसरा, प्रतिशोध और बदले की भावना पर आधारित फिल्मों के रूप में जो कि स्त्री के चरित्र को सामान्यतः परंपरागत खांचे में ही प्रस्तुत करता था।

कला सिनेमा आंदोलन ने स्त्री को उसकी समूची मानवीय अपेक्षाओं के साथ प्रस्तुत किया। 'अंकुर'(1974), 'आंधी'(1975) 'भूमिका'(1977) 'रजनीगंधा'(1974) 'मंडी'(1983) 'उमरावजान'(1981) 'अर्थ'(1982) 'बाज़ार'(1982) 'मिर्च-मसाला'(1985) और 'पंचवटी'(1986) जैसी फिल्मों के जरिये तत्कालीन फिल्मकारों ने महिलाओं के जीवन से जुड़े तमाम मुद्दों को सिनेमा का विषय बनाया। कह सकते हैं कि कला सिनेमा आंदोलन का यही वह समय था जब स्त्री-प्रश्न पूरी गंभीरता से सिनेमा के विषय के रूप में स्थापित हुआ। लेकिन यह दौर बहुत लंबा नहीं चल सका। भूमंडलीकरण की आहट ने "यह सिद्धांत पेश किया कि मुक्त प्रतिद्वंद्विता ही जनतंत्र का आधार है और बाज़ार ही वह जगह है जहां मुक्त प्रतिद्वंद्विता संभव है। इस सिद्धांत को भौतिक उत्पादों के क्षेत्र में ही नहीं सांस्कृतिक क्षेत्र में भी लागू किया गया। यही कारण है कि इस दौर में अच्छी फिल्मों को प्रोत्साहन देने के लिए उठाए गए सभी कदमों से राज्य ने धीरे-धीरे अपने हाथ खींच लिए। इसीलिए 1970-1980 के दशक में जो समानांतर सिनेमा आंदोलन उभरा था वह भूमंडलीकरण के दौर में खत्म हो गया। जिस फिल्म वित्त निगम को जिम्मा सौंपा गया था कि वह अच्छी फिल्मों के निर्माण के लिए अनुदान प्रदान करेगा, वही विदेशी फिल्मों के वितरण के व्यवसाय में लग गया।" [5]

बीसवीं शताब्दी का आख़िरी दशक नवउदारवादी आर्थिक नीतियों और सूचना क्रांति के लिए जाना जाता है। वैश्वीकरण के इस दौर ने अर्थव्यवस्था या राजनीतिक व्यवस्था के साथ ही सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर भी अपना व्यापक असर डाला। यह पूरी प्रक्रिया भारत जैसे विकासशील देश के लिए पश्चिमी देशों के आर्थिक उपनिवेश बनने जैसा है क्योंकि इतनी बड़ी जनसंख्या के कारण भारत विश्व की आर्थिक शक्तियों को एक बड़ा बाज़ार मुहैया कराता है। सिनेमा पर भूमंडलीकरण के प्रभाव को हम दो स्तरों पर देख सकते हैं। पहला, अनिवासी भारतीय दर्शकों को ध्यान में रख कर बनाई जा रही फिल्में और दूसरा, अंडरवर्ल्ड का सिनेमा में पूंजी निवेश तथा उस पर

नियंत्रण। इन प्रभावों के कारण इस दौर के सिनेमा की प्रकृति और कथानकों में एक बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। ''पूंजी पर फिल्म के निर्माण और प्रदर्शन की निर्भरता ने सिनेमा को बाज़ार का मुखापेक्षी बना दिया है। मुक्त बाज़ार का सिद्धांत, व्यवहार में इस बाज़ार पर वर्चस्व रखने वाले निगमों और इजारेदारों द्वारा बाज़ार को अपने हितों के अनुरूप इस्तेमाल करने की निर्बाध छूट में बदल देता है। यह बात सिनेमा के बाज़ार पर भी लागू होती है। फिल्मों की लोकप्रियता फिल्म की अंतर्वस्तु और कलात्मक अंतर्वस्तु पर नहीं बल्कि ऐसे बाहरी तत्वों पर ज्यादा निर्भर रहती है, जिसका फिल्म की गुणवत्ता से प्रत्यक्षतः कोई संबंध नहीं होता। मसलन, अभिनेताओं की 'मर्द' छवि, अभिनेत्रियों के 'यौन-सौंदर्य', हिंसा के उत्तेजक दृश्य, नृत्य और संगीत का उन्मादपूर्ण इस्तेमाल इत्यादि लोकप्रिय सिनेमा के अनिवार्य तत्व बन गए हैं, ताकि इनके द्वारा मनोरंजन की एक खास तरह की संकल्पना को स्थायित्व प्रदान किया जा सके।''[6]



ग़ौरतलब है कि सिनेमा के संदर्भ में मनोरंजन की यह संकल्पना पितृसत्तात्मक मूल्यों की हिमायती है और यही कारण है कि इस समय की मुख्याधारा ने भी स्त्री-चरित्रों का चित्रण परंपरागत मान्यताओं के आधार पर ही किया। चूंकि सिनेमा विभिन्न कलाओं के समायोजन के साथ ही एक व्यवसाय भी है। इस व्यवसाय की एक प्रमुख बात यह है कि इसमें एक बड़ी पूंजी का निवेश होता है। एक ऐसे समय में जहां बाज़ार सर्वोपरि है, फिल्में एक उत्पाद की भूमिका में होती हैं जिनके लिए मुनाफा कमाना ही उनका अंतिम लक्ष्य होता है। यह लक्ष्य सिनेमा की व्यावसायिक प्रतिबद्धताओं पर बाज़ार के माध्यम से दोहरा दबाव आरोपित करता है। इस दोहरे दबाव का प्रभाव निश्चित रूप से सिनेमा के उन पक्षों पर पड़ता है जो उनके केंद्र में नहीं हैं अथवा परिधि पर हैं। इस दौर के मुख्यधारा सिनेमा में भी स्त्री का 'आब्जेक्टीफिकेशन' बहुत आम बात है। शुरुआती दौर के सिनेमा में जहां स्त्री का चेहरा केंद्र में होता था वहीं इस दौर के सिनेमा के केंद्र में स्त्री की देह है। यह परिवर्तन पूंजीवाद की देन है, पूंजीवाद ने स्त्री की देह के प्रदर्शन को 'स्त्री-मुक्ति' का पर्याय बनाने की कोशिश की है जिसमे वह काफी हद तक सफल भी रहा है। परंतु वास्तव में यह स्त्री को सामंती जकड़न से मुक्ति का छलावा देकर बाज़ार के हवाले करने की कवायद भर है। लेकिन इसी दौर के सिनेमा ने 'लिबास'(1991), 'रुदाली'(1992), 'दामिनी'(1993), 'त्रियाचरित्र'(1994), 'वो छोकरी'(1994), 'बैंडिट क्वीन'(1994), 'बाम्बे'(1995), 'अग्निसाक्षी'(1996), 'सरदारी बेगम'(1996), 'आस्था'(1997), मृत्युदण्ड(1997), 'गॉडमदर'(1999), 'अस्तित्व'(2000), 'बवंडर'(2000), 'गजगामिनी'(2000), 'हरी-भरी'(2000) और 'क्या कहना'(2000) जैसी फिल्में भी दी हैं जो महिलाओं के संदर्भ में अपने कथ्य और शिल्प में बोल्ड कही जा सकती हैं। इस विषय में कल्पना लाजमी का कहना है, ''महिलाओं के मुद्दों का भविष्य फिल्मों में बहुत संघर्ष भरा है। बाज़ार का पूरा ढांचा ही ऐसा है कि यथार्थवादी फिल्में बनाना बहुत मुश्किल है। फार्मूला फिल्मों में भी महिलाओं के विषय नहीं बिकते खासकर ऐक्शन की शुरुआत के बाद से। ऐसी एक जागरूकता लाई जानी चाहिए कि सेक्सिस्ट रुख को हटाया जाए। अच्छी कहानियां मंजूर की जानी चाहिए, अगर विदेशी फिल्मों के आधार पर भी फिल्में बनाई जाती हैं तो भारतीय परिप्रेक्ष्य के मुताबिक उनमें दोनों तरफ का मिश्रण कर अच्छी संपर्क फिल्में बनाईं जा सकती हैं।''[7] इस तरह से बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक के सिनेमा में भी महिलाओं के मुद्दों पर परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व दिखाई देता है। जहां एक तरफ़ स्त्री जीवन के अनछुए विषयों पर प्रगतिशील फिल्में देखने को मिलतीं हैं वहीं दूसरी तरफ़ परंपरागत पितृसत्तात्मक सोच की हिमायती फिल्मों की भी इस दौर में कमी नहीं है। इसी मिले-जुले रुख के साथ हिंदी सिनेमा ने इक्कीसवीं सदी में प्रवेश किया।

स्त्री के संदर्भ में इक्कीसवीं सदी के सिनेमा ने भूमंडलीकरण के बाद की सिनेमाई प्रवृत्ति को ही एक नई तरह की तीव्रता से पुष्ट किया है। नई सदी के सिनेमा में कंटेंट और फार्म दोनों के स्तर पर काफ़ी बदलाव देखने को मिल रहा है। तकनीकी स्तर पर भी सिनेमा ने नई ऊंचाइयों को छुआ है। हिंदी सिनेमा में मुख्यधारा के बरक्स एक ऐसी समानांतर धारा अभी भी बनी हुई है जिसमें व्यावसायिकता और कलात्मकता दोनों का मिलाजुला रूप देखने को मिल रहा है जिसे सिनेमा के समीक्षक 'मिडिल सिनेमा' कहना पसंद करते हैं। यह सिनेमा का लगभग वैसा ही रूप है जैसा द्वंद्वात्मकता के सिद्धांत में वाद और प्रतिवाद से मिलकर संवाद का होता है। इस लिहाज़ से देखें तो मिडिल सिनेमा ने स्त्री के प्रति अपेक्षाकृत लोकतांत्रिक नजरिया विकसित किया है। एक खास बात जो इस संदर्भ में उल्लेखनीय है वो यह कि इक्कीसवीं सदी के सिनेमा ने बीसवीं सदी के आखिरी दशक में स्त्री के लिए बनी हुई तमाम सीमाओं को तोड़ा है। ऐसी फिल्मों में हम 'चांदनी बार'(2001), 'लज्जा'(2001), जुबैदा (2001), फिलहाल (2002), मातृभूमि(2003), पिंजर (2003), चमेली (2004), खामोश पानी (2004), पेज थ्री (2005), चिंगारी (2006), डोर(2006), आजा नच ले (2007), चीनी कम(2007), दिल दोस्ती एक्सेट्रा (2007), दस कहानियां (2007), हनीमून ट्रेवेल्स प्रा. लि.(2007), जब वी मेट(2007), लागा चुनरी में दाग(2007), लाईफ इन अ मेट्रो(2007), निःशब्द (2007), फैशन(2008), लक बाई चांस (2009), देव-डी(2009), रात गई बात गई (2009), इश्किया (2010), लव, सेक्स और धोखा (2010), मिर्च (2010), नो वन किल जेसिका(2011), टर्निंग थर्टी(2011), सात खून माफ(2011), साहब बीबी और गैंगस्टर(2011), द डर्टी पिक्चर (2011), इशकजादे (2012), हिरोईन (2012), इंग्लिश-विन्लिश(2012), अईया (2012), इनकार (2013), साहब बीवी और गैंगस्टर रिटर्न (2013), और बी.ए. पास (2013) जैसी फिल्में इस बात को प्रमाणित करती हैं कि हिंदी सिनेमा महिलाओं से संबंधित उन विषयों पर भी मुखर होने लगा है जिस पर अब तक कुछ भी कहना-सुनना लोग 'उचित' नहीं समझते थे। सौ साल के हो चुके सिनेमा से इस तरह के परिपक्व साहस की और भी अपेक्षा करना बेमानी नहीं होगा।

संदर्भ सूची

1. अमरनाथ- हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ 177.
2. ललित जोशी- हाउसफुल, पृष्ठ 59
3. सुमित सरकार- आधुनिक भारत, पृष्ठ 504
4. ललित जोशी- हाउसफुल, पृष्ठ 61
5. जवरीमल्ल पारख- भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा (सं- रमेश उपाध्याय-संज्ञा उपाध्याय) पृष्ठ 61
6. वही 61-62
7. कल्पना लाजमी- वसुधा, हिंदी सिनेमा विशेषांक(सं- कमला प्रसाद) पृष्ठ 578 ❑

संपर्क : गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा (उ.प्र.)

घर बचाने की जद्दोजहद

मुख्यधारा के सिनेमा ने अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद नारी जीवन के कृष्ण और शुक्ल, दोनों ही पक्षों का गहन संवेदनशीलता के साथ चित्रण किया है और इसके लिए इसे सराहा जाना चाहिए, विश्लेषण कर रहे हैं **शशांक दुबे**

आज गांव की धूल-भरी पंचायत से लेकर उबड़-खाबड़ कस्बों के नगर-निगमों तक और महानगर के लक्ज़री ड्राइंग रूम से रोशनी उगलते एलसीडी से लेकर पेज थ्री नुमा अख़बारों तक में यह गूंज बार-बार सुनाई पड़ती है कि अब औरत की दुनिया बहुत बदल गई है और वह घर की दहलीज़ से बाहर निकलकर इक्कीसवीं सदी के बीसवें दशक की ओर पुरुष की गति के बराबर बढ़ रही है। पश्चिम के 'विमिन्स लिबर्टी' नज़रिए का अंधानुकरण करने को बेताब अंग्रेज़ी अख़बार स्त्री स्वतंत्रता का झंडा फहराते हुए तलाक की बढ़ती संख्या का रंगीन पाई चार्ट बनाते हुए तमाम मूल्यों के टूटने-बिखरने का ऐलान कर रहे हैं, तो दूसरी ओर नई कहानी, समानांतर कहानी, अकविता, उत्तर-आधुनिकता के नारे पुराने पड़ जाने और नई पीढ़ी द्वारा बिल्कुल उपेक्षित कर दिए जाने से आहत सैकड़ों की संख्या में बिकने वाली हिंदी की लघु-पत्रिकाएं 'स्त्री-विमर्श' के नाम पर अपनी गाड़ी खींच रही हैं।

हमारे साहित्य में मचे इस कोलाहल के समानांतर एक उल्लेखनीय स्थिर तथ्य यह भी है कि सफलता, सक्रियता और साझेदारी का इतना लंबा सफ़र तय करने के बावजूद आज भी घर और परिवार महिला की पहली प्राथमिकता है। प्रगतिशील विचारों ने उसे घर की व्यवस्था के लिए संघर्ष करना तो सिखाया है, मगर निजी या फेंसी खुशियों के लिए घर को अस्त-व्यस्त करने की ढीठता नहीं सिखाई। पश्चिम के मीठे को गप करने और उसकी ग़लाज़त को कूड़ेदान के हवाले करने की उसकी इस विवेकशीलता का ही यह परिणाम है कि आज भी हिंदुस्तानी समाज में तलाक़ का प्रतिशत एक से अधिक नहीं हो पाया है। औरत द्वारा निरंतर सींचे जा रहे इस वटवृक्ष की जड़ें अब इतनी गहरी हो चली हैं कि समाज को लोकरंजन के माध्यमों में भी इससे विपथन स्वीकार्य नहीं है। यदि ऐसा न होता तो शादी के बाद पति-पत्नी को उनके पुराने प्रेम की ओर लौटने का तथाकथित क्रांतिकारी सुझाव देने वाली करन जौहर की महत्त्वाकांक्षी फिल्म 'कभी अलविदा ना कहना' बॉक्स ऑफिस पर औंधे मुंह नहीं गिरती और सगाई से शादी के बीच की अवधि में अपनी मंगेतर से प्लूटोनिक प्रेम दर्शाने वाले प्रेमी की कहानी पर बनी 'विवाह' देश-भर के चालीस सेंटरों पर सिल्वर जुबली न मना पाती।

वस्तुतः मुख्यधारा का सिनेमा अपनी व्यावसायिक मजबूरियों के चलते जन-सामान्य की भावनाओं के प्रति इतना ज़्यादा सतर्क है कि वह महिला के संबंध में समाज द्वारा स्थापित मूल्यों व आदर्शों से भटकना नहीं चाहता। यदि कभी वह इस लीक को तोड़कर महिला द्वारा अपने पति के लंबे प्रवास के दौरान पर-पुरुष से संबंध स्थापित करने ('रिहाई', 1990, निर्देशक : अरुणा राजे, पति की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण पत्नी द्वारा मात्र एक जोड़ी महंगे सैंडलों के लिए किसी अमीर से शारीरिक संबंध स्थापित करने 'आस्था', 1997, निर्देशक : बासु भट्टाचार्य) या बुजुर्ग पति से असंतुष्ट युवती द्वारा युवा से प्यार करने ('प्रेम पर्वत', 1975, निर्देशक : वेद राही) जैसे तथाकथित क्रांतिकारी विषयों पर फिल्म बनाने का साहस करता भी है, तो बॉक्स ऑफिस पर उसे मुंह की खानी पड़ती है।

जब कभी हमारे फिल्मकार नायिका में कहीं भटकाव दिखलाते हैं, तो उसके चरित्र चित्रण में अतिरिक्त सावधानी बरतते हैं-मशहूर नानावटी कांड पर बनी 'ये रास्ते हैं प्यार के', 1963, निर्देशक आर. के. नय्यर) की नायिका नीना (लीला नायडू) को उसके पति अनिल (सुनील दत्त) की अनुपस्थिति में उसका दोस्त अशोक (रहमान) धोखे से शराब पिलाकर अपना मक़सद पूरा करने में कामयाब हो जाता है। संयोग से पति अपने निर्धारित शेड्यूल से पहले घर आ जाता है, जिसे देख बच्चे तो खुश हो जाते हैं, लेकिन मां के चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगती हैं। अनिल को खटका होता है। शाम को फ़ोन की घंटी घनघनाती है। जब अनिल फ़ोन उठाता है, तो एक पुरुष स्वर प्रणय निवेदन करता है। वह भीगी आंखों से फ़ोन नीना के हवाले कर देता है, नीना 'रांग नंबर' कहकर चोंगा पटक देती है। वह अनिल से कहती है, 'मैं तुमसे कुछ कहना चाहती हूं'। अनिल कहता है, 'मैं इस ख़याल से धर्रा उठता हूं कि तुम कुछ कहना चाहती हो' नीना कहती है, 'कहे बिना जी न सकूंगी', तो अनिल जवाब देता है, 'और सुनके मैं मर जाऊंगा'। कहना न होगा, यह स्थिति नायक-नायिका को तो नहीं, लेकिन निर्देशक को कंफर्ट ज़ोन में जरूर डाल देती है।

वस्तुतः औसत हिंदुस्तानी दर्शक अपनी नायिका से यही उम्मीद करता है कि वह गृहस्थी की कीमत पर प्यार की सीढ़ियां न चढ़े-इसीलिए अपने पूर्व प्रेमी को बिसरा चुकी 'संगम' (1964) निर्देशक : राज कपूर की नायिका वैजयंती माला जब अपने पति के साथ विदेश प्रवास के दौरान भगवान के सामने शीश नवाती है और पति (राज कपूर) उससे पूछता है कि तुमने क्या मांगा, तो वह जवाब देती है, 'तुम्हारे लिए सुख और अपने लिए शांति'। इस संबंध में साठ के दशक में आई निर्देशक श्रीधर की फिल्म 'दिल एक मंदिर' का ज़िक्र करना ग़ैर-मौजूं न होगा, जो परिवार के प्रति औरत की इस स्वाभाविक आस्था और तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद समर्पण में एक अंश का भटकाव न आने देने की ज़िद को शिद्दत से बताती है। उस फिल्म का नायक राम (राज कुमार) कैंसर का इलाज करवाने अपनी पत्नी सीता (मीना कुमारी) के संग डा. धर्मेश (राजेंद्र कुमार) के सैनेटोरियम में भरती हो जाता है। राम को यह पता नहीं है कि शादी से पहले कभी सीता और धर्मेश एक-दूसरे को चाहते थे, लेकिन पारिवारिक ज़िम्मेदारियों के चलते उन्होंने उस इरादे को त्याग दिया था। कुछ दिन गुज़ारने के बाद राम यह महसूस करता है कि उस सैनेटोरियम में डॉक्टर की इज़्ज़त भगवान से भी बढ़कर है और हर मरीज़ उसके नेह का ऋणी। राम डॉक्टर की सदाशयता

का कायल हो जाता है। वह सीता से कहता है कि यदि मुझे कुछ हो जाए तो तुम डॉक्टर से शादी कर लेना। सीता को यह बात बहुत चुभती है। वह साठ के दशक की और महानगरी नवधनाढ्य वर्ग को छोड़ दें, तो मौजूदा दौर की भी, पारंपरिक स्त्री है। वह अतीत को क़ब्र में दफ़न कर चुकी है। वह कहती है 'हम तेरे प्यार में सारा आलम खो बैठे हैं, खो बैठे/ तुम कहते हो के ऐसे प्यार को भूल जाओ भूल जाओ-राम को अपने इस प्रस्ताव पर शर्म आती है और वह सीता से माफ़ी मांगता है।

दांपत्य की जटिलताओं से भरी इन फिल्मों के मुक़ाबले राजेंदर सिंह बेदी की 'दस्तक' (1971) औरत की अपने परिवेश से पनपी मजबूरियों के चलते जीने का एक नया अंदाज़ तलाशने की कशमकश को बयां करती है। हमीद (संजीव कुमार) और (सलमा, रेहाना सुल्तान) नए शहर के नए घर में नई उम्मीदें और नई हसरतों के साथ दाख़िल होते हैं। वे बड़े खुश हैं, आख़िर उन्होंने मुंबई सरीखे शहर में मकान जो ले लिया है लेकिन उनका दुर्भाग्य, कि जिस घर में वे रहने आए हैं, वहां उनसे पहले कभी मुज़रे वाली बाई शमशाद बेगम रहा करती थी। इलाका भी शहर की बदनाम बस्ती से सटा हुआ। आए दिन घर पर कोई न कोई दस्तक देता है और सलमा को वैश्या समझ कर अपनी-अपनी सिफ़ारिश करता है। पड़ोस का माहौल भी अजीबोग़रीब है। लोग पल-पल ताका-झांकी करते हैं। सलमा का नहाना मुश्किल, सलमा का गाना मुश्किल, हमीद और सलमा की प्यार भरी बातें मुश्किल। लोग दीवारों से सटकर उनकी थोड़ी-बहुत बातें सुनते हैं, फिर नमक-मिर्च लगाकर अंट-शंट बका करते हैं। पति-पत्नी हालात को बदलना चाहते हैं। वे घर की सफेद पुताई करते हैं, ताकि काले अतीत के स्याह दाग़ धुल सकें-सलमा, जो संगीत की इबादत करती है, वह भी गाने को तज देती है, ताकि लोग अन्यथा न लेकर दस्तक न दें-खिड़कियां भी बंद कर दी जाती हैं, ताकि कोई ताका-झांकी न हो। यह भी तय कर लिया जाता है कि दरवाज़े पर दस्तक होने पर सलमा दरवाज़ा न खोले। वे खुश रहना चाहते हैं, आपस में रसमयी बातें करना चाहते हैं, लेकिन जाएं तो जाएं कहां? बड़ा फ्लैट होने के बावजूद उन्हें खानाबदोशों की तरह रहना पड़ता है। वे जीवन की खुशियां घर की बजाए सड़कों पर, थियेटर में, समुद्र तट पर ढूंढने लगते हैं लेकिन बाहर भी चैन कहां? उनके रिश्ते की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि उनके सबंधों को हमेशा शक-शुबहे की निगाहों से देखा जाता है। सलमा और हमीद इन गंदे तानों से बचने की लाख कोशिश करते हैं, लेकिन उनके वैवाहिक जीवन में इसके छींटे पड़ने शुरू हो जाते हैं। हमीद अपना आपा खोने लगता है और सलमा खुद को हालात के सुपुर्द कर देती है। सलमा की आत्मा चित्कार उठती है-

न तड़पने की इज़ाजत है न फ़रियाद करने की
घुट के मर जाएं ये मर्ज़ी है मेरे सैयाद की-

एक दिन कोई शरारती उनकी खिड़की के शीशों पर पत्थर मार देता है, तो सलमा दहाड़ मारकर रोते हुए कहती है, मुझे शीशे टूटने का ग़म नहीं, मुझे तो खुली हवा में सांस न ले पाने का ग़म है। हमीद खुद को और सलमा को इस नर्क से निकालने के लिए जल्दी पैसे कमाकर नए इलाके में शिफ्ट होना चाहता है। इसके लिए वह ग़लत हथकंडे अपनाने की भी सोचने लगता है। दूसरी ओर कुछ विघ्नसंतोषी लोग छल-कपट से उसे सलमा के ख़िलाफ़ भड़काते हैं। सलमा उसकी दुर्दशा समझ नहीं पाती और उसकी भर्तसना करने लगती है लेकिन जब हक़ीक़त समझ में आती है, तो उसे बहुत दुख होता है। वह हमीद से माफी मांगती है और अंततः दोनों यह फैसला कर लेते हैं कि चाहे हालात कैसे भी हों, बाहर की दुनिया कैसी भी हो, उन्हें नियति का मुक़ाबला करना है और संघर्ष के इस दलदल में ही खुशियों के कंवल खोजने हैं।

सिनेमा स्त्री के व्यक्तित्व के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू 'मां' को वाजिब तवज्जोह देता रहा है। तीन दशक पहले जब प्रकाश मेहरा की 'ज्वालामुखी' बॉक्स ऑफिस पर बुरी तरह धराशायी हो गई थी तो उनके प्रतिद्वंद्वी फिल्मकार मनमोहन देसाई ने यह तल्ख़ टिप्पणी की थी कि जिस देश में मां को पूजा जाता है, वहां बेटा मां को ज़माने भर के सामने ललकारते हुए 'ये चेहरे पे चेहरा लगाओगी कब तक ज़माने से खुद को छुपाओगी कब तक' कहे, तो उस बात को आम दर्शक कैसे पचा सकता है? दरअसल हमारी हिंदी फिल्मों में मां की भूमिका उतनी ही महत्त्वपूर्ण रही है, जितनी कि आम जीवन में मां की। यही कारण है कि शायद ही कोई ऐसी बंबइया फिल्म हो, जिसमें मां न हो। यदि फिल्मों में मां की भूमिका का हम विश्लेषण करें, तो मोटे तौर पर तीन प्रकार की फिल्में पाई जाएंगी-पहली श्रेणी में वे फिल्में हैं, जिनमें मां फिल्म के केंद्र में होती है और सारे पात्र उसकी परिक्रमा करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे फिल्में आती हैं, जिनमें मुख्य किरदार तो नायक-नायिका के होते हैं, लेकिन कहानी में ट्विस्ट मां ही पैदा करती हैं। तीसरी श्रेणी में वे फिल्में हैं, जिनमें मां की भूमिका खानापूर्ति के लिए और 'बेटा मेरे लिए बहू ला दे' सरीखे संवाद कहने तक सीमित रहती है।

सिनेमा के सवाक युग में प्रवेश करने के बाद मां को केंद्र में रखकर बनाई गई फिल्मों में से पहली महत्त्वपूर्ण फिल्म महबूब खान की 'औरत' (वर्ष 1940, निर्देशक : महबूब) थी। गांव की पृष्ठभूमि पर बनी इस फिल्म में मां के संघर्ष की त्रासद दास्तान है। इस कहानी का आइडिया बरसों तक संगीतकार अनिल बिश्वास के मन में घुमड़ता रहा और जब उन्होंने महबूब को इसका ब्यौरा दिया, तो उन्होंने इसे अमली जामा पहनाने में ज़रा भी देर न की। मामूली से बजट और सीमित साधनों में बनी इस फिल्म ने संगीतकार अनिल विश्वास की सृजनात्मक प्रतिभा के कई आयाम खोले। वे एक कुशल संगीतकार के रूप में तो स्थापित थे ही, लोगों को उनकी कथा परिकल्पनाशीलता का भी लोहा मानना पड़ा। इसी फिल्म की आउटडोर शूटिंग के दौरान निर्देशक को चरवाहे का पात्र निभाने वाले कलाकार की कमी महसूस हुई, तो अनिल दा ने अपना हारमोनियम कोने में रखकर डंडा उठा लिया और 'काहे करता देर बराती' गाने में चरवाहे की भूमिका भी कर डाली। फिल्म का शीर्ष किरदार सरदार अख़्तर ने निभाया था और अपने कुशल अभिनय से उन्होंने औरत के आत्मसंघर्ष को जीवंत कर दिया था। फिल्म को मिली सफलता ने महबूब साहब को खुश तो किया, लेकिन एक कसक उनके मन में रह गई कि यदि फिल्म का बजट अच्छा होता, उनके पास संसाधन होते, तो इस फिल्म को विशाल कैनवास पर तैयार करते। महबूब की यह हसरत भी पूरी हुई और 'औरत' के 17 साल बाद उन्होंने इसका रिमेक 'मदर इंडिया' (1957, निर्देशक : महबूब) के नाम से बनाया। अनिल विश्वास के शब्दों में कहें तो 'औरत' 'वाज़' 'द मदर' ऑफ 'मदर इंडिया'। कहानी वही, लेकिन कलाकार अलग, संगीतकार 'नौशाद' समेत पूरी टीम भी अलग। नायिका के रूप में नरगिस का चयन एक जोख़िम भरा काम माना जा रहा था, क्योंकि तब तक नरगिस की छवि एक पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय रोमांटिक नारी की थी। हालांकि उनकी प्रतिभा पर तब भी किसी को शक नहीं था। लेकिन सिनेमा उद्योग में बने-बनाए फार्मूलों को तोड़ना बड़ा जटिल काम है और कई प्रतिभा संपन्न कलाकार भी अपनी इमेज की खोल से इसीलिए बाहर नहीं निकल पाते कि बर्फ कौन तोड़े (हू विल ब्रेक द आइस?), बहरहाल महबूब ने बर्फ की सिल्ली तोड़ी और उसमें से जो निकला वह सिर्फ पानी नहीं था, उसमें शोले भी थे,

चिंगारियां भी। नव-विवाहित जीवन की उमंगें, पति की छेड़छाड़, गांव की ग़रीबी, पति की अपंगता, वैधव्य की पीड़ा, बच्चों की परवरिश के लिए संघर्ष और अंततः बेटे की हत्या करने की विवशता के इन विविध पहलुओं को नरगिस ने एक विशेष विश्वसनीयता प्रदान की। दर्शक मां के इस किरदार से इस कदर मंत्रमुग्ध हो गए कि नरगिस वाकई 'मदर इंडिया' हो गईं। इस बात से तो हर फिल्म रसिक अच्छी तरह वाकिफ है कि फिल्म की शूटिंग के दौरान आग के एक दृश्य में सचमुच की आग लगने पर फिल्म में उनके पुत्र बने सुनील दत्त ने उन्हें बाहर निकाला था। तब नरगिस ने यह कहा था कि इस आग में राज कपूर की नरगिस जली है और यदि कोई बचा है, तो वह सुनील दत्त की नरगिस।

यह भी एक अजीबोग़रीब संयोग है कि जिस फिल्म इंडस्ट्री का एकमात्र सूत्र भेड़चाल है, जहां 'जानी मेरा नाम' का एक कैबरे हिट होते ही हर तीसरी फिल्म में कैबरे डाला जाने लगा हो। 'धर्मा' की कव्वाली से खुश होकर हर डिस्ट्रीब्युटर ने अपने निर्माता पर कव्वाली रखने का दबाव बनाया हो, जहां 'जय संतोषी मां' (1975) के हिट होते ही 'जय महालक्ष्मी मां' (1977) और 'भगवान समाए संसार में' (1976) जैसी धार्मिक फिल्मों के डिब्बे तैयार हो जाते हों, वहां 'मदर इंडिया' की घनघोर सफलता के बावजूद मां कोई फार्मूला न बन सकी और पुरुष प्रधान सिनेमा में उसे हाशिए पर ही खड़े-खड़े संतोष करना पड़ा।'मदर इंडिया' से बिसराई गई मां की सुध दस साल बाद ली गई 'दादी मां' में। फिल्म के शीर्ष किरदार में थी अपने समय की लोकप्रिय व सम्मानित नायिका दुर्गा खोटे-दुर्गा खोटे एक प्रगतिशील, पढ़े-लिखे परिवार से आईं थीं और रंगमंच के अनुभव ने उनके अभिनय को एक स्वाभाविकता और सहजता प्रदान की थी, जिसका उनकी समकालीन अभिनेत्रियों में अभाव था। नायिका के रूप में सफल पारी खेलने वाली इस अदाकारा ने 'मुगले-आज़म' (1960) की जोधा के रूप में भी लोगों का दिल जीता था, लेकिन 'दादी मां' (1966, निर्माता : एल वी प्रसाद) उन्हें दर्शकों के कुछ और भी करीब ले आती है। फिल्म का गीत 'ऐ मां तेरी सूरत से अलग भगवान की सूरत क्या होगी' रोशन की रसीली धुन और महेंद्र कपूर-मन्ना डे की मीठी गायकी से इतना अतिंद्रीय माहौल रचता है कि उसे सुनकर एकबारगी पत्थर दिल इंसान भी रो उठे। खास तौर पर साहिर की ये पंक्तियां तो अद्‌भुत हैं-

क्यूं दीप जलाए दुखों के, क्यूं ग़म की घटा बरसे
ये हाथ दुआओं वाले, रहते हैं सदा सर पे
तू है तो अंधेरे पथ में हमे सूरज की जरूरत क्या होगी
ऐ मां तेरी सूरत से अलग भगवान की सूरत क्या होगी
उसको नहीं देखा हमने कभी, पर इसकी जरूरत क्या होगी।

इन्हीं दुर्गा खोटे को अपना ममत्व दिखलाने का एक मौका और भी मिला, दक्षिण की एक बहुत ही साधारण लेकिन बॉक्स ऑफिस की दृष्टि से अत्यंत सफल फिल्म 'विदाई' में। अपने बेटों पर प्यार-दुलार न्यौछावर करने वाली 'विदाई' (1973, निर्देशक : एल वी प्रसाद) के साथ त्रासदी यह होती है कि उन्हें जीवन का चतुर्थांश एकाकीपन में काटना पड़ता है। कोई पूछता है, क्या आपके बेटे-बहू नहीं हैं? तो मां कहती हैं, 'हां-दो बेटे हैं-पहला बेटा बहू को लेकर चला गया और दूसरे बेटे को बहू लेकर चली गई' दुर्गाजी। अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति से इस रोल को जीवंतता प्रदान करती हैं-मां को ही केंद्र में रखकर गुलज़ार ने भी एक महत्त्वपूर्ण फिल्म 'मेरे अपने' बनाई थी। यहां मां की भूमिका में एक बेसहारा बूढ़ी विधवा है, जो ज़माने भर में ममता लुटाती फिरती है, लेकिन उसे बदले में मिलता है शोषण, उपेक्षा और अपमान। मां अपने जीवन का सुख अपनी जड़ों से उखड़े कुछ युवाओं की दैनंदिनी ज़िंदगी में खोजती है। उनका निस्वार्थ प्रेम युवाओं की ज़िंदगी में एक नया रंग भर देता है। वे लानत की ज़िंदगी छोड़कर शराफ़त के रास्ते की ओर लौटना चाहते हैं, मगर तब तक मां इस दुनिया से महाप्रस्थान कर जाती है।

मां की भूमिका को केंद्र में रखकर सत्तर के ही दशक में एक और महत्त्वपूर्ण फिल्म 'दीवार' बनी थी। यह सलीम-जावेद की कलम और निरूपा राय के अभिनय का ही कमाल था कि दो नायक व दो नायिकाओं और कव्वाली-मारधाड़-डॉयलॉगबाज़ी समेत फिल्मी दुनिया के तमाम फॉरमुलों से लबालब होने के बावजूद जब दर्शक इस फिल्म को देखकर थियेटर से बाहर निकलता है तो उसे सिर्फ़ मां ही याद रहती है। मां और बेटे के बीच 'बोलो तुम साइन करोगे कि नहीं' से लेकर 'मेरे पास मां है' तक का टुकड़ा फिल्म इतिहास के चंद यादगार टुकड़ों में गिना जाता है। 'दीवार' (1975, निर्देशक : यश चोपड़ा') के लगभग बीस साल बाद मां को केंद्र में रखकर एक बहुत ही सफल और प्रभावी फिल्म 'करण अर्जुन' (1995, निर्देशक : राकेश रोशन) बनी, जिसमें अपने समय के सबसे लोकप्रिय दो सितारों शाहरुख खान व सलमान खान की मौजूदगी और राजेश रोशन के अप्रतिम संगीत के बावजूद उसे मूलतः राखी की फिल्म माना जाता है। इसमें मां अपने दोनों बेटों पर दुलार बरसाते हुए कहती है-

तुम ही मेरे जीवन हो, तुम्हें देख-देख जी लूंगी
मैं तो तुम्हारे ख़ातिर, दुनिया का ज़हर पी लूंगी

तब बेटे मां को जवाब देते हैं-

तेरे पावन चरणों में, आकाश झुका देंगे हम
तेरी राह में जो शोले हों, तो खुदको बिछा देंगे हम

बाद में उन्हीं बेटों की अपनी आंखों के सामने मौत हो जाने के बावजूद मां यह मानकर चलती है कि उसके प्रेम में यदि शक्ति होगी, तो बेटे जल्द ही अगला जन्म लेकर एक बार फिर उसके पास लौटेंगे।उस घटना के बीस-बाइस साल बाद एक बार फिर वे दोनों बेटे अलग-अलग परिवेश में पलकर कुछ नाटकीय घटनाओं के चलते उसके पास आ जाते हैं और जिन लोगों ने उस मां की ज़िंदगी तबाह की थी, उन्हें खत्म कर देते हैं। मां को केंद्र में रखकर बनाई गई फिल्मों में से 'मदर इंडिया' के बाद 'करन अर्जुन' बॉक्स ऑफिस की दृष्टि से भी सबसे बड़ी सफल फिल्म साबित हुई-'करन अर्जुन' से ही लगभग तीन-चार साल पहले मां को केंद्र में रखकर दो फिल्में और भी आईं थीं-'दूध का कर्ज़' और 'बेटा'-दोनों ही फिल्मों में मां का कड़क किरदार निभाया अपने ज़माने की हास्य अभिनेत्री अरुणा ईरानी ने-'दूध का कर्ज़' (1991) का कथानक मां की ललकार और बेटे के आज्ञा पालन पर टिका हुआ है। यहां मां अपने बेटे जैकी श्राफ को यह हिदायत देती है कि वह अपनी मां से किए गए अपमानों का बदला ले और बेटा मां के आदेश के अनुपालन में जुट जाता है।

हालांकि यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर कोई हंगामा न बरपा सकी, लेकिन छोटे शहरों में औसत कारोबार करने में सफल हुई। हंगामा तो मचाया 'बेटा' (1992, निर्देशक : इंद्रा कुमार) ने, जिसमें सौतेली मां अरुणा ईरानी के हर आदेश का अंधानुकरण करने वाला बेटा अनिल कपूर मां की लगाई-बुझाई में आकर पत्नी माधुरी दीक्षित पर हाथ उठा लेता है। बाद में जब उसके सामने यह राज़ खुलता है कि मां जायदाद के लिए उसका खून

तक करने को तैयार है, तो वह मां से कहता है, 'मां तुमको यह सब करने की क्या जरूरत थी? बस मुझे एक बार कह तो दिया होता, मैं खुद ही अपने-आप को खत्म कर देता'। बेटे की इस मासूमियत पर पत्थरदिल मां भी पिघलकर पश्चाताप के आंसुओं से तर हो जाती है। इस फिल्म को मय इसके संगीत के 'धक धक करने लगा' और 'कोयल सी तेरी बोली' बहुत पसंद किया गया।

फिल्मी मांओं की दूसरी श्रेणी वह है, जहां मां फिल्म के केंद्र में तो नहीं होती है, लेकिन कहानी में पेंच वे ही पैदा करती हैं-'प्रोफेसर' (1962, निर्देशक : लेख टंडन) में ललिता पंवार एक खुर्राट मां हैं, जो अपनी भांजियों को सख्त अनुशासन में रखती हैं, जिन्हें पढ़ाने के लिए शम्मी कपूर बूढ़े का वेष धारण कर अपनी बेरोज़गारी दूर करते हैं। संयोग से एक भांजी से तो वे प्यार करते हैं, उन्हें वास्तविक बूढ़ा मानकर ललिता भी 'प्रेम नगर मैं बसाऊंगी घर में' गुनगुनाते हुए प्यार की पींगे बढ़ाने लगती हैं। जब सारा राज खुलता है और वे इस झूठ का कारण पूछती हैं, तो बच्चियां उन्हें ताना देती हैं, 'आप मां नहीं जल्लाद हैं, ज़ल्लाद'। यह बात उनके मन में फांस बनकर चुभ जाती है और वे खुदकुशी के लिए निकल पड़ती हैं। तब सारे बच्चे उन्हें प्रेम से समझाते हैं और बार-बार दोहराते हैं कि 'आप मां हैं मां'। बच्चों की मनुहार से वे पिघल जाती हैं और सख्ती का अंकुश उसी कुएं में फेंक देती हैं।

इसके बरक्स, 'घराना' (1960, निर्माता : जेमिनी) की मां ललिता पंवार खुर्राट तो नहीं हैं, लेकिन चालाक जरूर हैं। वे बेटों राजेंद्र कुमार व राज कुमार की पत्नियों को इसीलिए डांटती-डपटती रहती हैं, ताकि उन्होंने अपने खानदान के लिए जो कथित मानदंड बनाए हैं, उन पर आंच न आने पाए, लेकिन उनकी सख्ती का मुक़ाबला उनके मासूम पोते करते हैं और 'दादी अम्मां दादी अम्मा मान जाओ' गाकर उनके तल्ख चेहरे पर भी मुस्कान लाते हैं। ललिता पंवार की इस सख्त छवि को एक अलग अंदाज में भुनाया गया 'सौ दिन सास के' (1980. निर्देशक : चंदर सदानाह) में। इस फिल्म में सास का दबदबा चलता तो है, लेकिन सिर्फ पति व बड़ी बहू (आशा पारेख) पर। छोटी बहू (रीना राय) उनका हाथ उठने से पहले ही मरोड़ देती है और धीमे-धीमे उनकी सारी बदतमीज़ियों को दूर कर उन्हें सामान्य महिला के स्तर पर ले आती हैं। ललिताजी की इस नकारात्मक छवि को तोड़ते हैं ऋषिकेश मुखर्जी, जो उन्हें दो फिल्मों में मां तो बनाते हैं, लेकिन खुर्राट नहीं ममतामयी। 'अनाड़ी' (1959) की सिस्टर डिसा अनाथ राज कपूर पर सारे जहां का प्रेम बरसाती है। इसी मुंहबोली मां की ममता से द्रवित होकर 'आनंद' में मौत के मुहाने खड़ा राजेश खन्ना कह उठता है, 'मां इतना प्यार करोगी, तो अगले जन्म में सचमुच का बेटा बनकर आ जाऊंगा), जिसे सुनकर मां के संग-संग दर्शक भी भीग जाते हैं। कमोबेश इसी प्रकार की सकारात्मक भूमिका उन्होंने 'पॉकेटमार' (1956, निर्देशक एच एस रवैल) में भी की थीं, जिसमें वे अपने बिगड़ैल जेबकतरे बेटे देव आनंद को बहुत सीधा-सादा समझती थीं। जब मां को बेटे की सच्चाई मालूम होती है, वे दूसरी मंज़िल से छलांग लगा लेती हैं और बेटे के पास पश्चाताप करते हुए सीधे रास्ते पर लौट आने के अलावा कोई चारा नहीं रहता।

मसाला फिल्मों के सफल फिल्मकार मनमोहन देसाई निजी जीवन में मां के प्रति उतने ही समर्पित थे, जितने कि मौजूदा निर्देशकों की खेप में संजय लीला भंसाली। मनजी की फिल्मों में भी मां कहानी की मुख्य धारा में मौजूद रहती हैं। सतहत्तर में एक के बाद उनकी चार हिट फिल्में 'धर्मवीर', 'चाचा भतीजा', 'अमर अकबर एंथनी' और 'परवरिश' आई थीं। इनमें से 'अमर अकबर एंथनी' को छोड़कर (जिसमें मां की भूमिका निरूपा राय ने निभाई थी, शेष तीनों फिल्मों में मां का किरदार इंद्राणी मुखर्जी ने निभाया था इंद्राणी मुखर्जी 'आखिरी खत' (1966, निर्देशक : चेतन आनंद) जैसी छिटपुट फिल्मों में नायिका का रोल निभाकर बहुत जल्द रजतपट से फैड आउट हो गई थीं, लेकिन मनजी की फिल्मों से उन्होंने अभिनय की दूसरी पारी आरंभ की और कहना न होगा कि इसमें वे काफी सफल भी हुईं। खोया-पाया के फॉर्मुले पर बनी ये तमाम फिल्में मां से ही शुरु होती हैं और मां पर ही खत्म। 'धर्मवीर' में धर्मेंद्र उनके नाजायज पुत्र बने हैं, लेकिन जब वे उनसे 'रानी मां से भी ममता मुझको मिल जाए थोड़ी' की अपील करते हैं, तो महारानी अपना सारा अहं छोड़कर बेटे को गले लगा लेती हैं। 'चाचा भतीजा' में वे अपने किशोर देवर को बेटे जैसा प्यार करती है। घर छोड़कर चला गया देवर पंद्रह साल बाद उन्हें गाजर के हलवे से पहचान लेता है। 'परवरिश' में वे अपने सौतेले बेटे अमिताभ की उसी तरह परवरिश करती हैं जैसे बकौल शम्मी कपूर के 'यशोदा के यहां किशन पला था'। दूसरी ओर अपने समय के तीन सबसे सफल नायक, तीन नायिकाओं, तीन कव्वालियों और तरह खलनायकों से भरी 'अमर अकबर एंथनी' में सारे पात्रों व घटनाओं को समेटने का काम मां ही करती है। बरसों के बिछुड़े तीनों बेटे जब पहली बार मिलते हैं, तो यह जगह अस्पताल होती है, जहां तीनों बेटे एक दूसरे से अंजान होकर मां को अपना खून देते हैं। इसी बात को प्रभावी बनाने के लिए पार्श्व में गीत बजता है, 'ये सच है कोई कहानी नहीं, खून-खून होता है पानी नहीं'। मनजी ने 'कुली' (1983) में वहीदा रहमान को मां बनाया, जिसे हज पर भेजने और उसके ईलाज के लिए बेटा इक़बाल (अमिताभ बच्चन) गुर्दा दान करने को तैयार हो जाता है।

मनोज कुमार की फिल्मों में देशभक्ति के साथ-साथ मातृभक्ति को भी प्रमुखता दी जाती रही है। उनकी पसंदीदा मां हैं कामिनी कौशल। 'उपकार' (1967) में वे अपने सौतेले बेटे मनोज को सगे बेटे प्रेम चोपड़ा के मुकाबले कहीं ज्यादा प्यार करती हैं, तो 'पूरब और पश्चिम' (1970) में अपने देशभक्त पति की शहादत पर अपनी मांग से सिंदूर हटाने के लिए इंकार करते हुए कहती हैं, 'देशभक्त कभी मरते नहीं अमर हो जाया करते हैं'। इसी फिल्म में दूसरी मां निरुपा राय हैं, जो अपने पति के देशद्रोही निकलने पर उसके जीतेजी अपनी मांग से सिंदुर पोंछ लेती हैं और कहती हैं, 'यह सिंदूर मेरे पति के देशद्रोह की निशानी है'। इस फिल्म को मां की स्पष्टवादिता और हिम्मत के प्रतीक के रूप में देखा जाना चाहिए।

तीसरी श्रेणी में हमारी बंबइया फिल्मों की हाशिये पर खड़ी वे मांएं हैं, जो 'मेरे लाल तूने मेरा दूध पिया है', 'बेटा मेरे लिए एक अच्छी सी बहू ला दे' या 'भूल जा उस लड़की को, वह हमारे खानदान की बहू बनने लायक नहीं है', 'यही है वो, जिसने तेरी मां का सुहाग उजाड़ा था' सरीखे घिसे-पिटे जुमले छोड़ती रहती है। फार्मूलों की इस आटाचक्की में निरूपा राय, कामिनी कौशल से लेकर इंद्राणी मुखर्जी, कुमुद छुगानी तक तमाम चरित्र अभिनेत्रियों को पिसना पड़ा है। अलबत्ता दो अन्य मांओं का ज़िक्र करना यहां गैर-मौजूं न होगा। एक तो दीना पाठक और दूसरी रीमा लागू। दीना पाठक मां के चरित्र को विश्वसनीयता प्रदान करने के साथ-साथ बौद्धिकता का पुट भी देती हैं। 'चितचोर' (1975, निर्देशक : बासु चटर्जी) में जिस ओवरसीयर अमोल पालेकर को इंजीनियर मानकर वे उसे अपने भावी दामाद के रूप में देखते हुए वे उसकी जितने मन से आवभगत करती हैं, उतनी ही उपेक्षा से वे उसकी ओर तब देखने लगती हैं, जब उन्हें यह पता चलता है कि यह सब तो

गलतफ़हमी थी। मां के इन परस्पर द्रुध्रवीय आयामों को वे अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के जरिए विश्वसनीयता प्रदान करती हैं। उनका 'गोलमाल' (1979, निर्देशक : ऋषिकेश मुखर्जी) में भी बड़ा रोचक किरदार है, जिसमें वे अपने मुंहबोले बच्चों को मुसीबत से बचाने के लिए घर के पिछवाड़े की खिड़की से कूद कर दाख़िल होती हैं। दीना यदि आधुनिक मां हैं, तो रीमा उत्तर आधुनिक। वे रंगबिरंगे कपड़े, गाढ़े मेकअप और गायन-वादन-नृत्य समेत तमाम कलाओं में निपुणता बताते हुए सलमान खान की ग्लैमरस मां के रूप में जानी जाती हैं-रीमा के साथ दिक्कत यह है कि वे मां के रूप में जीवन की नाटकीयताओं, विडंबनाओं और कठिनाइयों की बात नहीं करती बल्कि प्रौढ़ उम्र के दर्शकों के मन में मांसल सौंदर्य के भीतर झांकने की जिज्ञासाओं को शांत करती नज़र आती हैं। जहां तक मुख्य धारा के सिनेमा में स्त्री के बहन वाले रूप का प्रश्न है, इसके बारे में जितना कम कहा जाए उतना ही ठीक है, क्योंकि उनकी भूमिकाएं महज खानापूर्ति ही रही हैं। नाज़िमा, नाज़, फरीदा जलाल, कुमुद छुगानी और किरण वैराले जैसी तमाम फिल्मी बहनों की बहुत कम भूमिका होती थी।

सिनेमा स्त्री के व्यक्तित्व के सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू 'मां' को वाजिब तवज्जोह देता रहा है। तीन दशक पहले जब प्रकाश मेहरा की 'ज्वालामुखी' बॉक्स ऑफिस पर बुरी तरह धराशायी हो गई थी तो उनके प्रतिद्वंद्वी फिल्मकार मनमोहन देसाई ने यह तल्ख़ टिप्पणी की थी कि जिस देश में मां को पूजा जाता है, वहां बेटा मां को ज़माने भर के सामने ललकारते हुए 'ये चेहरे पे चेहरा लगाओगी कब तक ज़माने से खुद को छुपाओगी कब तक' कहे, तो उस बात को आम दर्शक कैसे पचा सकता है?

स्त्री की विविध छटाओं को संवेदनशीलता के साथ उकेरने वाले इन तमाम उदाहरणों में से तीन का ज़िक्र करना ज़रूरी हो जाता है, एक तो फिल्म 'अमर प्रेम' (1972) में शर्मिला टैगोर, दूसरा 'आंधी' (1975) में सुचित्रा सेन और तीसरा 'भाभी' (1987) में पंढरीबाई। 'अमर प्रेम' फिल्म हमें ले चलती है प्रेम के विविध स्वरूपों की हरेक बाज़ी हारने वाली एक स्त्री पुष्पा (शर्मिला टैगोर) की दुनिया में, जिसके उदार और उदात्त मन का प्याला पति, प्रेमी, मां, भाई सभी के सामने लबालब भरा रहता है, लेकिन जिसे लेने को कोई तैयार नहीं। लेने को भी और देने को भी। उसे प्रेम मिलता है तो एक मासूम से बच्चे नंदू से, जो उसकी तेज़ाब सी त्रासद ज़िंदगी में ताज़ी हवा का झोंका ले आता है। वह दुलार से उसे सुनाती है-

बड़ा नटखट है रे किशन कन्हैया

का करे यशोदा मैया ...

नंदू पर नेह बरसने का उसे एक-दो साल का मौका मिलता है, लेकिन इस नेह की भीनी-भीनी स्मृति में वह अपनी तमाम उम्र काट लेती है। जीवन की सांझ में जब एक बार फिर नंदू से उसकी भेंट होती है, तो वह उसे अपने साथ ले चलने की ज़िद करते हुए कहता है, 'कितना बड़ा संयोग है, आज दुर्गा पूजा का दिन है। आज के दिन यदि मैं इस देवी को आशीर्वाद देने के लिए अपने घर न ले चलूंगा तो फिर कब ले जा सकूंगा'। नंदू पुष्पा को साइकिल-रिक्शे में अपने साथ बिठाता है और डा. आनंद (पुष्पा के शुभचिंतक की भूमिका में राजेश खन्ना) जिनका 'आई हेट टियर्स' तकिया कलाम था, अपने आंसुओं को छलकने देने के लिए विवश हो जाते हैं।

महान साहित्यकार कमलेश्वर के उपन्यास 'काली आंधी' पर बनी गुलज़ार निर्देशित 'आंधी' की नायिका आरती देवी अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के चलते बसी-बसायी गृहस्थी छोड़ कर चली जाती है। वह दस साल तक समाज को भी इस बात से बेख़बर रखती है कि वह शादी-शुदा है। लेकिन वह पति के पास लौटने को तैयार हो जाती है। उसके राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी उसे बदनाम करने लगते हैं। वह ऐन चुनाव से पहले विशाल सभा को संबोधित करते हुए कहती है। मैं आपकी अदालत में आई हूं। माफ़ी मांगने नहीं आई हूं। यह कहने आई हूं कि पिछले दस सालों से जो मैं आपके बीच रही हूं, जो आपकी सेवा की है, उसके लिए मैंने बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। ये जो व्यक्ति सामने खड़े हैं, ये मेरे पति हैं। हमारी ग्यारह साल की बेटी भी है। मैं दस साल से अपनी बेटी से भी नहीं मिली हूं। मैं आज अपने पति, अपनी बेटी के पास जाना चाहती हूं। मैं आपसे हाथ जोड़ कर गुज़ारिश करूंगी कि मुझे वोट न दीजिएगा। यदि हो सके, तो आशीर्वाद दीजिएगा।

सारा पांडाल आरती देवी की जयजयकार से गूंज उठता है। दो दिन बाद मतगणना शुरू होती है। रेडियो में ख़बर आनी शुरू हो जाती है। आरती रेडियो बंद कर देती है। लेकिन जेके 'आरती के पति की भूमिका में संजीव कुमार) रेडियो ऑन कर देता है। जनता आरती देवी को सैंतालीस हज़ार से भी अधिक मतों से जिताती है। जेके उसे खुशी-खुशी दिल्ली की ओर रवाना करने हैलिपैड पर आता है। वह जेके के चरण स्पर्श करने के लिए झुकती है, जेके उसे सीने से लगाकर कहता है, मैं तुम्हें हारते हुए नहीं देखना चाहता। जनता ने तुम्हें एक बड़े काम के लिए चुना है। जाओ और जल्द लौटकर आना।

'भाभी' संयुक्त परिवार को थामकर चलनेवाली नारी के जीवट को प्रस्तुत करती है। दरअसल संयुक्त परिवार के फ़लसफ़े में इतने दांव-पेंच हैं कि इसके अधिकांश सदस्यों का जीवन तनाव, खिंचाव, तानों और तनातनियों का इस्तेमाल करने, उनका प्रतिकार करने और इनके लिए वाजिब बैक-अप तैयार करने में ही निकल जाता है। सच तो यह है कि संयुक्त परिवार में रहना, तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है, ज़रा-सा संतुलन डगमगाया, तो सारा जीवन लड़खड़ाया। संयुक्त परिवार ऐसे ही लोगों से चलता है। भाभी घर पर आए हर संकटवार का मीठी मुस्कान से सामना करती है। भाभी को विलक्षण अभिनेत्री पंढरीबाई ने अपनी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति और पानीदार चेहरे से जीवंत कर दिया है। उनकी मौजूदगी दर्शकों पर ऐसी अमिट छाप छोड़ती है कि फिल्म ख़त्म होते-होते हर युवा दर्शक के मन से यही चाह निकलती है कि भाभी हो तो ऐसी।

'उसकी रोटी' और 'सद्गति' जैसी फिल्मों में नारी के जीवन की जटिलताओं को सूक्ष्मता से रेखांकित किया गया है, लेकिन कहना न होगा कि मुख्यधारा के सिनेमा ने भी अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद नारी जीवन के कृष्ण और शुक्ल, दोनों ही पक्षों का गहन संवेदनशीलता के साथ चित्रण किया है और इसके लिए इसे सराहा जाना चाहिए। ❑

संपर्क : 37/801, एनआरआई कॉम्प्लेक्स, सी-वूड्स एस्टेट, नेरुल, नवी मुंबई-400706

दिल्ली में कथक क्रांति : विविध आयाम

पं. विजयशंकर मिश्र

'सम' (सोसायटी फॉर एक्शन थ्रू म्यूजिक) तथा लोक कला मंच द्वारा आयोजित दो-दिवसीय संगीत नायक पं. दरगाही मिश्र स्मृति कथक परिसंवाद लोक कला मंच सभागार में अत्यंत भव्यता के साथ संपन्न हुआ। विषय था-'दिल्ली में कथक क्रांति : विविध आयाम'। अध्यक्षता पद्मविभूषण पं. बिरजू महाराज ने की, तो उद्घाटन संगीत नाटक अकादमी की उपाध्यक्ष शांता सर्वजीत सिंह, हेमा रामास्वामी और पद्मश्री सुमित्रा गुहा ने। इस अवसर पर प्रो. तृप्ति वाटवे (अगरतला) की पुस्तक 'न्यू डाईमेंसंस ऑफ इंडियन म्यूज़िक' तथा डा. जया शर्मा की पुस्तक 'पं. भातखंडे के ग्रंथों का संगीत शिक्षण में योगदान' का लोकार्पण भी हुआ।

कार्यक्रम का शुभारंभ पं. अजयशंकर मिश्र और गुरु संगीता लहरी श्रीवास्तव के निर्देशन में सार्थक भट्ट, अमिताभ गर्ग, देवश्री श्रीवास्तव, धरा सोनी, महक गोयल, दिया बैध, मानस कुलकर्णी, वानी सेठी एवं कंदर्प गुप्ता द्वारा प्रस्तुत सरस्वती वंदना से हुआ। तबला संगति सुभाषकांति दास ने किया। इस अवसर पर पं. रवींद्र मिश्र ने कथक नृत्य के क्षेत्र में मीडिया की भूमिका पर अपना विचारोत्तेजक पत्र पढ़ा जिस पर खुलकर बहस हुई। विदुषी शाश्वती सेन ने कथक नृत्य के विकास में पं. बिरजू महाराज के योगदान पर प्रकाश डाला, जबकि स्वयं पं. बिरजू महाराज ने भूली-बिसरी यादों को ताज़ा किया। निशा महाजन ने नृत्य और योग के अंतरसंबंधों को रेखांकित करते हुए कहा कि योग शरीर को सुरमय बनाता है। जानकी प्रसाद घराने की नृत्यांगिनी नलिनी (कमलिनी) ने महाराज कृष्ण कुमार और जितेंद्र महाराज के योगदानों पर प्रकाश डाला तो स्वयं गुरु जितेंद्र महाराज ने घुंघरू प्रधान बोलों की प्रधानता और कथक नृत्य की सात्विकता को रेखांकित किया। पहले दिन का कार्यक्रम गुरु रक्षा सिंह डेविड के भावपूर्ण कथक नृत्य के साथ संपन्न हुआ। तबले पर उदयशंकर मिश्र, गायन पर दिव्यदर्शन जोशी, सारंगी पर अनिल मिश्रा और पढ़ंत पर नंदिनी शर्मा ने उनका अच्छा साथ दिया।

परिसंवाद के दूसरे दिन शांभवी शुक्ला ने जयपुर घराने के महान् गुरुओं पर बोलते हुए कथक के पौरुष तत्व पर बल दिया। शिखा खरे ने शंभु महाराज, लच्छू महाराज, बिरजू महाराज, कुमुदिनी लखिया और अदिति मंगलदास की दिल्ली में रचित नृत्य संरचना पर प्रकाश डाला। प्रेरणा श्रीमाली ने दिल्ली के कथक नृत्य के विशेष सौंदर्य तत्वों पर प्रकाश डालते हुए कथक केंद्र की भूमिका को रेखांकित किया। उर्मिला नागर ने अतीत के पन्नों को पलटते हुए अपनी परंपरा की कुछ रचनाएं भी सुनाई। अरिंदम् दासगुप्ता ने दिल्ली में कथक नृत्य की शिक्षा देने वाली संस्थाओं पर प्रकाश डाला तो पं. गोविंद चक्रवर्ती ने तबला संगति के गुणों पर। इस भव्य कार्यक्रम का भव्य समापन लंदन से पधारे गुरु अभयशंकर मिश्र के सम्मोहक कथक नृत्य से हुआ। तबले पर योगेश गंगानी, पखावज पर महावीर गंगानी, बांसुरी और सरोद पर राकेश प्रसन्ना तथा पढ़ंत पर काकोलि और अभिनव शंकर मिश्र ने उनका साथ दिया। कार्यक्रमों का संचालन नंदिनी शर्मा और अस्मिता मिश्र ने किया।



कथक की मनमोहक मुद्रा में अभयशंकर मिश्र

बाबा अलाउद्दीन खां म्यूजिक फाउंडेशन द्वारा आयोजित संगीत संध्या का शुभारंभ वंदना कंसल के सरस्वती वंदना से हुआ। इसके बाद बंगलौर से पधारी छंदश्री राय ने मधुवंती में अपना भावपूर्ण गायन पेश किया। झपताल में निबद्ध मान भले जाए और द्रुत तीनताल में 'कारी मान करूं' और 'बेगुन को गुन दीजे दाता' में उन्होंने पुराने ज़माने की विस्मृत होती टकसाली गायकी पेश कर लोगों का दिल जीत लिया। अपनी भावपूर्ण भजनों के लिए भी ये खूब प्रशंसित हुईं।

गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा द्वारा संचालित वसंतोत्सव में सुबीर मलिक का प्रभावशाली गायन खूब पसंद किया गया। सुबीर मलिक ने इस शाम को पूर्वी के सुरीले रंगों से सजाया। उनके आलाप और तान दोनों पर ध्रुवपद का प्रभाव दिखता है। तान कप्तान बंदिश भी खूब पसंद की गई। तबले पर सतीश कुमार मिश्र और हारमोनियम पर देवेंद्र कुमार वर्मा की संगति काफी सहयोग पूर्ण रही। देवाशीष पाठक ने अपने एकल पखावज वादन द्वारा अपनी उज्ज्वल प्रतिभा का परिचय दिया। उनकी फरमाईशी, कमाली और मोती लड़ी परनें खूब प्रशंसित हुईं।

म्यूज़िक फाउंडेशन द्वारा आयोजित वसंतोत्सव में पं. अरुण देवनाथ का प्रभावशाली गायन संपन्न हुआ। इन्होंने राग जयजयवंती की सुमधुर अवतारणा की। विलंबित रचना रूपक और द्रुत तीनताल में निबद्य थी। अरुण देवनाथ का तान पक्ष काफी सबल है। मिहिर नट्टा ने इनकी प्रभावशाली तबला संगति की। ❑

कविताएं : **अशांत भोला**

नम कविता

जब कोई लड़की
होती है उदास
धूप का चेहरा
उतर जाता है
बादलों से घिर जाता है
आकाश
थम जाती है
हवाओं में घुली खुशबू
सर्द पड़ जाता है मौसम
गीले हो उठते हैं
शब्द
कंपकंपाने लगते हैं
अभिव्यक्ति के होंठ
तिलमिला उठती है
संवेदना की रूह
इर्द-गिर्द फैल जाता है
दर्द का समंदर
कराह उठता है
क़लम का कलेजा
और
बेजान कोरे काग़ज़ पर
जन्म लेती है
एक मुकम्मल
नम कविता
सबसे उदास
लड़की की मानिन्द।

संपर्क : ग्राम, पो. पानापुर (वाया-मंझौल), जिला-बेगूसराय (बिहार)

लड़की

आख़िर, क्यों लिखती है
कोई लड़की
कविता,
महज़ सवाल नहीं
वक्त की उछाल है
शांत दरिया का उबाल है
ज़रूर कहीं न कहीं से
जन्म लेता एक बवाल है
मशाल है
जो धीरे-धीरे सुलग रही है
लौ उगल रही है
अंधेरे के विरुद्ध उबल रही है,
क्या यह काफ़ी नहीं
नाज़ुक हाथों में
मशाल का थामना
जलना
खुद का तपना
सोचता हूं
कम ख़तरनाक नहीं होता
मासूम आंखों में
आग के सपनों का
तैरना।

जब-जब

....
सूखी है उफनती नदी
लगा है
रोई है कोई लड़की,

जब-जब
मद्धिम पड़ी है चांदनी
लगा है
ठेस खाई है कोई लड़की

जब-जब
फनफनाई है नागफनी
लगा है
कंटीले तारों से
घिरी है लड़की

जब-जब
उठा है धुआं
लगा है
आग के हवाले हुई है लड़की

बेटी

मां
खेत
पिता
किसान
मन
खलिहान और
बीज-सी अंकुराती बेटी
लहलहाती फ़सल होती है,
मौसम के साथ जब पकने लगती है फ़सल
खेत की हरियाली
सूखने लगती है
उचट जाती है
किसान की आंखों की नींद
फ़सल की रखवाली की चिंता में
खलिहान चौकन्ना हो उठता है
और
रूई के फाहे-सी मुलायम
सियानी बेटी
अन्न के पके दानों के
बोझ की मानिंद
पत्थर से भी अधिक
वज़नी हो जाती है।

औरत

प्रेम में
शांत, निश्चल, तरल
नदी बन जाती है औरत
उदासी में
प्यासी नदी
बन जाती है औरत
अकेलेपन में
बहती नदी
बन जाती है औरत
और क्रोध में
उफनती नदी
बन जाती है औरत!

समीक्षा

देश-विदेश की स्त्रियों की आवाज़

संजीव ठाकुर

हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका नासिरा शर्मा की यह किताब दुनिया के कई देशों की औरतों की आवाज़ सुनाने का काम तो करती ही है, खुद नासिरा जी की आवाज़ को भी सुनाने का काम करती है। तीन खंडों में बंटी इस किताब का पहला खंड जहां देशी-विदेशी कई महिलाओं का नासिरा जी द्वारा लिया गया साक्षात्कार पढ़ने का मौक़ा देता है वहीं दूसरा खंड लेख के रूप में समय-समय पर लिखे गए नासिरा जी के विचारों को पढ़ने का। तीसरा खंड विभिन्न लेखकों और पत्रकारों के द्वारा नासिरा जी के लिए गए साक्षात्कारों को पढ़ने का मौका देता है। तीनों खंडों के केंद्र में मुख्यतः स्त्री ही है। देश-विदेश की स्त्रियों की दशा इस किताब में झांकती दिखाई देती है। हिंदुस्तान के अलावा पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, सीरिया, रूस, जापान, फिलिस्तीन, साइप्रस, इस्रायल, मिस्र, टर्की, मलेशिया, केन्या आदि देशों की लेखिका, पत्रकार, समाज-सेवी, गायिका, राजनयिक आदि से साक्षात्कार का मौका नासिरा जी को मिला और उन्होंने उन स्त्रियों के बहाने उन देशों की स्त्रियों की दशा और दुर्दशा का कच्चा-चिट्ठा प्रस्तुत कर दिया। देशी-विदेशी स्त्रियों के इन साक्षात्कारों को पढ़कर यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि आम तौर पर हर जगह स्त्रियों की स्थिति एक ही है। हालांकि भारत जैसे देश में आकर ईरानी गायिका शीरिन जैसी आज़ादी महसूस करती हैं, उसे देखकर लगता है कि भारत में अनेक देशों की अपेक्षा औरतें अधिक आज़ाद हैं। अपने देश और भारत में स्त्रियों की तुलना करते हुए शीरिन कहती हैं-"खुदा लाख कहे कि उसके लिए सारे बंदे बराबर हैं, औरत-मर्द में कोई फ़र्क नहीं मगर जब दुनियावी खुदा इस बात को समझे तब न! यहां (हिंदुस्तान में) जिस आज़ादी से बालों की चोटी बांधकर सिर खुला रखती हूं, टॉप और पैंट पहनकर घूमती हूं, वहां ऐसा नहीं कर सकती हूं।" (पृ. 67) यहां तो शीरिन आज़ादी से गा भी सकती हैं!

स्त्रियों को कैसी आज़ादी चाहिए? कितनी आज़ादी चाहिए? इस बात पर अलग-अलग लोगों के अलग-अलग मत हैं। बाज़ार जहां स्त्रियों को देह की आज़ादी दिलाकर अपना फायदा करने के पक्ष में है, वहीं कई बुद्धिजीवी स्त्रियां इसके ख़िलाफ़ हैं। स्वयं नासिरा शर्मा ने 'आंख का पानी मर चुका है' लेख में लिखा है-"पहले ढके-छिपे हुस्न की अहमियत थी मगर अब खुदा के बनाए जिस्म की नुमाइश ही सब-कुछ है।" (पृ. 233)

बाज़ार के साथ ही कुछ स्त्री-विमर्शकार स्त्रियों को 'देह की आज़ादी' दिलाना चाहते हैं। बहुत सी स्त्रियां भी इस झांसे में पड़कर फिल्म, टी.वी. और विज्ञापनों में इस आज़ादी का उपभोग करने में लगी हैं। पाकिस्तान की नारीवादी कवयित्री किश्वर नाहीद आज़ादी के इस आशय से इत्तेफ़ाक नहीं रखतीं। नासिरा जी से बात करते हुए उन्होंने कहा है-"आज़ादी का मतलब यह नहीं होता कि यदि एक मर्द पांच औरतों के पीछे जाता है तो एक औरत भी पांच मर्दों के पीछे जाए। जो चीज़ मर्द के लिए बुरी है वो औरत के लिए भी है।" (पृ. 25) हिंदी में नवें दशक के अंत में जो स्त्री-विमर्श शुरू हुआ, उसमें पुरुषों की सात पीढ़ियों को गलियाने के साथ-साथ प्रकृति प्रदत्त स्त्रीत्व को भी गलियाने का काम खूब किया गया। नासिरा जी ऐसी स्त्री-विमर्शकार नहीं रहीं। उनके लिए स्त्री का स्त्रीत्व बहुत मायने रखता है। बग़दाद की स्त्रियों की हालत को देखकर उन्होंने लिखा है-"औरत का सुख सिर्फ आज़ादी में भी नहीं है। औरत रचना का नाम है, खुदा के बाद सृजनात्मक शक्ति उसी के पास है, तोड़-फोड़ करके भी वह संतुष्ट नहीं रह पाती हैं।" (पृ.183) हिंदी ही नहीं, दुनिया के तमाम देशों में स्त्री-विमर्श की दो धाराएं बहती रही हैं। एक धारा तोड़-फोड़कर संपूर्ण आज़ादी चाहती है तो दूसरी धारा पुरुष के सह-अस्तित्व में अपनी आज़ादी चाहती है। नासिरा जी इस दूसरी धारा की विमर्शकार हैं। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा है-"मेरा अपना ख़याल है कि औरत-मर्द इंसान के दो रूप हैं। इनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। औरत-मर्द के संबंध इसीलिए कड़वे हो जाते हैं कि वे एक-दूसरे को बराबर समझ प्यार और सम्मान नहीं दे पाते हैं। या तो डरते हैं या फिर हुकूमत करते हैं।" (पृ. 292) इसी तरह की बात उन्होंने अपने एक लेख में भी कही है-"बुरा सिर्फ़ मर्द नहीं है, बल्कि मर्द तो खुद कई जगह शोषित हैं, इसलिए उनसे भिड़ने की तन्हा कोशिश की जगह हमख़याल मर्दों का साथ लेकर समाज के बोसीदा और तंग नज़र वालों के साथ लड़ना कहीं बेहतर है। यह बेहतरी आने वाली पीढ़ी के लिए होगी, जो जरूरी है।" (185) इराक की महिला जमात की पहली अध्यक्ष मनाल यूनुस अब्दुल रज़्ज़ाक भी कुछ इसी तरह की बात नासिरा जी से कहती हैं-"हमारा संघर्ष कहीं पर भी मर्द के विरोध में नहीं जाता। न मर्द हमारा शत्रु है बल्कि मर्द को साथ लेकर हमें रूढ़िवादिता से युद्ध करना है।" (पृ. 70) टर्की की पत्रकार नबीला तुर्क तो इससे भी बढ़कर बात करती हैं। उनके लिए 'वीमन राइट्स' से अधिक 'ह्यूमन राइट्स' का महत्त्व है-"मैं 'वीमन राइट्स' पर विश्वास नहीं रखती हूं बल्कि मेरे लिए 'ह्यूमन राइट्स' महत्त्वपूर्ण है, उसी पर मेरा यक़ीन है।" (पृ. 113)

इस तरह इस किताब में यह देखा जा सकता है कि दुनिया के अलग-अलग देशों की स्त्रियां, स्त्रियों के अधिकार, उनकी स्वतंत्रता, उनकी बराबरी की हिमायती तो जरूर हैं लेकिन इसके लिए वे तोड़-फोड़ का रास्ता अख़्तियार करना नहीं चाहतीं बल्कि पुरुषों को साथ लेकर ही चलना चाहती हैं।

नासिरा शर्मा की इस किताब को केवल स्त्री-विमर्श के कोण से ही नहीं पढ़ा जाना चाहिए। इस किताब को पढ़कर देश-दुनिया की अन्य बातों का पता भी चल जाता है। अलग-अलग देशों की संस्कृति, सामाजिक-राजनीतिक स्थिति आदि की जानकारी भी इस किताब से मिल जाती है। नासिरा शर्मा से लिए गए साक्षात्कारों के द्वारा नासिरा जी के व्यक्तिगत जीवन, उनके साहित्य, उनकी रचना-प्रक्रिया, देश-दुनिया के प्रति उनके विचार वग़ैरह की जानकारी भी मिल जाती है।

औरत की आवाज़

लेखिका : नासिरा शर्मा, प्रकाशक : इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्णानगर, दिल्ली-51, पृष्ठ : 440, मूल्य : 695 रुपये।

संपर्क : एस.एफ. 22, सिद्ध विनायक अपार्टमेंट, अभयखंड-3, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201010

घुटन, बेचैनी और छटपटाहट की कहानियां

शकुंतला कालरा

भारतीय साहित्य में कथा-साहित्य की अत्यंत प्राचीन परंपरा रही है। आधुनिक युग तक आते-आते कथा-साहित्य का जो विकास हुआ है उसमें महिला कथाकारों की महती भूमिका है। निर्मला सिंह हिंदी कथा-जगत की जानी-पहचानी लेखिका हैं। सामाजिकता और सोद्देश्यता निर्मला जी की कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं। समकालीन जीवन की पराजय, घुटन और निराशा को उन्होंने पूर्ण संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है अपने कहानी-संग्रह 'तबादला' में। संग्रह में कुल ग्यारह कहानियां हैं।

प्रथम कहानी 'काश' का कथा नायक अंशुल माता-पिता के पक्षपातपूर्ण व्यवहार से पीड़ित रहता है। माता-पिता का छोटे भाई क्षितिज के प्रति अतिरिक्त स्नेह, उदारता उसे भीतर तक तोड़ देती है। वह पराजित अनुभव करता है और सपरिवार यू.के. चला जाता है, किंतु माता-पिता के प्रति क्षोभ और आक्रोश मिश्रित वितृष्णा से भरी उन कड़वी यादों से कभी मुक्त नहीं हो पाता। मां की बीमारी और अंतिम समय को देखते हुए वापस देश आता है। मां उसके वियोग में रुग्ण देह मात्र शेष रह गई हैं जो अपने पुत्र से माफ़ी मांगने के लिए ही ज़िंदा है। तुमसे माफ़ी मांगने के लिए ही ज़िंदा हूं ... कहते-कहते चिरनिद्रा में शांत होकर सो जाती है। छोटा भाई क्षितिज अंकुश से मां को मुखाग्नि देने के लिए कहता है क्योंकि यही मां की अंतिम इच्छा थी तो अंकुश फूट-फूटकर रोते हुए बड़बड़ाता है-'काश! मां, तू पहले यह सब मुझे बता देती।'

'काश' कहानी में जहां पराजय और निराशा हैं वहां 'चिराग़ जल उठे' की कहानी में 'सान्वी' पराजय और हताशा से दूर है।

निर्मला जी की कहानियों में व्यक्तिगत नैतिकता की स्थापना का सशक्त स्वर उभरकर सामने आता है। भारतीय संस्कृति त्याग और समर्पण की संस्कृति है। यही दो भाव व्यक्तिगत अहं को गलाते हैं, अन्यथा पति-पत्नी के अहं की टकराहट परिवार को विशृंखलित कर देती है। बच्चे डरे-डरे सहमे से रहते हैं। उनका आत्मविश्वास खंडित हो जाता है और व्यक्तित्व कुंठित। लंदन में बसे पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित 'स्वर्गिक सुख' के भारतीय पति-पत्नी रामेश्वर और रीता का अहं दोनों के मध्य गहरी खाई बनता जाता है जो आए दिन छोटी-छोटी बातों को लेकर विकराल झगड़े का रूप लेता रहा है जहां एक-दूसरे के लिए असम्मानजनक शब्दों का खुलकर आदान-प्रदान होता है।

कहानी 'रीता और राकेश' पुरानी रूढ़ियों पर प्रहार करती है। आज की सर्वाधिक विकृत समस्या है 'आनर किलिंग' यानी जाति से इतर विवाह संबंधों को न स्वीकारने की। दो भिन्न जातियों के इस कहानी के नायक-नायिका परस्पर प्रेम करते हैं किंतु माता-पिता एवं समाज की संकीर्ण मनोवृत्ति उन्हें शादी के बंधन में बंधने की इजाज़त नहीं देती। दोनों प्रेम और परिवार की समस्या में घिरे हैं पर चुनाव प्रेम का करते हैं। परिवार की आबरू का अंकुश छिन्न-भिन्न हो जाता है। समय की अपनी एक विशिष्ट मांग होती है।

आज की पीढ़ी पुराने मूल्यों से थोड़ी चलायमान तो होती है, किंतु विचलित नहीं। शीघ्र ही मनोनुकूल निर्णय लेना यही आज की युवा पीढ़ी का यथार्थ है, किंतु यह भी उतना बड़ा सत्य है कि सभी का प्रेम, विवाह के बंधन में नहीं बंध पाता या तो प्रेमी युगल आत्महत्या कर लेते हैं या झूठी इज़्ज़त के दावेदार संबंधियों द्वारा मार दिए जाते हैं।

निर्मला सिंह के कहानी-संग्रह 'तबादला' में परिस्थितियों से जूझते, अंतर्द्वंद्व में फंसे पात्रों के विविध रंग हैं। 'बेचैनी' का रंग सर्वाधिक गहरा है। व्यापक सरोकारों वाली इन कहानियों से गुज़रना एक सुखद अनुभव है। हर कहानी का अपना रंग है। वर्तमान समाज की अव्यवस्था की बख़िया 'उधेड़ती' शीर्षक कहानी 'तबादला' है। 'पल्लवी' व्यक्ति नहीं उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जहां हालात के हाथों व्यक्ति को समर्पण करना पड़ता है। अपने-आप से वह कहती है-''पल्लवी तू कुछ नहीं कर सकती हम सब सच्चे ईमानदार लोग मजबूर हैं ... विवश हैं।''

'प्रतिकार' निम्न वर्ग के एक शोषित बालक की कहानी है जो झूठे आरोप में थाने में बंद कर दिया जाता है। किसी स्त्री की ऊंचाइयों तक पहुंचने की महत्वाकांक्षा के लिए अपने सतीत्व का सौदा करना कैसे पूरे समाज को दूषित करता है, इसको दिखाया है 'टूटती धाराएं' कहानी में।

जहां तक कहानियों के शिल्प की बात है, वे सभी कहानी तत्व से युक्त हैं। भाषा यथास्थान यथावसर सरल, सहज, व्यंग्यपूर्ण, अलंकृत, मुहावरेदार, कवित्वमयी है। उपमानों की भरमार है लेकिन उसमें नवीनता और ताज़गी है। अंग्रेज़ी शब्दों की प्रमुखता है। इसका प्रमुख कारण है, अधिकांश कहानियां विदेश में बसे भारतीय परिवारों की कहानियां हैं। पात्रानुसार एवं आवश्यकतानुसार अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों के प्रयोग ने भाषा को सशक्त एवं भावशाली बनाया है।

ये कहानियां लेखिका के देश-विदेश के अनुभवों के ताने-बाने में बंधी और बुनी कहानियां हैं जो पात्रों की आंतरिक बेचैनी और छटपटाहट को अभिव्यक्ति देती हैं।

तबादला (कहानी-संग्रह)
लेखिका : निर्मला सिंह, प्रकाशक : नमन प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ : 114 सजिल्द, मूल्य : 200 रुपये। ❑

संपर्क : एन डी-57, पीतमपुरा, दिल्ली-110034

दो कविताएं : **नीलिमा सिन्हा**

अलू-सुबह

अच्छा लगता है धीरे-धीरे जागता शहर !

अच्छी लगती है
घास पर शांत पड़ी
अलसाई-सी ओस की बूंद,
मीठी-मीठी खुशबू बिखेरते हरसिंगार के नन्हे फूल
शांत वृक्षों को पक्षियों के लिए इंतज़ार करते देखना
अच्छा लगता है !

अच्छी लगती है
समूह से अलग
अपनी उड़ान को पंख देती चिड़िया
अच्छी लगती है
बंद दरवाज़े का ताला खोलती औरत

अच्छा लगता है
दिन की रौशनी से आंख मिलाने की कोशिश में
अपनी नन्ही हथेलियों से आंखें मलता बच्चा,
अच्छा लगता है
चांद के पूरी तरह डूब जाने से पहले
दिन भर चमकने की तैयारी करता
नया-नवेला सूरज

अच्छा लगता है धीरे-धीरे जागता शहर !

बाहर-भीतर

जी चाहता है कविताएं लिखूं
....डरती हूं, कोई देख न ले मेरे भीतर की यह दुनिया

मेरी इस दुनिया का बाहरी दुनिया से कोई जोड़ नहीं है
न ही मेरी यह दुनिया बाहरी दुनिया की कोई काट है
मेरी यह दुनिया, बस, एक तसल्ली है मेरे लिए
जो मुझे मिली है ज़िंदगी से ख़ैरात में,
ताकि मैं ज़िंदगी का सम्मान कर सकूं
और उस दुनिया का भी
जिसे पता नहीं किसने और क्यों रचा है ?
....जिस दुनिया में जीना और रहना
मेरी चाही-अनचाही मजबूरी है

मेरी इस दुनिया में
बाहरी दुनिया के बरअक्स कोई वर्तमान नहीं है
हां! है अतीत का एक गहरा कुआं
जहां से सागर-मंथन की तरह
विष-अमृत सब निकलते हैं
पर सागर हर बार रहता है, यूं ही अबूझ-सा
अपनी लहरों, अपने उफानों में बंधा
जो सब कुछ अंततः
उस खारे समुद्र का हिस्सा ही होता है

यहां है बाहरी दुनिया के बरअक्स ताल ठोंकता-सा
एक भविष्य, साफ़-सुथरी धौली उम्मीदों से भरा
और है एक नन्हीं-सी बच्ची
दो नन्हीं चोटियों में रिबन के सफ़ेद फूल लगाए
यह बच्ची दौड़ती हुई अतीत के अंधे कुएं से निकलती है
लक्ष्मी की तरह सुंदर, चंचला और ऐश्वर्यशालिनी
मुसलसल पीछा करती है उम्मीदों का
... और पीछा करती रहती है...

मुझे कोई शिकायत नहीं है इस बाहरी दुनिया से
क्योंकि अंततः यह दुनिया मेरी भी है
एक धूल-कण के बराबर ही सही
इसे रचने में मेरा भी योगदान है
मैं भी शामिल हूं इस दुनिया में, ठीक-ठीक औरों की तरह
अपनी तमाम जद्दोजहद और पसंद-नापसंद के बावजूद भी, साथ भी

मेरी यह भीतरी दुनिया
तुमने ही बख़्शी है मुझे, मेरी ज़िंदगी
फिर भी मेरी यह दुनिया
मेरी नितांत अपनी है, सर्वथा निजि !
उस ज़िंदगी की तरह नहीं
जिसमें तमाम दूसरे भी शामिल हैं
और जो शर्तों के तहत बसर की जाती है।

संपर्क : दर्शनशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया-824 234 (बिहार)

डाक तार पंजीयन सं. डीएल (एस)–05/3222/2012–14 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस U (DN)49/2012-1

Postal Regn. No. DL(S)-05/3222/2012-14 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Licenced U (DN) 49/2012-14 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57

वार्षिक मूल्य : ₹100.00



प्रकाशक व मुद्रक : ईरा जोशी, अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग के लिए अरिहंत ऑफसेट, नई दिल्ली–110058 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003 से प्रकाशित।

वरिष्ठ संपादक : राजेन्द्र भट्ट, संपादक : फरहत परवीन